



: BOOK MADE AVAILABLE FOR DIGITIZATION BY :

BRAHMVARCHAS SHODH SANSTHAN
SHANTIKUNJ, HARIDWAR, INDIA

: OUR MAIN CENTERS :

Shantikunj, Haridwar,
Uttaranchal, India – 249411
Phone no : 91-1334- 260602,
Website : www.awgp.org
E-mail : shantikunj@awgp.org

Gayatri Tapobhumi,
Mathura, U.P., India – 281003
Phone no : 91-0565-2530128,
Website : www.awgp.org
E-mail : yugnirman@awgp.org



: BOOK DIGITIZED BY :

Vicharkranti Pustakalay, Thana-Faliya, Dindoligam, Surat-394210, Gujarat, India
E-mail: vicharkranti.awgp@gmail.com | Website : www.vicharkrantibooks.org

* ॐ *

गीता—कथा

—:~::~:—

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

www.vicharkrantibooks.org



—:~::~:—

प्रकाशक :

अखण्ड-ज्योति संस्थान,

मथुरा ।

—:~::~:—

तृतीय बार]

१९७१ ई०

[मूल्य ६ रुपया



प्रकाशक :

श्रीराम शर्मा आचार्य

अखण्ड-ज्योति संस्थान,

मथुरा ।

✽

संस्करण :

तृतीयबार १९७१

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

✽

मुद्रक :

श्रीभगवान बंसल

बंसल प्रिंटिंग प्रेस,

मथुरा ।

*

मूल्य :

६) रुपया

ॐ

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org





विषय-सूची

विषय	पृष्ठसंख्या
१. प्रथम प्रवचन ... भगवान् का अवतरण और उद्देश्य	१७
२. दूसरा प्रवचन ... पुरुषार्थ और संघर्ष	७३
३. तीसरा प्रवचन ... दुर्गुणों से सर्वनाश	११०
४. चौथा प्रवचन ... सद्गुणों के सत्परिणाम	१५१
५. पाँचवाँ प्रवचन ... यज्ञमय जीवन जियें	२०१
६. छठवाँ प्रवचन ... ज्ञान और विवेक की आवश्यकता	२४५
७. सातवाँ प्रवचन ... समता और सम्यक् दर्शन	२६३
८. आठवाँ प्रवचन ... अपना उद्धार आप करें	३२६
९. नवम प्रवचन ... सब में एक ही आत्मा को देखना	३७१
१०. दसवाँ प्रवचन ... विराट्-ब्रह्म-प्राणीमात्र में एक आत्मा	४०६
११. ग्यारहवाँ प्रवचन ... मानसिक सन्तुलन, संयमी जीवन	४३५
१२. बारहवाँ प्रवचन ... ज्ञान और कर्म का समन्वय	४६२

—*—



गीता-कथा और उसका स्वरूप



गीता यों एक छोटी पुस्तक है। महाभारत के ७०० श्लोकों का एक संकलन मात्र है, पर मानव-जीवन की समस्याओं को सुलझाने का उसे एक अनुपम हल ही कहना चाहिए। समस्त धर्मशास्त्रों का वह निचोड़ है। ज्ञान और विज्ञान का उमे अथाह समुद्र कहा जा सकता है, उसमें सब कुछ है। लोग अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार इसमें से सब कुछ ढूँढ़ सकते हैं और सब कुछ पा सकते हैं। समस्त विश्व के विचारकों ने इसकी महत्ता स्वीकार की है। यही कारण है कि बाइबिल के बाद केवल गीता ही ऐसी पुस्तक है, जिसका अनुवाद विश्व की समस्त जीवित भाषाओं में हुआ है और भारत की तरह उसे संसार भर में समान रूप से सम्मान प्राप्त हुआ है।

गीता का सम्बल लेकर भारत पिछले १०० वर्षों से तेजी से अपने आत्मबल को बढ़ाता चला आ रहा है। विदेशी दासता का जुआ उतार फेंकने के लिये आकुल भारतीय आत्मा को जितनी प्रेरणा गीता ने दी है, उतनी और किसी ने नहीं दी। उसे पढ़ने, सुनने और मनन करने के बाद भारत के लाखों सपूतों ने जीवन की नश्वरता और कर्त्तव्य की महत्ता को पहचाना और अपने तन, मन, धन को मातृ-भूमि का गौरव बढ़ाने के निमित्त उत्सर्ग करने को तत्पर हो गये।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के शूरवीर सैनिक गीता को छाती से चिपकाये हुए फांसी के तख्तों पर उछलते हुए चढ़े। योगी अरविन्द ने गीता के माध्यम से नई पीढ़ी को त्याग और बलिदान के लिये प्रोत्साहित किया। वज्राल से लेकर सारे भारतवर्ष में फैले हुए क्रान्तिकारी



सङ्गठनों की प्रेरणा का स्रोत ही गीता बनी रही। अरविन्द घोष द्वारा वह तत्त्वज्ञान जिसके भी अन्तःकरण में उतार दिया गया वे फोलाद जैसे पक्के और मजबूत हो गये। स्वतन्त्रता संग्राम का दूसरा दौर लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में जन-आन्दोलन के रूप में सामने आया। उन्होंने राष्ट्रीय जागरण के एक महान् सम्बन्ध के रूप में 'गीता रहस्य' लिखा। कर्मयोग का मार्ग अपनाने के लिये भारतीय शौर्य को ललकारा। तिलक ने राष्ट्रीय जागरण के लिये बहुत कुछ किया। इस कर्तव्य के पीछे उनकी गीता का अपरिमित योगदान रहा है।)

(महात्मा गाँधी ने उस अमर-ज्योति को जलाये रखा और सत्याग्रह आन्दोलन चला। उस यज्ञ की अग्नि को प्रज्ज्वलित करने में गीता अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती रही। गाँधीजी की दैनिक प्रार्थना में गीता को प्रमुख स्थान प्राप्त था। उन्होंने उस महान् धर्म ग्रन्थ का अनुवाद भी किया और टिप्पणियाँ भी लगाईं। 'अनासक्ति योग' के नाम से प्रकाशित यह अनुवाद उन दिनों प्रत्येक सत्याग्रही के हाथ में रहता था। जेल में हर सत्याग्रही एक गीता भी अपने साथ जरूर ले जाता था।)

कहते हैं कि अंग्रेजी सरकार को गुप्तचर विभाग ने सूचना दी कि गीता ने स्वराज्य की आग भड़काई है तो एक बार गीता को पकड़ने के लिए वारंट जारी कर दिया गया। पीछे जब यह पता चला कि गीता कोई मनुष्य नहीं वरन् पुस्तक है, तब वह वारंट रद्द करना पड़ा।

नव-निर्माण के लिये गीता की उपयोगिता—

राष्ट्रीय उत्कर्ष का एक रोल समाप्त हुआ। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करली गई। बाह्य दृष्टि से उनका श्रेय किसी राजनैतिक पार्टियों को या व्यक्तियों को मिल सकता है पर उसका आध्यात्मिक श्रेय गीता को प्राप्त है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।



(अब हमें आगे बढ़ना है । दूसरे कदम उठाने हैं । राजनैतिक स्वतन्त्रता से हमें केवल अपने भाग्य को बनाने और बिगाड़ने का अधिकार मिला है । विदेशी शासन के जुये के नीचे जुते हुए हम पराधीन पशु की तरह थे, जिसमें न हमें, अपना भाग्य बनाने की आजादी थी न बिगाड़ने की । पर अब स्थिति बदल गई है । स्वराज्य प्राप्त कर अब हम उस स्थिति में आ गये हैं कि चाहे तो अपना भविष्य उज्ज्वल एवं आशा-जनक बनावें और चाहे तो उसे बिगाड़कर अन्धकारमय भी बना लें । वास्तविकता यह है कि अभी तो आत्म-निर्माण के मार्ग में जो बाधा थी वह हटी, पुनरुत्थान का कार्य तो हमें अब करना होगा । करने का समय तो अब आया है । राजनीतिक स्वाधीनता ने इसके लिये पथ प्रशस्त मात्र किया है । मार्ग की अड़चनमात्र को हटाया है ।)

पिछले अन्धकारमय दिनों में हमने बहुत कुछ खोया है । विदेशी गुलामी के दिनों में हमें अपार क्षति उठानी पड़ी है । उन हानियों में सबसे बड़ी क्षति मानसिक और नैतिक स्थिति गिरने की है । किसी समाज के यही दो आधारस्तम्भ होते हैं । इन्हीं पर उसकी स्थिति, उन्नति एवं अवनति निर्भर रहती है । हम इन दोनों ही क्षेत्रों में कितने पिछड़े, इसकी चर्चा करने मात्र से किसी भी भावनाशील अन्तःकरण में पीड़ा उठ पड़ती है । हमें बौद्धिक भ्रम-जंजालों ने इतना अधिक घेर रक्खा है कि सही तरीके से सोच सकना भी हमारे लिये कठिन हो रहा है । भाग्यवाद एवं परावलम्बन की कुत्सित वृत्तियाँ जन-साधारण के मन में घर किये बैठी हैं । अपनी अवनति का कारण वे भाग्य, ईश्वर, समय या ग्रह नक्षत्रों को मानते हैं और कोई अवतार प्रकट होकर उनके दुःख दूर करेगा यह आशा लगाये बैठे रहते हैं । आलस्य और अकर्मण्यता के कारण ४७ करोड़ की आबादी का हमारा देश अपने पुरुषार्थ से जो कर सकता था उसका सौवां भाग भी नहीं कर पा रहा है ।)

अध्यात्म एवं धर्म का उद्देश्य मनुष्य को उज्ज्वल-चरित्र एवं



लोकसेवी बनाना था। उसके स्थान पर उनने मामूली से कर्मकाण्ड करने पर बड़े से बड़े पापों से छुटकारा मिलने की बात कहकर मनमाने पाप करने की छूट दे दी है। कर्त्तव्य पालन की तत्परता धर्म का रूप न रहकर अमुक क्रिया-काण्डों की चिह्न पूजा ही धार्मिकता की प्रतीक बन बैठी है। अध्यात्म का प्रकाश मिलने पर व्यक्ति को अधिक परमार्थी एवं लोक-सेवी बनना चाहिए था, वह बिलकुल उलटा हो गया। लोग एकाकीपन पसन्द करने लगे व्यक्तिवादी बन गये। संसार को माया एवं मिथ्या कहने लगे और समाज की स्थिति क्या है? इसकी ओर से उपेक्षा करके व्यक्तिगत स्वर्ग-मुक्ति या ऋद्धि-सिद्धि के गोरख धन्धे में उलझ गये। ५६ लाख व्यक्ति भारत में ऐसे हैं जो अध्यात्म के नाम पर आजीविका उपाजित करते हैं और जनता के लिये एक अतिरिक्त भार बने बैठे हैं। यदि हमारे अध्यात्म का स्वरूप सही रहा होता तो इतने लोग राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में संलग्न होकर समाज की स्थिति को कितनी अधिक समुन्नत बना सकते थे ?)

सामाजिक कुरीतियों का तो कहना ही क्या है। विवाह-शादियों के नाम पर होने वाले अपव्यय ने हिन्दू-जाति की आर्थिक कमर ही तोड़ दी है और हर औसत हिन्दू को लालची, कंजूस, स्वार्थी एवं अनीति-युक्त कमाई करने के लिये विवश किया है। मृत्युभोज जैसी उपहासास्पद प्रथाएँ हमारे यहाँ मौजूद हैं। देवी-देवताओं और भूत-पलीतों का जो स्वरूप सामने प्रस्तुत है, उससे भोली जनता का कितना शोषण होता है और इस भ्रम-जंजाल से कितने सन्डे-मुसण्डे गुलछर्रे उड़ाते हैं वह हमारे पिछड़ेपन का एक करुण चित्र है।

सामूहिकता का महत्त्व भूलकर हम व्यक्तिवादी बन गए। संकीर्ण स्वार्थ से ऊँचा उठकर दूर की बात सोचने की क्षमता कितने लोगों में कितनी मात्रा में रह गई है इसे हम रोज ही देख सकते हैं। व्यक्तिवाद के कारण स्वार्थ बढ़ा है, और स्वार्थपरता ने अनीति एवं



अपराधों की वृद्धि की है। अनैतिक कार्यों के प्रति तीव्र घृणा हमारे मन में कहाँ रही है ? उसके स्थान पर हुष्रवृत्तियों को अपनाने और उनसे समझौता करने में लाभ समझा जाने लगा है। जन-मानस की धाराएँ इसी दिशा में चलती रहीं तो हमारा उत्थान होना तो दूर दिन-दिन पतन ही होता चला जायगा।)

इन विपन्न परिस्थितियों से हमें लड़ना ही होगा। राष्ट्र का पुनरुत्थान होना ही चाहिये। हमें अपने अतीत जैसे महान् गौरव प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही चाहिए। और संसार जिस तेजी से आगे बढ़ रहा है, उसे देखते हुए पिछड़ जाने का जोखिम उठाने से इन्कार कर ही देना चाहिए। यह कार्य बाह्य उपकरणों से नहीं, अन्तः चेतना का विकास एवं परिष्कार होने से ही सम्भव होगा। हमें राष्ट्र की आत्मा जगानी पड़ेगी। जन-साधारण के सोचने का ढङ्ग सुधारना होगा और उसे रचनात्मक कर्त्तव्यों से संलग्न होने की प्रेरणा देनी होगी। प्रत्येक विचारशील एवम् देशभक्त भारतीय के लिये आज की परिस्थितियों में सबसे श्रेष्ठ, सबसे आवश्यक कर्त्तव्य यही बन गया है कि वह अपना एवम् अपने परिवार का, अपने समाज का बौद्धिक एवं नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिये सामर्थ्य भर प्रयत्न करे। उत्थान का यही सच्चा आधार हो सकता है।)

धर्म तन्त्र के माध्यम से जन-जागरण—

आर्थिक उत्कर्ष के लिये सरकारी और गैर सरकारी योजनायें चल रही हैं, उन्हें चलना ही चाहिए। देश में धन बढ़े यह आवश्यक है। पर इससे भी आवश्यक यह है कि लोगों की भावनायें और क्रियायें आदर्शवाद की ओर अग्रसर बनें। अन्यथा गिरी हुई मानसिक एवं चारित्रिक स्थिति रहने पर बड़ा हुआ धन और उलटे उपद्रव उत्पन्न करेगा। लोग उसका दुरुपयोग करेंगे और अपेक्षाकृत जल्दी विनाश की ओर



अग्रसर होंगे। इसलिये आर्थिक प्रयासों से भी अधिक ध्यान हमें राष्ट्र के बौद्धिक एवं चारित्रिक उत्कर्षों की ओर देना चाहिये।

(यह कार्य राजतन्त्र के द्वारा सम्भव नहीं, इसे तो धर्मतन्त्र द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। सरकारी कर्मचारियों की वह नैतिक स्थिति नहीं होती कि वे जन-साधारण के अन्तःकरण में प्रवेश कर उनकी दिशा परिवर्तन कर सकें। आस्थाओं का बदलना और पलटना धर्म का काम है, उसकी रचना ही इस प्रयोजन के लिये हुई है। अस्तु बौद्धिक और नैतिक क्रान्ति का उत्तरदायित्व स्वभावतः धर्मतन्त्र के ऊपर जा पड़ता है। विशेषतया भारत जैसे धर्मभीरु एवं ग्रामीण क्षेत्र में बिखरे हुए अशिक्षित देश के लिये तो इस प्रयोजन के लिये धर्मतन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति की, राजनैतिक क्रान्ति के बाद अनिवार्य आवश्यकता है। उसकी पूर्ति धर्मतन्त्र को करनी चाहिए। धर्मतन्त्र के कन्धे पर अगणित समस्याएँ पहले से ही मौजूद हैं उसे उन्हें सुलझाने देना चाहिए।

बौद्धिक एवं नैतिक क्रान्ति की वास्तविक जिम्मेदारी धार्मिक क्षेत्र की है। उसे वह उत्तरदायित्व उठाना ही चाहिये। प्रसन्नता की बात है कि जहाँ धर्म क्षेत्र में अपना उल्लू सीधा करने वालों का बाहुल्य है, वहाँ ऐसे भी कुछ लोग हैं जो अपनी जिम्मेदारियों को समझने और संभालने के लिये उन्मुख हो रहे हैं। ऐसे लोगों की एक कार्यपद्धति का नाम “युग-निर्माण योजना” है। अखण्ड-ज्योति परिवार के सदस्यों ने उसे आरम्भ किया है, पर उसका कार्यक्षेत्र समस्त भारत—समस्त विश्व है।

गीता के माध्यम से हम जन-जागरण की आवश्यकता पूर्ति पर बहुत विश्वास करते हैं। अतएव यह सोचा गया है कि राष्ट्र की बौद्धिक एवं नैतिक क्रान्ति के लिये गीता के माध्यम से माँह ग्रस्त अर्जुन की तरह अवसाद में डूबे हुए समाज को कर्तव्य-प्रथ पर अग्रसर होने के लिये नव-निर्माण का पाँचजन्य वजाने और प्रगति के गाँडीव पर प्रत्यन्चा



चढ़ाने के लिये तत्पर किया जाय । हमारा विश्वास है कि गीता में वह क्षमता समुचित रूप से विद्यमान है । राजनैतिक स्वतन्त्रता संग्राम में वह अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर चुकी है । बौद्धिक एवं नैतिक क्रान्ति के लिये उसका योगदान अद्वितीय रह सकना सुनिश्चित है ।)

गीता-कथा की शैली और प्रणाली—

(प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में आरम्भ किया गया एक विनम्र प्रयास है । श्रीमद्भागवत् के सप्ताहों का प्रचलन हमारे देश में बहुत समय से है । सात दिनों में भागवत का पाठ करने एवं उसके विशिष्ट स्थलों पर प्रवचन होने वाला धर्मानुष्ठान कई शताब्दियों से प्रचलित है । यह एक उत्तम शैली है । कथा बालकों से लेकर वृद्धों तक को पसन्द होती है । उनके आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचना अधिक सुगम होता है । विचारपूर्ण भाषणों एवं गवेषणापूर्ण निबन्धों की अपेक्षा कथा और सज्जीत वाले माध्यम सदा से लोकप्रिय रहे हैं । साधारण जनता तक विचारों का पहुँचाया जाना इन्हीं माध्यमों से सम्भव है । यही कारण है कि प्राचीनकाल में अठारह पुराण, अठारह उपपुराण आदि बने और आज भी पुस्तकों की बिक्री में तीन चौथाई कथा साहित्य ही होता है । धर्म-प्रचार के लिये भी यही माध्यम सरल पड़ता है । इसलिये पुराणों की कथायें कहने-सुनने का प्रचलन हमारे देश में बहुत समय से रहा है । भागवत् सप्ताह की शैली इस दृष्टि से एक सुधरी हुई और व्यवस्थित पद्धति मानी जा सकती है ।)

उसी शैली का अनुसरण करते हुए गीता-सप्ताहों का कार्यक्रम “युग-निर्माण योजना” के अन्तर्गत निर्धारित किया गया है । सात दिन में गीता पारायण तथा गीता के विशिष्ट श्लोकों की व्याख्या करने का क्रम रहा करेगा । पारायण के लिये राधेश्याम तर्ज पर गीता का पद्यानुवाद अलग से छपा है । उसका वाद्य-यन्त्रों के साथ उपस्थित नर-नारी सामूहिक रूप में गायन करेंगे । प्रतिदिन दो-दो, ढाई-ढाई घण्टा और



प्रातः-सायं यह कार्यक्रम रखा जाना चाहिए। जिसमें सङ्गीतयुक्त पारायण का कार्यक्रम आधे घण्टे से लेकर एक घण्टे तक और कथा-प्रवचन का कार्यक्रम एक-डेढ़ घण्टा तक रहना चाहिए। कथा की व्यास गद्दी सुन्दर, आकर्षक हो, जो बोकर या गमले आदि से व्यास गद्दी के आस-पास हरियाली उगाई गई हो, चौकियों पर कलश, दीप, धूपबत्ती, देवस्थापन आदि सुसज्जित रहे। पल्लव, पुष्पों से आदर्श वाक्यों एवम् चित्रों से प्रवचन-स्थल सुसज्जित रहे, ऐसी व्यवस्था करना भी धर्मानुष्ठान के लिये आवश्यक होता है, ऐसा ही प्रबन्ध गीता सप्ताहों के लिये भी करना चाहिये। कथा का समय ऐसा रखना चाहिये जिसमें लोगों को सुविधा हो। प्रातःकाल काम पर जाने से पूर्व ९-१० बजे तक और शाम को काम से छूटने पर ६ व ७ बजे के बाद का समय उपयुक्त रह सकता है। प्रयत्न करना चाहिये कि सुनने वाले अधिक संख्या में उपस्थित हों। इसके लिये घर-घर जाकर बुलावा देना आवश्यक है। इसका प्रबन्ध जहाँ कहीं भी हो जाता है, वहाँ अच्छी उपस्थिति रहना स्वाभाविक है। प्रथम दिन पूजन, स्वस्तिवाचन, वरण आदि की तथा अन्तिम दिन गायत्री हवन, सामूहिक रूप से यज्ञोपवीत, मुण्डन आदि संस्कार एवं कन्या भोज की व्यवस्था रहे। कथा, आरती पर जो चढ़ावा आवे वह कथा-व्यवस्था समिति के पास जमा हो और प्रवचन कर्त्ता को जो दक्षिणा दी जाय उसे समिति दे। इस मँहगाई के जमाने में सुयोग्य प्रवचन कर्त्ता को ५०) तो मिलने ही चाहिए। इस प्रकार उसकी गुजर का प्रबन्ध हो जाने से उत्साहपूर्वक कार्य भी करता रहेगा और उसे तथा कथासमिति को निश्चिन्तता भी रहेगी। गीता सप्ताह वस्तुतः एक युग-निर्माण शिविर के रूप में कार्य करेंगे। जिसमें उपस्थित जनता को केवल कथा प्रसङ्ग ही न सुनाये जायेंगे वरन् उन्हें आगे क्या करना है यह भी सुझाया जायगा, आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण एवं समाज-निर्माण के आवश्यक कार्यक्रमों की प्रेरणायें भी कथा प्रसंगों के बीच ही सुनने वालों को मिलती रहनी चाहिए।



(इस पुस्तक में १२ प्रवचन हैं । गीता के १२ श्लोकों की व्याख्या है । ७ दिन में १४ बैठकें होंगी इसमें से प्रथम दिन का आधा भाग भूमिका के लिये एवं आधा उपसंहार के लिये रखा गया है । शेष १२ में प्रवचन होते हैं । अतएव १२ श्लोक ही पर्याप्त समझे गये हैं । प्रत्येक श्लोक के साथ-साथ उसमें सन्निहित आदर्श की भावना हृदयंगम कराने वाली अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक, कथाएँ तथा दृष्टान्त जुड़े हुए हैं । श्लोक, दोहे तथा रामायण की चौपाइयाँ परिशिष्ट के रूप में दी गई हैं । यह सब सामग्री कथा-वाचक की सुविधा के लिये एक स्थान पर एकत्रित कर दी गई है और यह अपेक्षा की गई है कि कथा वाचक इतना व्युत्पन्नमति होगा कि सामने उपस्थित जनता के अनुरूप उस प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कथा कहने की अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर लेगा ।)

(किस कथा को किस रूप में कहा जाय, उनमें से कौन-सी कथा छोड़ दी जाय या किसे प्रमुखता दी जाय, कौन-सा श्लोक, दोहा या रामायण प्रसंग कहां फिट किया जाय ? यह निर्णय करना कथा-वाचक पर छोड़ा गया है । उसे वह अध्याय भली प्रकार पढ़-समझ और याद कर लेना चाहिये ताकि पुस्तक का अक्षर-अक्षर पढ़ने की अपेक्षा उससे यदा-कदा ही सहायता लेने की आवश्यकता पड़े और अधिकांश भाग कंठस्थ ज्ञान के आधार पर ही प्रस्तुत किया जा सके ।)

(कथा-वाचकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि युग-निर्माण की शतसूत्री योजनाओं में सन्निहित कार्यक्रमों को जहाँ अवसर हो जनता को सुझाते रहना चाहिये और प्रयत्न यह करना चाहिये कि वे कथाओं के साथ-साथ उन कार्यक्रमों को अपनाने की भी प्रेरणा प्राप्त करें जो राष्ट्र के नव-निर्माण के लिये अभीष्ट एवम् आवश्यक हैं ।)

पाठकों के सुझाव अपेक्षित—

(पुस्तक तैयार होते-होते कितने ही लोगों ने यह माँग की है कि एक सी शैली में कथा कही जा सके, इसलिये कथाओं के साथ श्लोक



दोहे, रामायण प्रसंग 'फिट' करते हुए पुस्तक ऐसी बने कि कथावाचक को अपनी सूझ-बूझ प्रयुक्त न करनी पड़े, वरन् कथा को ज्यों की त्यों पढ़ते चला जाय तो भी काम चल सके और साधारण समझ का वक्ता भी पुस्तक पढ़ देने मात्र से कथा का प्रयोजन सिद्ध कर सके। ऐसा भी हो तो सकता है। पर फिर एक बार कथा सुन लेने के बाद उसमें अगली बार नवीनता की कोई गुंजायश न रहेगी और अलग-अलग वक्ता अपनी अमौलिकता का समावेश न कर सकेंगे अतएव वह ज्यों-ज्यों पुरानी पड़ेगी त्यों-त्यों नीरस एवं अरुचिकर होती चली जायगी। इसी कठिनाई को ध्यान में रखकर प्रवचन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाकर इस संस्करण में काम चला लिया गया है। यदि ऐसी माँग हुई कि निर्धारित कथायें पूर्णतया निश्चित रहें और उनकी भाषा, सम्वाद, सुभाषित आदि यथा-स्थान निर्धारित रहें तो अगले संस्करण में वैसा भी कर दिया जायगा। अभी इस संस्करण के आधार पर प्रवचन करने वालों की सम्मति की प्रतीक्षा की जायगी और प्राप्त सुझावों पर यदि आवश्यक प्रतीत हुआ तो ऐसी शैली का विकास कर दिया जायगा, जिसे पढ़कर सुना देने मात्र से काम चल जाय और वक्ता को कुछ भी श्रम न करना पड़े। अभी इस संस्करण में तो जैसा कुछ है उसी से काम चलाना चाहिये।)

हमारा विश्वास है कि गीता के माध्यम से जन-जागरण की इस शैली का धार्मिक जगत् में समुचित स्वागत होगा। बौद्धिक एवं नैतिक क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव करने वाले विचारशील लोग धर्मानुष्ठान युक्त इन साप्ताहिक शिविरों की आवश्यकता अनुभव करेंगे और अपने-अपने यहाँ इसके लिए यथोचित प्रबन्ध करेंगे। इस आधार पर इतने बड़े देश में हजारों लोक-सेवकों को आजीविका मिल सकती है और वे नव-निर्माण के कार्य में निरन्तर लगे रह सकते हैं। सौ, दो सौ रुपये इकट्ठे करके एक छोटा-सा साप्ताहिक गीता धर्मानुष्ठान आसानी से किया जा सकता है तो उसकी व्यवस्था में बड़ी कठिनाई नहीं होनी चाहिए।



जब कि धर्म के नाम पर निरर्थक हा-हा, हू हू में हजारों रुपये बात की बात में इकट्ठे करना और खर्च करना कठिन नहीं होता तो विचारशील लोगों के लिये ऐसे छोटे आयोजनों में कोई विशेष कठिनाई क्यों होगी ? इस योजना के अनुसार यदि कार्य किया जायगा तो उससे भारतीय राष्ट्र एवं समाज के मानसिक एवं चारित्रिक विकास में आशाजनक योगदान मिलना सुनिश्चित है । जहां सामूहिक आयोजनों के रूप में यह प्रयोग न हो सके वहां भी, घर-घर में पारिवारिक प्रशिक्षण के रूप में, अथवा साप्ताहिक सत्संगों के रूप में यह कथाएं पढ़ी जानी चाहिए ।

(राष्ट्र के नव-निर्माण में हमारा यह विनम्र प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा ऐसी आशा है ।)

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

श्रीराम शर्मा आचार्य





गीता-कथा

प्रथम प्रवचन

महाभारत का अष्टमोदक अध्याय और ३६

घृतराष्ट्र-उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥

अध्याय १ श्लोक १ ।

घृतराष्ट्रजी ने कहा, हे सञ्जय धर्म भूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित मेरे और ऐसे ही पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

गीता के प्रथम श्लोक में जीवन तथा संसार का स्वरूप दर्शाया गया है। महाभारत युद्ध के बहाने जीवन संग्राम का उसमें दिग्दर्शन कराया गया है। इस संसार को धर्म-क्षेत्र कहा गया है क्योंकि उसका धर्म ही सार है। धर्म के आधार पर ही संसार की सुख-समृद्धि सम्भव होती है। इसे कुरुक्षेत्र भी कहा गया है। कुरुक्षेत्र अर्थात् कर्मक्षेत्र। कर्त्तव्यनिष्ठा, पुरुषार्थ, श्रमशीलता एवं उद्योग-परायणता से ही यहाँ किसी को सफलताओं और विभूतियों के रसास्वादन का अवसर मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र है। धर्मनिष्ठा ही मानव-जीवन की सफलता एवं सुख-शान्ति की आधार-शिला है। इसी

प्रकार कर्मशीलता द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माण करता है। धर्म निष्ठा और कर्तव्य-परायणता छोड़ देने के बाद मनुष्य जीवन मृततुल्य हो जाता है, उसमें फिर न कुछ आनन्द रहता है और न उत्कर्ष की सम्भावना ही शेष रह जाती है। इसलिए मनुष्य जीवन भी धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र ही कहा गया है।

समुद्र मंथन की तरह यहाँ सङ्घर्ष ही सार है। दिनभर श्रम करने के बाद रात को जिस तरह गहरी और मीठी नींद आती है उसी तरह संघर्ष का प्रतिफल ही अनेक प्रकार की सुख-सुविधाओं, विभूतियों और सफलताओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। परमात्मा ने प्रत्येक सफलता के मार्ग को कठिनाईयों से भरा बनाया है ताकि उनसे संघर्ष करता हुआ मनुष्य अपनी क्षमता, शक्ति योग्यता एवं प्रतिभा को विकसित कर सके। जीवन का यही स्वरूप है। संघर्ष ही जीवन है और संघर्ष समाप्त होने का नाम ही मृत्यु है। जीव के जन्म-धारण की प्रक्रिया का आरम्भ संघर्ष से होता है, उसे प्रत्येक विभूति की उपलब्धि भी इसी आधार पर होती है।

यह जीवन का संसार सत और तम के सम्मिश्रण से बना है। इन दोनों के मिलन से रज बनता है। सत्-रज-तम यह तीन गुण प्रसिद्ध हैं पर वस्तुतः सत और तम दो ही—रात और दिन की तरह मुख्य हैं। जिस प्रकार रात और दिन का मिलन सध्या कहलाता है उसी प्रकार सत और तम का सम्मिश्रित स्वरूप रज है।

सत को देवी और तम को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। सत का फल सुख और तम का दुःख है। सत को पुण्य-प्रकाश एवं तम को पाप, अज्ञान का अन्धकार कहते हैं। इन दोनों वृत्तियों का संघर्ष इस जीवन या संसार में निरन्तर होता रहता है। जब सत जीतता है, तब प्रकाश एवं सुख बढ़ता है और जब तम की वृद्धि होती है तो नाना प्रकार के शोक सन्ताप उठ खड़े होते हैं। देवता और असुरों का यह सनातन संघर्ष

सृष्टि के आदि से चला आता है। असुर अवसर पाते ही तेजी से पनपते हैं और देव-तत्त्वों के ऊपर आधिपत्य जमा लेते हैं। इस स्थिति में संसार के दुःख बढ़ते हैं। अतएव स्वाभाविक स्थिति लाने के लिए असुर तत्त्वों का दमन करना पड़ता है।

महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व भी है पर गीता में जीवन सङ्घर्ष की समस्या के रूप में ही उसको माध्यम बनाकर एक शाश्वत समस्या को सुलझाया गया है। अन्तःकरण के भीतर जो दैवी और आसुरी शक्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है उसमें विजय प्राप्त करके आत्मा किस प्रकार अपने लक्ष्य को प्राप्त करे इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

मनुष्य जीवन धर्मक्षेत्र है क्योंकि वह धर्म के लिए है। मनुष्य जीवन कुरुक्षेत्र भी है क्योंकि वह कर्म के लिए है। इससे यह दोनों पक्ष एक-दूसरे से विपरीत दिशा में चलने वाले, विपरीत स्वभाव के होने के कारण परस्पर लड़ते भी रहते हैं। इस लड़ाई में यदि आसुरी शक्तियों की विजय होती है तो जीव को नारकीय, दुःख दुर्भाग्य की यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती है और यदि दैवी शक्तियाँ जीतती हैं तो सुख सौभाग्य का सूर्योदय होता है। गीता के प्रथम श्लोक में जीवन की इसी पृष्ठ-भूमि का दिग्दर्शन कराया गया है।

सञ्जय रूपी विवेक से घृतराष्ट्र रूपी अन्धा अज्ञान पूछता है कि “मेरे पुत्र कौरवों ने—कुकर्माँ, कुविचारों ने और पाण्डवों—पुण्य-तत्त्वों युद्ध की इच्छा से एकत्रित होकर क्या किया ? सो बताओ !”

महाभारत के लड़ाई-झगड़े का वर्णन गीता में बहुत कम है। प्रथम अध्याय में सेनाओं के एकत्रित होने, शूरवीरों का नाम गिनाने, दुर्योधन द्वारा सेना का निरीक्षण करने जैसी छोटी बातों का थोड़ा-सा वर्णन है। बाकी तो पूरे अठारह अध्यायों में समग्र अध्यात्म का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि गीताकार का मूल प्रयोजन इस माध्यम से मानव-जीवन की आन्तरिक उलझनों को सुलझाना ही है।

मोहग्रस्त अर्जुन लड़ाई-झगड़े के झंझट से बचना चाहता है । वह शान्त, सरल, सीधी और बिना झंझट की जिन्दगी जीना चाहता है । भगवान् कृष्ण इस आरामतलवी की वृत्ति की कड़े शब्दों में निन्दा करते हैं । संघर्ष से बचने की और चैन से रहने की, इच्छा की, कायरता, नपुंसकता, नारकीय, निन्दनीय, नीच लोगों जैसी, क्षुद्रता, हृदय की दुर्बलता आदि की कटु शब्दों में भर्त्सना की है । और कहा है । कि—

कुतस्तथा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यभकीर्तिकरमर्जुन ॥

हे अर्जुन ! तुमको इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु से प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरण किया गया है, न स्वर्ग को देने वाला है, न कीर्ति को करने वाला है ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

इसलिए हे अर्जुन ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है । हे परंतप ! तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

हे अर्जुन ! तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के से वचनों को कहता है, परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी नहीं शोक करते हैं ।

स्वधर्ममपि चवेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमोदशम् ॥

और हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं ।

अथ चेत्त्वमिमं धैर्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा ।

और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति को
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुषों के लिए ; मरण से भी अधिक बुरी होती है ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथातः ।

येषां च त्वंबहुमतो भूत्वा यास्यसि लाखवम् ॥

और जिनके तू बहुत माननीय होकर भी अब तृच्छता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

और तेरे बैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे, फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ?

**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्य से महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥**

इससे युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है, क्योंकि या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भागेगा, इससे हे अर्जुन ! युद्ध के लिये निश्चय वाला होकर खड़ा हो ।

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥**

यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्य की इच्छा हो तो भी सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर उसके उपरान्त युद्ध के लिए तैयार हो इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा ।

भगवान् ने अर्जुन को जो कठोर वचन कहे हैं वे प्रकारान्तर से उन सब लोगों के लिए हैं जो जीवन संग्राम से डरते हैं, झंझटों से बचना चाहते हैं और यह सोचते हैं कि किसी प्रकार चैन से दिन कटते जाने की गुजर होती चली जाय । ऐसा सम्भव नहीं । यह जीवन या जगत् संघर्षमय है । यदि अवांछनीय तत्त्वों को हटाने के लिए हम कटिबद्ध न होंगे तो वे हमें दुःख, दरिद्र के, पतन और अन्धकार के गतं में धकेले बिना न रहेंगे । इसलिए अच्छा यह है कि हम आगे बढ़कर अपने चारों ओर फैले हुए आसुरी तत्त्वों से संघर्ष करने में जुट जायें । उसने अपनी प्रतिभा का विकास, सफलता की सम्भावना, आत्म सन्तोष, यज्ञ आदि सभी कुछ है । पाप और बुराइयों के सामने शिर झुका देने, उनका प्रतिरोध करने से तो वे दिन दूने और रात चौगुने बढ़ते हैं । फलस्वरूप संघर्ष न करने की भीरुतापूर्ण इच्छा — संघर्ष करने की अपेक्षा कहीं अधिक महंगी दुःखदायक एवं आत्म-घातक सिद्ध होती है । संघर्ष से बचने की

अपेक्षा जब संघर्ष में पड़ना ही लाभदायक है तो उसी को वयों न अपनाया जाय ? प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है । अर्जुन भी गीता ज्ञान के आधार पर उसी निष्कर्ष पर पहुँचा । इस संसार में बाहर और अपने भीतर जो भी दुष्प्रवृत्तियाँ, दुर्बलताएँ, कमियाँ, कुरूपताएँ, विकृतियाँ एवं अनुपयुक्तताएँ फैली हुई हैं उनको हटाने के लिए संघर्ष करना और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्वच्छता, सबलता, धार्मिकता एवं सज्जनता की स्थापना करना आवश्यक है । यही अध्यात्म की पृष्ठभूमि है । प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य का निर्धारण इसी आधार पर करना चाहिए । गीता में भगवान् ने अनेक दृष्टिकोण से जीवन विज्ञान के मार्ग को समझाया है । अठारहों अध्यायों में इस एक ही बात का अनेक तरह से, अनेक संदर्भ प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति को धर्मनिष्ठ, कर्तव्य परायण एवं अनोचित्य के लिए निरन्तर संघर्षशील रहने की प्रेरणा दी गई है ।



धर्म-रक्षा के लिए अवतार

भगवान् ने समय-समय पर अवतार लिये हैं । उनमें से प्रधान दस हैं और कुल मिलाकर उनकी संख्या चौबीस है । इन सब अवतारों का उद्देश्य अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना है । गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने अवतार का यही उद्देश्य बताया है और रामायण आदि अन्य ग्रन्थों में भी विभिन्न अवतारों ने अपने अवतरणों का यही उद्देश्य बताया है । यथा —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

क्योंकि साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म स्थापन करने के लिए, मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ।

बालकाण्ड के अन्तर्गत भगवान् शङ्कर, पार्वती जी को अवतार का कारण समझाते हुए कहते हैं कि—

जब जब होइ धर्म की हानी ॥
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबध शरीरा ।
हरहि कृपा निधि सज्जन पीरा ।

दोहा—असुर मार थापहि सुरन्ह, राखहि निज श्रुति सेतु ’
जग विस्तारहि विसद जस, राम जनम कर हेतु ॥

इसी काण्ड में माँ कौशल्या से तुलसीदास कहते हैं कि—

दोहा—विप्र धेनु सुरसन्तर्हित, लीन मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥

अयोध्याकाण्ड में बाल्मीकि जी भी इसी का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि—

नर तनु धरैहु सन्त सुरकाजा ।
कहेहु करहु जस प्राकृत राजा ॥

प्रत्येक मनुष्य भगवान् की एक-एक कला का अवतार हैं । अन्य अवतार भी अपनी कलाओं के अनुपात से छोटे या बड़े माने गए हैं ।

एक ही समय में भगवान् के कई अवतार भी हुए हैं परशुराम तीन कलाओं के और राम चन्द्रजी बाहर कलाओं के अवतार थे। दोनों एक ही समय में हुए हैं। भगवान् का जितना अधिक तेज, बल एवं प्रकाश जिनमें होता है वे उतनी ही कलाओं के अवतारी माने जाते हैं। प्रत्येक अवतार का—भगवान् की विशेष विभूति सम्पन्न आत्मा का—एक ही जीवन उद्देश्य होता है वह है धर्म की स्थापना—अधर्म का नाश। साधुता का परित्राण, दुष्कृतों का नाश। इसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए भगवान् विभिन्न रूपों में अवतार धारण करते हैं। मनुष्य जीवन का उद्देश्य भी यही है कि वह अपने आन्तरिक तथा बाह्य जगत् में, सत्यं, शिवं, सुन्दरं की स्थापना के लिए अनवरत श्रम करे। जो व्यक्ति इस दिशा में जितना अधिक प्रयत्नशील होगा उसे भगवान् की उतनी ही अधिक विभूतियों तथा किरणों से प्रकाशित माना जायगा।

भगवान् के अवतारों की लीलाओं तथा उनके उद्देश्य प्रयोजनों पर थोड़ा भी विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने आजीवन निर्धारित उद्देश्य के लिए ही कार्य किया। जिस युग में जिस प्रकार की अनीति, मूर्खता, असाधुता, विकृति एवं कुसंपत्ता का बाहुल्य हुआ है उस समय भगवान् ने उसके शमन के लिये परिस्थितियों के अनुरूप अपना सङ्घर्ष क्रम चलाया। आवांछनीय परिस्थितियों को हटाया और उनके स्थान पर औचित्य की—धर्म एवं सज्जनता की प्रतिष्ठापना की।

भगवान् की लीलाओं को सुनने-सुनाने का, कहने-बताने का, पढ़ने का, तथा देखने का जो पुण्य माना गया है उसके पीछे एक ही लाभ छिपा हुआ है कि पढ़ने, सुनने या देखने वाले लोग अवतार के प्रयोजनों को पूरा करने—उनका अनुसरण करने के लिए उत्साह एवं प्रेरणा प्राप्त करें। धर्मयुद्ध के लिए कटिबद्ध रहना यही तो मानवीय श्रेष्ठता है। अध्यात्म का समस्त कलेवर विभिन्न प्रकार से मनुष्य को इसी की प्रेरणा देता है। भीतर छिपी हुई दुर्भावनाओं एवं दुष्प्रवृत्तियों

से लड़कर उन पर विजय प्राप्त करना, जीवन को उत्कृष्ट, आदर्शवादी एवं धर्म-परायण रखना, यही तो व्यक्तिगत जीवन में प्रमुक्त होना—धर्मयुद्ध है। इसी प्रकार अनाचार, अज्ञान, अन्याय आलस्य आदि को परास्त कर संसार में सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने के लिए तीव्र भावनाओं के साथ प्रयत्न करना बाह्य जीवन का धर्म है। प्रत्येक मनुष्य को अर्जुन की तरह धर्म युद्ध में, कर्तव्य संघर्ष में लगा देना गीता का उद्देश्य है भगवान् अपने विभिन्न अवतारों द्वारा संसार को, मानव मात्र को यही प्रेरणा देते हैं। हम भगवद्भक्तों के लिए यह उचित एवं आवश्यक है कि गीता के मर्म को—भगवान् के अवतारों के रहस्य को समझें और तदनुकूल अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करें

① मत्स्य—अवतार

राजा मनु प्रलय के समय सृष्टि को बीज रूप से और सप्त-ऋषियों को बचाये रखने के लिए तपस्या कर रहे थे। वे स्नान के लिए गये तो जलाशय में एक छोटी मछली निकली, उसने मनु से प्रार्थना की—मुझे किसी बड़े जलाशय में पहुँचा दें, जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ। मनु ने उसे वहाँ पहुँचा दिया। मछली वहाँ बड़ी और इतनी बड़ी कि स्थान कम पड़ गया उसने मनु से प्रार्थना की कि मेरी सहायता कीजिए और अन्यत्र कहीं बड़े जलाशय में पहुँचा दीजिए। मनु की करुणा जगी और परोपकारी वृत्ति की प्रेरणा से उसे उठा कर बड़े जलाशय में पहुँचाया। वहाँ भी पूर्व घटना की पुनरावृत्ति हुई और मछली की प्रार्थना पर मनु ने क्रमशः बड़े जलाशयों में पहुँचाते-पहुँचाते अन्त में समुद्र में पहुँचा दिया। मछली ने जब अपने विस्तार से पूरा समुद्र घेर लिया तब मनु ने उसे भगवान् का अवतार समझा, उनकी प्रार्थना की और उससे प्रसन्न होकर मत्स्यावतार ने मनु को अपने दर्शन दिये।

भगवान् का प्रथम अवतार मत्स्यावतार है। श्रेय और सामर्थ्य प्राप्त करने के इच्छुक मनु में भगवान् ने लक्ष्य प्राप्ति के उपाय स्वरूप छोटों पर करुणा करने और परोपकार वृत्ति से उनकी सहायता करने का भाव जागृत किया। यह भावना ही भगवत् प्रेम का, अध्यात्म का मूल है जब, जितनी मात्रा में, जिस मनुष्य में पिछड़े हुआओं के लिए करुणा उत्पन्न हो और उनकी सहायता करने का प्रयत्न बन पड़े तब, वहाँ उतनी ही मात्रा में भगवान् की उपस्थिति मानी जा सकती है। निष्ठुर, स्वार्थी और वैयक्तिक लाभ तक सीमित रहने वाला व्यक्ति ईश्वर विमुख ही माना जायगा, भले ही वह पूजा-पाठ के नाम पर कुछ भी तन्त्र-मन्त्र क्यों न करता रहता हो।

यह करुणा सीमित नहीं रह सकती। सहृदय एवं दयालु व्यक्ति की सेवा भावना निरन्तर बढ़ती है और वह उसी अनुपात से अपने लोकोपयोगी सत्कर्म बढ़ाता चलता है। मत्स्यावतार भगवान् की यही प्रेरणा निरन्तर रहती है। जब मनुष्य “वसुधैव कुटुम्बकम्” की भावना से प्रेरित होकर सब आत्माओं में अपनी आत्मा को देखता है और विराट् ब्रह्म को इस संसार सागर में सर्वत्र भरा-पूरा देखता है तब उस स्थिति को ईश्वर-दर्शन की स्थिति कहा जा सकता है। मनु को ऐसा ही ईश्वर दर्शन मत्स्यावतार की कृपा से हुआ था।

प्रलय के समय मनु ने एक नौका में सृष्टि के बीजों को, तथा सप्त-ऋषियों को बिठा लिया था। नाव को डूबती देखकर भगवान् मत्स्य प्रकट हुए और उन्होंने उसे अपने शरीर में बाँध कर बचाया। संसार सागर में मनुष्य को अन्धकार में धकेल देने वाली, जीवन लक्ष्य का सत्यानाश कर देने वाली, पाप प्रलोभनों की आँधियाँ आती हैं, उनके कुचक्र में फँस जाने पर जीवन-नौका डूब ही जाती है और पतन रूपी प्रलय में सर्वनाश का मुँह देखना पड़ता है। ऐसे अवसर पर भगवान् उसकी नाव को पार लगाते हैं, जो अपनी पात्रता को सहृदयता और



परोपकार की कसौटी पर खरा सिद्ध कर चुका है। जिस प्रकार मत्स्य ने मनु की नाव को प्रलय काल में बचाया उसी प्रकार सद्गुण रूपी ऋषियों में युक्त भक्त की जीवन-नौका को भी भगवान् अपने शरीर में, सींग बाँधकर पार कर देते हैं।

मत्स्य पुराण की कथा है की एक बार हयग्रीव वेदों को चुरा ले गये और समुद्र में जा छिपे। तब भगवान् मत्स्य ही उन्हें खोज कर लाये और वेदों का पुनरुद्धार किया। यदि मनुष्य के हृदय में अध्यात्म का मूल करुणा और सेवा की वृत्ति बनी रहे तो धर्मशास्त्र नष्ट हो जाने पर भी उनका पुनरुद्धार हो सकता है। सहृदय अन्तःकरण में से समस्त धर्म मर्यादाओं का विकास पुनः हो सकता है। इस प्रकार वेदोद्धार की लीला द्वारा भगवान् मत्स्य ने जन-साधारण को यह सुझाया है कि यदि धर्म का मूल सद्भाव हृदय में भरा रहे तो समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्फुरण अन्तःकरण में से भी होता रह सकता है, भले ही ग्रन्थों से लाभ उड़ाने का अवसर न मिलता हो।

धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश होने का भावनात्मक माध्यम धृणा नहीं करुणा ही हो सकती है। अधर्म, अज्ञान और अभाव से पीड़ित प्राणियों के दुःखों से द्रवित होकर लोक-मङ्गल की भावना से अपने कर्तव्य की बात सोचना और करना यही धर्म स्थापना की पृष्ठ भूमि है। मत्स्यावतार ने मानव हृदय से मानव हृदय को इसी तत्त्व ज्ञान की प्रेरणा दी और धर्म को जीवन में स्थान मिलने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। इसी से प्रथम अवतार मत्स्यावतार हुआ।



**परोपकार शून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् ।
धन्यास्ते पशवो देवां चर्माप्युपकरिष्यति ॥**



जो मनुष्य परोपकार से शून्य हैं उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है। उससे तो वह पशु ही धन्य हैं जिनका चर्म भी मरने के बाद दूसरों का उपकार करता है।

परोपकारैधियः स्वसुखाय गतस्पृहाः ।

जगद्धिताय जायन्ते विरलाः साधवो भुवि ॥

केवल परोपकार का चिन्तन करने वाले और अपने सुख के लिए स्पृहा से रहित विरले ही साधु संसार के कल्याण के लिए पृथ्वी पर जन्म लेते हैं।

कर्णस्त्वचं शिविर्मासं जीवञ्जीमूतवाहनः ॥

ददौ दधीचिरस्थीनि नास्तदेयं महात्मनाम् ॥

कर्ण ने अपनी त्वचा का, शिवि ने अपने माँस का, जीमूतवाहन ने अपने जीवन का तथा दधीचि ने अपनी अस्थियों का भी दान कर दिया था। वस्तुतः महात्माओं के लिए कुछ भी अदेय नहीं है, वह सब कुछ दान कर देते हैं।

अनुभवति हि मूढनर्ता पादपस्तीव्रमुष्णं ।

शमयति परितापं छायाया संश्रितानाम् ॥

वृक्ष अपने सिर से तो तीव्र उष्णता का अनुभव करता है, पर अपने आश्रितों के ताप को छाया से दूर करता है। अर्थात्, सत्पुरुष स्वयं कष्ट उठा कर दूसरों के दुःखों को दूर करते हैं।

परहित बस जिन के मन माहीं ।

तिन कहु जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

कोमल चित दीनन्ह पर दाया ।

मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥

पर हित सरिस धर्म नहि भाई ।

पर पीड़ा सम नहि अधमाई ॥

निर्नय सकल पुरान वेद कर ।

कहेउ तात जानहि कोबिद नर ॥

नर सरीर धरि जे पर पीरा ।

करहि ते सहहि महा भव भीरा ॥

पर उपकार बचन मन काया ।

सन्त सहज सुभाउ खगराया ॥

सन्त सहहि दुख पर हित लागी ।

पर दुख हेतु असन्त अभागी ॥

भूर्ज-तरु सम सन्त कृपाला ।

पर हित नित सह विपति विसाला ॥

दोहा —-विरछा फले न आपको, नदी न पावे नीर ।

पर स्वारथ के कारने, सन्तन धरा शरीर ॥

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर ।

जो पर पीर न जानई, सो काफिर वे पीर ॥

फल भारन नमि विटप सब, रहे भूमि निअराइ ।

पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहि सुसम्पति पाइ ॥

दीन दुखी असहाय का, करो सदा उपकार ।

जानौ वेद पुराण का यही एक है सार ॥

दया धर्म हिरदै बसै, बोलै अमृत बैन ।
 तेई ऊँचे जानिए, जिनके नीचे नैन ॥
 ग्रन्थ पन्थ सब जगत के, बात बतावत तीन ।
 राम हृदय, मन में दया, तन सेवा मे लीन ॥



② कच्छप अवतार

६८ - ६१५७

देव और दानव, निर्धन, दीन-हीन असक्त और अवन्त स्थिति में पड़े हुए दिन काट रहे थे । ब्रह्माजी ने उन्हें कहा कि इस सर्व सुविधा सम्पन्न संसार में रहकर ऐसा अवन्त जीवन जीना उचित नहीं । समर्थ और सम्पन्न होकर जीना चाहिए । देव-दानवों को यह उपदेश पसन्द आया उनने पितामह से इसका उपाय पूछा तो प्रजापति ने कहा—मिल-जुल कर, सहकारिता-पूर्वक श्रम करना ही सर्वाङ्गीण उन्नति का एकमात्र उपाय है । व्यक्तिगत पुरुषार्थ का प्रतिफल व्यक्ति को मिलता है, पर यदि तुम सब लोग सुखी रहना चाहते हो और सर्वत्र सुख-समृद्धि देखना चाहते हो तो उसका मिल-जुल कर सामूहिक पुरुषार्थ करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं ।

प्रजापति के परामर्श को कार्यावन्त करने के लिए देव-दानव दोनों ही तैयार हो गये । तब ब्रह्माजी ने उन्हें समुद्र मथ डालने की सलाह दी । उसके लिए मंदराचल पर्वत की रई तथा शेषजी की रस्सी बनाने का उपाय बताया । दोनों पक्ष उस कार्य में उत्साहपूर्वक जुट गये ।

भगवान् को सार्वजनिक उन्नति के लिए किये जाने की सामूहिक सत्प्रयत्न अत्यधिक प्रिय हैं । ऐसे प्रयोजनों को सफल बनाने के लिए वे अपना अषांचित सहारा प्रदान करते हैं । समुद्र मथते समय मंदराचल

पर्वत जब नीचे को धकसने लगा तो भगवान् ने कच्छप (कछुए) का रूप धारण कर उस पर्वत का बोझ अपनी पीठ पर ले लिया और मंथन कार्य बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया ।

समुद्र मन्थन से ऐरावत, कामधेनु, धन्वन्तरि, लक्ष्मी, अमृत आदि कितनी ही उपयोगी वस्तुएँ निकलीं । इस उपलब्धि का कारण पारस्परिक सहयोग और अनवरत श्रम ही था । जहाँ यह सत्प्रवृत्तियाँ चल रही होंगी, वहाँ ईश्वर की सहायता मिलनी ही चाहिए । कच्छप भगवान् ने वही किया भी । अपनी पीठ पर समुद्र मन्थन की 'सारी प्रक्रिया का भार उठा लिया ।

अन्यत्र भी ऐसा ही होता है, भगवान् किसी न किसी सहायक के रूप में सत्प्रवृत्तियों में सहायक होते हैं । इस प्रकार वे संसार को सुन्दर, समुन्नत एवं सुविकसित बनाने में व्यक्तियों, परिस्थितियों, साधनों या प्रेरणाओं के रूप में धर्म स्थापना का उद्देश्य पूरा करते हैं ।

*

*

*

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति कर्मसु ।

भविष्यतीयेव मनः कृत्वा सततमव्ययैः ॥

उठो, जागो और अच्छे कर्म करने में लग जाओ । मन को सर्वदा दृढ़ रखो, इसी से कल्याण होगा ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः ।

एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु-पर्यन्त जीने की, अर्थात् अपने को समुन्नत करने की, इच्छा करे । उसका कल्याण इसी में है, कर्त्तव्य कर्म को छोड़ कर भागने में नहीं । कर्म-बन्धन से बचने का यही उपाय है ।

उद्योगेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

उद्योग से ही काम बनते हैं, मन में सोचने मात्र से नहीं। सोते हुए सिंह के मुँह में कहीं कोई मृग आ सकते हैं ?

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी—

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

लक्ष्मी उद्योगी पुरुष-सिंह के ही पास आती है।

'भाग्य में जो है, वही मिलेगा' ऐसा कायर पुरुष कहते हैं।

अतः भाग्य को छोड़ कर अपनी शक्ति से पौरुष करो।

यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध नहीं होता, तो तुम्हारा क्या दोष है ?

दोहा-श्रम ही तें सब मिलत है, बिनु श्रम मिलै न काहि ।

सीधी अँगुरी घी जम्यो, क्यों हूँ निकरै नाहि ॥

श्रम अरु बुद्धि प्रभाव तें, लक्ष्मी करत निवास ।

ज्यों लों तेल प्रदीप में, तौ लौं ज्योति प्रकास ॥

संघ शक्ति कलि में कही, विपति बिडारन हार ।

पै क्यों अपनाते नहीं, संघ-बद्ध सुविचार ॥

रहिमन कबहुँ बड़ेन को, नाहिं गर्व को लेस ।

भार धरै संसार को, तऊ कहावत शेष ॥

बहुत निबल मिलि बल करें, करें जु चाहे सोय ।
 तिनकन की रसरी करी, गज को बन्धन होय ॥
 बहुतन को न विरोधिये, निबल जानि बलवान ।
 मिलि भखि जायँ पिपीलिका, नागहि नग के मान ॥
 चलै जु पन्थ पिपीलिका, पहुँचे सागर पार ।
 आलस में बैठो गरुड़, पड़ौ रहै मन मार ॥
 कलियुग में इक संगठन, सब सिद्धिन को मूल ।
 पूरे अपनी कामना, सबै रहै अनुकूल ॥
 निर्बल मिलकर परस्पर, वस्त्र बनाता सूत ।
 मिलो परस्पर दौड़ कर, हषित भारत पूत ॥



③ बाराह-अवतार १३२१॥

असुर हिरण्याक्ष — जिसकी आँखों में केवल स्वर्ण का ही मूल्य था, और संसार की सब विभूतियों को नगण्य गिनता था, अति लालच से प्रेरित होकर धरती को चुरा ले गया अर्थात् भूमि पर अपना स्वामित्व कर बैठा । पुराणों में कथा है कि वह धरती को चुरा ले गया । अलंकारिक रूप से यह बात ठीक है कि जो लोग सबके उपयोग के लिए विनिमित्त हुई भूमि आदि वस्तुओं पर अत्यधिक स्वामित्व स्थापित कर लेते हैं, वे धरती के चोर ही हैं ।

धुद्र मनुष्यों की पहचान यही है कि उनके पास वैभव आते ही अहंकार आ घेरता है । वे अपने समान किसी को नहीं समझते । दूसरों का तिरस्कार करने में उन्हें आनन्द आता है । हिरण्याक्ष का भी यही

हाल था । इन्द्र, वरुण आदि सभी देवताओं को उसने चुनौती दी और उन्हें डरा कर भगा दिया ।

भगवान् ने यज्ञ-बाराह के रूप में अवतार लिया । हिरण्याक्ष से युद्ध किया । उसे परास्त कर पृथ्वी पर से उसका अधिकार समाप्त किया । स्वर्ग को सर्वोपरि मानने वाला, जमीन जायदाद के मोह में फँसा हुआ असुर अपने अहङ्कार समेत सर्वनाश को प्राप्त हुआ ।

भगवान् के लिए सभी शरीरधारी, सभी प्राणी, पुत्रवत् प्रिय हैं । उनके लिए कोई नीच-ऊँच या हेय नहीं, इसलिए उन्होंने शूकर की योनि में प्रकट होकर यह बताया कि मनुष्य ही नहीं सभी प्राणी परमात्मा को समान रूप से प्रिय हैं ।

अधर्मी का, अधर्म का शमन करने के लिए ही भगवान् अवतार लेते रहे हैं । धर्म का अभिवर्धन उन्हें इतना प्रिय है कि इस पुण्य कार्य की पूर्ति का आनन्द लेने के लिए वे स्वयं शरीर धारण करते हैं । बाराह अवतार का प्रयोजन भी यही था ।

× × ×

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यायापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

सत्य का मुख सुवर्णरूप ज्योतिर्मय ढकने से ढका हुआ है । हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पोषक परमात्मन् ! उसको तू सत्यधर्म के दर्शन करने के लिए खोल दे जिससे इस वित्तीषणा रूपी आवरण से दूर होकर हम ब्रह्म का रूप देख सकें ।

धर्म और न्याय की रक्षा के लिये संघर्ष करना धर्म का प्रधान चिन्ह है । पूर्वकाल में मनुष्य ही नहीं मनुष्येतर अन्य प्राणी भी इसी मार्ग पर चलते थे ।

सीता को हरण कर जब रावण ले चला तो गिद्धराज जटायु ने अपने प्राणों की परवा न करके रावण से युद्ध किया ।



गोधराज सुनि आरत वानी ।
 रघुकुलतिलक नारि पहिचानी ॥
 धावा क्रोधवन्त खग कैसे ।
 छूटइ पवि परबत कहूँ जैसे ॥
 धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा ॥
 सीतहि राखि गोध पुनि फिरा ॥
 चोचन्ह मारि बिदारेसि देही ।
 दण्ड एक भई मुरुछा तेही ॥
 तब सक्रोध निसिचर खिसिआना ।
 काढ़ेसि परम कराल कृपाना ॥
 काटेसि पंख परा खग धरनी ।
 सुमिर राम करि अद्भुत करनी ॥

रीक्ष, वानर भगवान् राम के धर्म-रक्षा कार्य का किस प्रकार समर्थन करते हैं और साधन हीन होते हुए भी अमित बलशाली लंकेश से भिड़ जाते हैं इसका चित्रण इस प्रकार है—

जामवन्त बोले दोऊ भाई ।
 नल नीलहि सब कथा सुनाई ॥
 राम प्रताप सुमिर मन माँही ।
 करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥
 धावहु मर्कट विकट बरूथा ।
 आनहु विटप गिरिन्ह के जूथा ॥

सुनि कपि भालु चले कर हूहा ।

जय रघुवीर प्रताप समूहा ॥

दोहा—अति उमंग गिरि पादप, लीलहि लेहि उठाइ ॥

आनि देहि नल नीलहि, रचहि ते सेतु बनाइ ॥

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा ।

देखि कृपानिधि के मन भावा ॥

चलि सेन कछु बरननि जाई ।

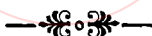
गर्जहि मर्कट भट समुदाई ॥

सेन सहित उतरे रघुवीरा ।

कहि न जाइ जूथप भीरा ॥

कौतुक कूद चढ़े कपि लंका ।

पैठे रावन भवन असंका ॥



नृसिंह-अवतार

॥५४॥

हिरण्यकश्यपु की असुरता प्रसिद्ध है—उसने कुचिचारों और कुकर्मों से अपना जीवन भर रखा था । जो उसके सम्पर्क या प्रभाव में आते, उन्हें भी वह अधार्मिक, अनुपयुक्त प्रेरणाएँ ही देता था । असुरों की यही पहचान है कि वे स्वयं अनुचित कार्य करते हैं और दूसरों को भी वैसा ही करने के लिए प्रोत्साहन देते हैं । हिरण्यकश्यपु राजा था, पर उसमें असुरता के सारे दुर्गुण बिद्यमान थे ।

प्रह्लाद उसका पुत्र था, उसकी आत्मा सजग थी । सजग आत्मा वाले केवल धर्म और कर्त्तव्य को प्रधानता देते हैं, उन्हें सत्य और न्याय प्रिय होता है, वे विवेक और औचित्य के आधार पर ही किसी बात को स्वीकार करते हैं । प्रह्लाद को आस्तिकता में आस्था थी, वह सदाचरण पूर्ण जीवन जीना चाहता था और वह करना चाहता था—“जो न्याय एवं विवेकयुक्त हो ।” हिरण्यकश्यपु चाहता था कि उसका लड़का, उसीके कहने में चले, पिता होने के कारण उसकी अनुचित, अनीतियुक्त बातों को भी माने और जिस कुमार्ग पर वह चलाना चाहता है, उसी पर चले ।

प्रह्लाद ने औचित्य को पिता से भी बढ़कर माना और कहा—पितृ-भक्ति के नाते आपकी सेवा करना और सुख देना मेरा कर्त्तव्य है, उसे निष्ठापूर्वक पालूँगा । पर अनीति एवं अविवेकयुक्त बात पिता की भी स्वीकार नहीं की जा सकती । आत्मा की पुकार सबसे बड़ी है, उसे किसी भी कारण ठुकराया नहीं जा सकता । पिता के कहने पर भी सत्य या धर्म को नहीं छोड़ा जा सकता । इसलिए मैं आपकी केवल उचित आज्ञाएँ मानूँगा ।

— X X X X —
युक्तियुक्त मुपादेयं वचनं बालकादपि ।

अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥

अपि पौरुषमादेयं शास्त्र चेद्युक्ति बोधकम् ।

अन्यत्तृणमिव त्याज्यं भाव्यं न्यायैक सेविना ॥

बालक के द्वारा कही हुई भी युक्ति-सङ्गत बात को मान लेना चाहिए । यह अयुक्त एवं औचित्य-रहित बात ब्रह्मा भी कहे तो भी कभी नहीं स्वीकार करनी चाहिए । साधारण व्यक्ति का भी युक्ति-युक्त लेख आदरणीय होता है और जो युक्ति-हीन हो तो शास्त्र-प्रणेता ऋषि का भी वचन माननीय नहीं होता है ।

अकृत्यं नैव कर्त्तव्यं प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।

न च कृत्यं परित्याज्यमेष धर्मः सनातनः ॥

प्राण-त्याग अर्थात् मृत्यु भी चाहे सामने उपस्थित हो फिर भी अकृत्य—‘न करने योग्य’ कर्म कभी नहीं करने चाहिए और चाहे मृत्यु का सामना करने पड़े किन्तु करने योग्य कार्य कभी नहीं छोड़ने चाहिए, यही सनातन-धर्म कहलाता है ।

हिरण्यकश्यपु क्रुद्ध हो गया । उसने प्रह्लाद को विवश करने के लिए अनेक त्रास दिये—पहाड़ पर से गिराया, बहिन होलिका के साथ अग्नि में जलाने की चेष्टा की, पर ईश्वर ने उसकी रक्षा की । अन्त में एक लोहे के खम्भे से उसे बाँध दिया गया और मार डालने की तैयारी की जाने लगी ।

इस अवसर पर भगवान् नृसिंह ने अवतार धारण किया—‘मनुष्य के रूप में सिंह’ और हिरण्यकश्यपु को फाड़-चीड़ कर रख दिया । मनुष्यों में दो तरह के व्यक्ति होते हैं—एक कायर, कृपण, दीन, डरपोक, अकर्मण्य, इन्हें श्वान, शृगाल की श्रेणी में गिना जा सकता है । दूसरे होते हैं—न्याय की रक्षा के लिए, धर्म के समर्थन के लिए, अपने प्राणों की भी परवाह न करने वाले । इन्हें कहते हैं—नर-सिंह । नर-सिंहों को भगवान् का अवतार भी कहना चाहिए ।

भगवान् नरसिंह धर्म रक्षक, सूर-वीर योद्धाओं, त्यागी और बलिदानियों के रूप में, हर युग में, हर देश में, हर समाज में पाये जाते हैं । प्रह्लाद की रक्षा के लिए भी भगवान् किसी नर-सिंह के रूप में प्रकट हुए और उनसे धर्म के आग्रह पर डटने के कारण उत्पीड़न सहने वाले प्रह्लाद की सहायता की । हिरण्यकश्यपु का उदर विदार कर रख दिया ।

धर्म पक्ष को दुर्बल न होने के लिए प्रबल पराक्रम करने

वाले नरसिंह भगवानों की सदा जय ही होती है। अवतारी नरसिंह ने इसे ही प्रत्यक्ष कर दिखाया।

भगवान् राम ने असुरों के अन्याय को देखकर उसे नष्ट करने की प्रतिज्ञा की और इस कार्य में सफलता के लिए आशीर्वाद माँगा।

अस्थि समूह देखि रघुराया ।

पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥

निसिचर निकर सकल मुनि खाए ।

सुनि रघुवीर नयन जल छाए ॥

दोहा—निसिचर हीन करऊँ, महि भुज उठाइ पन कौन्ह ।

सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

अब सो मन्त्र देहु प्रभु मोही ।

जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही ॥

सुग्रीव पर बालि का अन्याय देखकर भगवान् को बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ और उनने इस अन्याय का प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा की।

सुनि सेवक दुख दीनदयाला ।

फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला ॥

दोहा—सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान ।

ब्रह्म, रुद्र सरनागत, गएँ न उबरिहि प्रान ॥

सेतु बाँधने जैसे न्याय-समर्थक कार्य में तनिक भी सहयोग न करने की समुद्र की नीचता लक्ष्मणजी से सहन नहीं हुई। उन्होंने उसके साथ वह व्यवहार करने का निश्चय किया, जैसा कि इस प्रकृति के व्यक्तियों के साथ किया जाना चाहिए। रामचन्द्रजी ने इस अवसर पर

देववाद के समर्थन में एक शब्द कह दिया तो इस पर लक्ष्मणजी अत्यन्त दुःखी हुए । इस प्रसंग की चर्चा रामायण में इस प्रकार है—

सखा कही तुम्ह नीक उपाई ।
करिअ दैव जौं होइ सहाई ॥
मन्त्र न यह लछिमन मन भावा ।
राम वचन सुन अति दुख पावा ॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा ।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा ॥
कादर मन कहूँ एक अधरा ।

दैव दैव मन आलसी पुकारा ॥
सुनत बिहँसि बोले रघवीरा ।
ऐसेहि करब धरहु मन धीरा ॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई ।
सिन्धु समीप गए रघुराई ॥
प्रथम प्रनाम कीन्ह सिरु नाई ।
बैठे पुनि तट दर्भ डसाई ॥

दोहा-विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीत ।
बोले राम सक्रोध तब, भय बिनु होइ न प्रीति ॥

लछिमन बान सरासन आनू ।
सोषौं वारिधि बिसिख कृसानू ॥
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती ।
सहज कृपन सन सुन्दर नीती ॥

ममतारत सन ग्यान कहानी ।
 अति लोभी सन बिरति बखानी ॥
 क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा ।
 ऊसर बीज बएँ फल जथा ॥
 अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा ।
 यह मति लछिमन के मन भावा ॥
 संधानेउ प्रभु बिसिख कराला ।
 उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला ॥
 मकर उरग भूष मन अकुलाने ।
 जरत जंतु जल निधि जब जाने ॥
 कनक थार भरि मनि गन नाना ।
 बिप्र रूप आयउ तजि माना ॥

दोहा-काटेहिं पड़ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच ।
 विनय न मान खगेस सुनु, डाटेहिं पड़ नव नीच ॥

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे ।
 छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥
 प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्हो ।
 मरजावा पुनि तुम्हरी कीन्हो ॥
 देखि राम बल पौरुष भारी ।
 हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी ॥

बालि-बध के समय भगवान् राम ने कहा—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी ।

सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥

इन्हहि कुट्टि बिलोकइ जोइ ।

ताहि बधे कछु पाप न होई ॥

नर-सिंह सदा अनीति एवं अव्यवस्था से संघर्ष करने में अपने जीवन की सफलता मानते हैं । धर्म मार्ग पर चलने वालों के समर्थन में वे कुछ उठा नहीं रखते ।

—)×(—

④ वामन अवतार

राजा बलि के पास प्रचुर सम्पत्ति जमा थी । तीनों लोकों का अधिपति भी वह था । यों राजा भला और धर्मात्मा था । फिर भी भगवान् को यह उचित न लगा कि धन एवं सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाय, उसका स्वामित्व थोड़ों तक सीमित रहे । धन और सत्ता जहाँ कहीं भी अधिक मात्रा में केन्द्रित होंगे वहाँ उसका परिणाम दुःखदायक ही होगा ।

राजा बलि अधार्मिक नहीं था, इसलिए उससे लड़ने या मारने की आवश्यकता न थी । केवल उसके धन का विकेन्द्रीकरण करना था । जब जहाँ जो हथियार आवश्यक हो तब वहाँ उसी का उपयोग उचित होता है । बलि की दान-भावना एवं सहृदयता को उभार कर भी काम चल सकता था । इसलिये इस सरल माध्यम को अपनाना ही भगवान् ने उचित समझा ।

भगवान् वामन अंगुल के छोटे वनकर ब्राह्मण के रूप में राजा बलि के पास जाते हैं । उसे दान का महत्त्व समझाते हैं । उपलब्ध

सामर्थ्य प्रत्येक व्यक्ति के पास भगवान् की अमानत है। जिसे जो कुछ-धन, समय, ज्ञान, बल, प्रभाव, पद आदि गुजारे से अधिक मिला है, उस सबका उपयोग ईश्वरीय प्रयोजन के लिए—धर्म रक्षा एवं जन-कल्याण के लिये ही होना चाहिए। भगवान् वामन राजा बलि को यह ज्ञान देते हैं और उसे अधिक उदार, दयालु एवं दानी बनने के लिये प्रोत्साहित करते हैं।

राजा बलि ब्राह्मण वामन की मर्मस्पर्शी शिक्षा से प्रभावित होता है और वह पूछता है—मुझे क्या करना चाहिए। वामन उसे समझाते हैं कि तुम अपना व्यक्तिगत सारा वैभव सार्वजनिक बनादो, ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए दान करदो। प्राप्त वैभव का यही सर्वश्रेष्ठ, सदुपयोग और प्राप्त विवेक का यही सर्वोत्तम प्रयोग हो सकता है। बलि सहमत हो गया और उसने भगवान् वामनजी के परामर्श से तीनों लोक का राज, प्रचुर धन ही नहीं, अपना शरीर भी ईश्वर के अर्पण कर दिया, लोक-हित के लिए लगा दिया।

भगवान् वामन ने साढ़े तीन पग भूमि माँगी। राजा ने उसे दे दिया। तीन पग में तीन लोक का राज्य और आधे पग में बलि का शरीर ले लिया। इस अलंकारिक कथन का निष्कर्ष यही है कि बलि ने अपना सर्वस्व परमार्थ के लिए, लोक-कल्याण के लिए दान कर दिया। भगवान् का राज्य माने धर्म का राज्य, जनता का राज्य। बलि के एक-तन्त्री राज्य के स्थान पर प्रजा का राज्य हुआ और राज्य-कोष में संग्रहीत धन-राशि लोक-कल्याण के अगणित आवश्यक कार्यों में लगने से ईश्वरीय प्रयोजन की—धर्म की स्थापना और अधर्म की हानि में सहायता मिली।

भगवान् वामन का अवतार सज्जनता की, सहृदता की, परमार्थ प्रयोजन की ओर अधिकाधिक प्रेरणा देने के लिए है। जिनमें थोड़ी उदारता पहले से ही विद्यमान है, उन्हें अधिकाधिक त्याग करने, लोक-

सेवा में संलग्न होने के लिए जो प्रेरणा दी जाती है, वह वामन-प्रेरणा ही है। यह प्रयास भी धर्म-युद्ध के समान ही महत्त्वपूर्ण है। भगवान् द्वारा धर्म-स्थापना और अधर्म-नाश के लिए किये जाने वाले अनेक उपायों में से एक महत्त्वपूर्ण उपाय धर्म-प्रवृत्ति वालों की अधिक साहस-पूर्ण परमार्थ कर दिखाने की प्रेरणा को प्रबल करना भी है। ब्राह्मण, साधु और सत्पुरुष ऐसा ही प्रोत्साहन अपने सम्पर्क में आने वाले साधन-सम्पन्न मनुष्यों को देकर भगवान् वामन की तरह महान् धर्म-सेवा करते रहते हैं।

कुछ संकुचित लोग ऐसे भी हैं जो न कोई साहसपूर्ण त्याग स्वयं करते हैं और न दूसरों को करने देते हैं। उनकी दुर्गति ऐसी ही होती है जैसी बलि को दान देने के लिए आग्रह करने वाले 'कुत्र-गुरु' शुक्राचार्य ने अपनी एक आँख गँवा कर पाई। राज्य का संकल्प करते समय उसे रोकने के लिए शुक्राचार्य जल-पात्र के छेद में जा घुसे थे। जल न निकलने पर लकड़ी डाली। फल स्वरूप उसमें सूक्ष्म रूप से छिप कर बैठे हुए शुक्राचार्य की एक आँख फूट गई। सत्कर्म करने वालों को निरुत्साहित करने के लिए किसी भी विचारशील को शुक्राचार्य बन कर अपनी दुर्गति नहीं करानी चाहिए।

× × × ×

पिवन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः ।

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ॥

नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः ।

परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

नदियाँ स्वयमेव जल नहीं पी जातीं। वृक्ष स्वयं ही अपने फलों को नहीं खा जाते। बादल कभी भी स्वयं ही धन धान्य आदि को नहीं खाते। क्योंकि सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिए होती हैं।



**धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्त वरं त्यागो विनाशो नियते सति ॥**

बुद्धिमानों को उचित है कि दूसरों के उपकार के लिए धन और जीवन तक को अर्पण कर देना चाहिए। क्योंकि दोनों का नाश तो एक दिन होना निश्चित ही है। अतः सत्कर्म में इनका त्याग करना श्रेष्ठ है।

**दौहा-तरुबर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहि न पानि ।
कहि रहीम पर काज हित, संपति सँचहिं सुजान ॥
देत न प्रभु कछु बिन दिये, दिये देत यह बात ।
लै तन्दुल धन विप्र को, तृप्त कियौ यदुनाथ ॥**

सर्वस दान दीन्ह सब काहू ।

जेहि पावा राखा नहिं ताहू ॥

**दोहा-प्रकट चारि पद धर्म के, कलि महुँ एक प्रधान ।
जेन केन विधि दीन्हेउ, दान करइ कल्याण ॥
बाँट खाय हरि को भजै, तजै सकल अभिमान ।
नारायण ता पुरुष को, उभय लोक कल्याण ॥**



परशुराम-अवतार

ब्राह्मण का कर्त्तव्य जनता की धर्म भावना को जागृत किये रहना है। इसके लिये उसे निरन्तर धर्म-प्रचार करना होता है। किन्तु कई बार अनाचारी शासन के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि ब्राह्मण के सारे प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में ब्राह्मण का धर्म अनाचारी शासन को हटाना भी हो जाता है।

भगवान् परशुराम को यही करना पड़ा। सहस्रबाहु उस समय का प्रचण्ड शासक था। कहते हैं कि उसकी दो भुजाएँ सहस्र धुजाओं के समान सामर्थ्यवान् थीं। अपने दर्प के आगे वह किसी की शिक्षा नहीं सुनता था। महर्षि जमदग्नि ने उसे सन्मार्ग पर चलने और नीति-युक्त शासन करने के लिए समझाया तो उल्टा क्रुद्ध हो गया और उनको मृत्यु के घाट उतार दिया। तपस्वी परशुराम बालक थे, तो भी उनमें मानवोचित स्वाभिमान एवं 'मन्यु' मौजूद था। वे जानते थे कि अनाचार का प्रतिरोध करना मनुष्य का अत्यन्त पवित्र धर्म-कर्त्तव्य है, इसलिये उन्होंने निश्चय किया कि वे भले ही स्वल्प साधन सम्पन्न हों, अनीतियुक्त शासन की जड़ काट कर रहेंगे।

अन्याय का सहन करना, पाप से सहयोग करने एवं उसे बढ़ावा देने के समान है। प्रतिरोध न करने से अन्यायी की हिम्मत बढ़ती है और वह दूने चौगुने साहस के साथ अपनी सफलता पर गर्व करता हुआ अनीति में प्रवृत्त होता है। इसलिए शास्त्र ने अनीति सहने वाले को अनीति करने वाले की तरह ही पापी माना है। परशुराम जी धर्म के इस मर्म को भली प्रकार जानते थे, इसलिए उन्होंने संसार में फैले हुए, अधर्म को दूर करने की भगवान् की प्रतिज्ञा को पालन करने के लिये कार्य करना आरम्भ कर दिया।

भगवान् परशुराम का प्रचण्ड परशु—तेज—दीप्तिमान हुआ। उन्होंने अन्यायी शासन से युद्ध किया समस्त भू—मण्डल में 'धर्म-राज्य' की स्थापना का लक्ष्य पूरा कर दिखाया। पुराण की कथाओं के अनुसार अब तक इक्कीस बार भगवान् परशुराम ने अनीतियुक्त शासन से प्रजा को मुक्त करके 'धर्म-राज्य' की स्थापना की है। अब जबकि बाईसवीं बार फिर संसार में धर्म-राज्य की आवश्यकता अनुभव की जा रही है तो फिर भगवान् परशुराम की आत्मा का अवतरण होगा और वह असंख्य प्रजा को अपना परशु—तेज—देकर उसे सत्य, प्रेम, न्याय का धर्म-राज्य स्थापित करने की सामर्थ्य प्रदान करेगी।

× × × ×

परशुरामजी साधनहीन थे, अकेले थे। तो भी उन्होंने शत्रुओं का सामना करने में सकोच नहीं किया।

रामायण में प्रसङ्ग आता है कि जब भरत सेना समेत राम से मिलने जा रहे हैं, तब भ्रम वश गङ्गा पर नाव चलाने वाले केवट-गण यह मान बैठते हैं कि भरत अनीति-वश राम को मारने जा रहे हैं, अतः एव अनीतिवान् से लोहा लेना ही उचित है, चाहे उसमें स्वयं ही नष्ट क्यों न हो जाना पड़े। इस प्रसङ्ग में केवटों की मनोभूमि तथा गति-विधियाँ देखिए—

कारन कवन भरसु बन जाहीं ।

है कठु कपट भाउ मन माहीं ॥

जौ पै जियँ न होति कुटिलाई ।

तौ कत लीन्ह संग कटकाई ॥

दोहा-अस विचारि गुहँ ग्याति सन, कहेहु सजग सब होहु ।

हथवाँसहु बोरहु तरनि, कीजिअ घाटारोहु ॥

ब्रह्म भी ज्ञान स्वरूप है और उसकी प्राप्ति भी ज्ञान द्वारा ही होती है। विपरीत ज्ञान से ही भवबन्धन में बद्ध होते हैं, यह भी एक प्रकार प्रतिकूल ज्ञान ही तो है। इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब ज्ञानात्मक ही है। अतः यह सिद्धान्त है कि ज्ञान से परे अन्य कुछ भी नहीं है।

ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञान संक्षयः ।

ज्ञानादेव परासिद्धिर्नान्यस्माद्राम ! वस्तुतः ॥

हे राम ! ज्ञान से ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। ज्ञान बल के द्वारा ही अज्ञानान्धकार का निवारण होता है। ज्ञान से ही परमोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त होती है, अन्य किसी भी साधन या उपाय से नहीं हो सकती है।

दोहा-विद्या विनय विवेक रति, रीति जासु उर होइ ।

राम परायन जो सदा, आपद ताहि न होइ ॥

सचिव वैद गुरु तीन जौं, प्रिय बोलाहिं भय आस ।

राज धर्म तन तीन कर, होइ बेगिहीं नास ॥

सुमति कुमति सब कैं उर रहहीं ।

नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना ।

जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ॥

तव उर कुमति बसी बिपरीता ।

हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥

अनुचित उचित काजु कछु होऊ ।

समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ ॥

सहसा करि पाछें पछिताहीं ।
 कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं ॥
 अहह कंत कृत राम बिरोधा ।
 काल बिबिस मन उपज न बोधा ॥
 काल दण्ड गहि काहु न मारा ।
 हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥
 निकट काल जेहि आवत साईं ।
 तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥
 भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं
 ग्यान उदयँ जिमि संसय जाहीं ॥
 आरत कहहिं बिचारि न काऊ ।
 सूझ जुआरिहि आपन दाऊ ।
 मारग चलहु पयादेहि पाएँ ।
 ज्योतिष झूठ हमारे भाएँ ॥

—)×(—

चौबीस-अवतार

इन प्रख्यात अवतारों के अतिरिक्त भगवान् के और भी अनेक अवतार अपने चरित्र द्वारा लोक में अनुकरणीय परम्परायें स्थापित करने, धर्म के लिए कष्ट सहने की प्रेरणा देने तथा धर्म स्थापना के लिए प्राणपण से प्रयत्न करने में संलग्न होने की प्रवृत्ति को पनपाने के लिए होते हैं । यों इस मार्ग पर चलने वाला प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का अवतार

है। किन्तु जिन्होंने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया है वे विशेष अवतार माने जायेंगे।

(९)

भगवान् धन्वन्तरि ने प्राणियों को निरोग बनाने, उनकी रोग निवृत्ति करने के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया। अमृत का घट हाथ में लेकर वे आये और कष्ट पीड़ितों के दुःख दूर करने के लिए निरन्तर श्रम करते रहे। यह भगवान् के समान ही दयालुता है। जो जितना दयालु है उसे उतना ही ईश्वर के समकक्ष समझना चाहिए।

समुद्र मन्थन के बाद अमृत के बटवारे को लेकर देवता और असुरों में जो झगड़ा खड़ा हुआ उसे न्यायोचित ढङ्ग से सुलझाने के लिए भगवान् ने मोहिनी रूप धारण किया और जिसके लिए जो जितनी मात्रा में उचित था उसे वह वस्तु उतनी मात्रा में दे दी। न्याय इसी में नहीं कि बिना पात्रता के व्यक्तियों की गणना कर उपयोगी वस्तुएं सब को बराबर बाँट दी जायँ, वरन् न्याय का मार्ग यह है कि जो जिस वस्तु का जितना अच्छा उपयोग कर सके उसे वह वस्तु उतनी ही अधिक मात्रा में मिले। न्यायानुकूल बटवारे का यह प्रतिपादित मोहिनी अवतार धारण कर भगवान् ने किया।

भगवान् ने व्यास जी का रूप धारण कर सत्साहित्य की रचना की, धर्मग्रन्थ बनाये, जनता को धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। व्यास जी वक्ता भी थे। उन्होंने अपनी वाणी और लेखनी द्वारा जन जागरण के लिए, धर्म उत्कर्ष के लिए, जो अनवरत प्रयत्न किया इसके कारण महर्षि द्वैपायन व्यास को भी अवतार माना गया है।

देवर्षि नारद संसार में सद्ज्ञान का विस्तार करने के लिए निरन्तर भ्रमण करते रहे। उन्होंने असंख्य मनुष्यों को कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लगाया, भगवान् का, धर्म का सन्देश घर-घर पहुँचाया। उनके इस प्रचार-कार्य से संसार में जो सद्भावनायें बढ़ीं उसके कारण नारद जी को भी अवतार कहा जाता है।

हंसावतार का नीर क्षीर विवेक प्रसिद्ध है। जल और दूध को अलग-अलग करने का हंस का गुण प्रसिद्ध है। भगवान् ने हंस रूप धारण करके जहाँ ऋषियों और देवताओं को सद्ज्ञान का उपदेश दिया है वहाँ उन्हें उचित, अनुचित का ध्यान रखने और केवल उचित को ही ग्रहण करने का निर्देश किया है। ऐसी शिक्षा देने वाले को भगवान् के अवतार के रूप में मान्यता देकर तत्त्वदर्शियों ने उचित ही किया है।

अहिंसा के महान प्रसारक महर्षि ऋषभ देव ने मनुष्यों को हिंसा और द्वेष के मार्ग से विरत कर अहिंसा और प्रेम के मार्ग पर चलाया। इसलिए वे भी चौबीस अवतारों में से एक गिने गए।

सनक, सनन्दन, सनत्कुमार ऋषियों को माना जाता है। प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना का बारीकी से अवलोकन कर उसमें से मिलने वाली शिक्षा को महर्षि दत्तात्रेय ने अपने जीवन में धारण किया। उन्होंने साधारण पशु-पक्षियों और कीट-पतङ्गों तक को अपना गुरु बनाया। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु प्रसिद्ध हैं। दूसरों को समुचित मान देने, नम्र और विनयी होने, निरन्तर ज्ञान का सचय करते रहने की उदात्त भावनाओं का ओत-प्रोत जीवन क्रम बनाकर संसार के कल्याण में संलग्न रहने के कारण दत्तात्रेय ऋषि भगवान् का अवतार कहलाये।

नर-नारायण, चक्रपाणि, कार्तिक हयग्रीव, पृथु आदि की गणना भी चौबीस अवतारों में है क्योंकि इनकी व्यक्तिगत पवित्रता और परोपकारपूर्ण कार्य-पद्धति सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय एवं प्रेरणा प्रदान करने वाली है।

यज्ञ को भी भगवान् का अवतार माना गया है। यद्यपि अन्य अवतारों की तरह उन्होंने मनुष्य जैसी लीला नहीं की है। फिर भी परमार्थ का, सत्कर्मों का, त्याग तप का प्रतीक होने के काम, उपलब्ध वस्तुओं में हमें अपने लिए कुछ भी न रखकर सब कुछ वितरण कर

देने के कारण, सदा तेजस्वी, प्रकाशवान्, ज्वलनशील रहने के कारण, जो सम्पर्क में आये उसे अपने समान ही बना लेने के कारण, प्राणियों के रोग-शोक दूर करने के कारण यज्ञ को भगवान् का प्रत्यक्ष स्वरूप ही माना गया है।

पुराण-शास्त्रों की मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर १० प्रमुख और १४ गौण इस प्रकार कुल २४ अवतार हुए हैं। उनका संक्षेप उल्लेख ऊपर किया गया है। इनके चरित्रों की गाथाएँ पुराणों में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। उनका निष्कर्ष इतना ही है कि सत्कर्मों में प्रवृत्त रहने, सद्भावनाएँ बढ़ाने, अनीति से संघर्ष करने और धर्म अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न करने के कारण ही उन्हें अवतार माना गया। जो भी इस प्रकार अपनी जीवन दिशा बना सके, वह आंशिक रूप में अवतारो कहलाने का अधिकारी बन सकेगा।

अन्य देवताओं के चरित्रों पर दृष्टिपात करने से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उनके सामने इस संसार में से दोष, दुर्गुणों, अनीति एवं अधर्म का शमन कर सत्यं शिवं सुन्दरम् की स्थापना करना, धर्म-राज्य स्थापित करना ही लक्ष्य था। देवता और असुरों में संघर्ष एवं युद्ध होते रहने की गाथाएँ पुराणों के पन्ने-पन्ने पर भरी पड़ी हैं। यद्यपि असुर अपनी दुष्टता के कारण आरम्भ में विजयी हुए हैं पर अन्त में जीत देवताओं की ही होती रही है।

देवताओं की सम्मिलित शक्ति को एकत्रित कर प्रजापति ने दुर्गा का अवतरण किया और उसने शुम्भ, निशुम्भ, महिषासुर आदि का दमन किया। स्वामिकातिकेय ने असुरों को परास्त किया। इन्द्र ने वृत्रासुर आदि पर विजय पाई। इसी प्रकार अन्य देवताओं ने भी असुरों से संघर्ष किया है। अधर्म का नाश एवं धर्म की स्थापना ही इन संघर्षों का प्रयोजन है।

आज की परिस्थितियों में दुष्ट भनृष्यों के साथ भी व्यक्तिगत

रूप मरने-मारने का युद्ध नहीं हो सकता। यह कार्य अब सरकार के हाथ में चला गया है। अब अनीति के विरुद्ध संघर्ष के दूसरे तरीके प्रयुक्त होते हैं। अनीति करने वालों से असहयोग, विरोध और मर्यादित संघर्ष यह आज की स्थिति में सम्भव है। मिल-जुल कर सङ्गठित रूप से अन्याय का विरोध किया जाय तो अधर्म के शमन में अधिक सहायता मिलती है।

अविद्या, बीमारी, गरीबी, मूढ़ता, अंध-विश्वास, रूढ़िवादिता, कायरता, भीरुता, स्वार्थपरता, संकीर्णता, बेईमानी, उच्छृङ्खलता, व्यसन आदि के रूप में आज असुरता जन-जन में किसी न किसी रूप में प्रविष्ट हो गई है। इसके साथ संघर्ष प्राचीन काल की अपेक्षा अधिक कठिन है। उन दिनों सारा समाज स्वच्छ था। अनीति करने वाले दुराचारी व्यक्ति थोड़े से होते थे और श्वेत वस्त्र पर काले धब्बे की तरह वे आसानी से पकड़ में आ जाते थे। उनके विरुद्ध राजदण्ड का प्रयोग आसानी से हो जाता था। पर अब तो स्थिति बदल गई है। अनैतिकता व्यापक रूप में लोगों के मन में घर करती चली जा रही है। असंयम, आलस्य, अज्ञान ने अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा है। इससे हमारा वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक जीवन दुःख, दारिद्र्य से ग्रस्त हो गया है। असुरता ने, अधर्म ने छद्म वेष बनाकर मानव जीवन में गहराई तक घुस जाने का उपक्रम बना लिया है। फल स्वरूप परिस्थितियाँ दिन-दिन अधिक विपन्न होती चली जा रही हैं।

आज अधर्म की असुरता किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रही है। उसने दुर्गुणों का रूप धारण कर जन मानस में अपनी जड़ें गहराई तक जमा ली हैं। अब उन जड़ों के उखाड़ने के लिए धर्म युद्ध करना होगा। यह युद्ध किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध न होकर दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। इसलिए इस धर्म युद्ध का क्षेत्र भी पहले से व्यापक होने के कारण उसकी मोर्चेबन्दी भी अधिक तत्परता पूर्वक ही करनी पड़ेगी।

अधर्म को परास्त करने और धर्म की स्थापना करने की ईश्वरीय प्रयोजन इसमें से प्रत्येक कार्य को करना है। भगवान् गीता के माध्यम से हमें इसी के लिए भर्त्सना पूर्ण चुभते हुए शब्दों में ललकारते हैं। गीता के प्रथम श्लोक में उसी पृष्ठ भूमि की चर्चा है। अर्जुन की तरह भगवान् के प्रिय सखा और भक्त बनने के लिए हमें गाण्डीब को टंकोरते हुए, पाँचजन्य को बजाते हुए धर्म युद्ध की तैयारी में संलग्न होना चाहिए।

भारतीय इतिहास का पन्ना-पन्ना ऐसे बलिदानी वीरों, धर्मात्माओं, महापुरुषों, नर रत्नों से भरा पड़ा है, जिनने धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश करने के लिए हँसते-हँसते बड़े से बड़ा त्याग करने में, प्राण देने में भी सङ्कोच न किया। ऐसे ही भगवान् के अवतार धर्म रक्षा का महान उद्देश्य पूर्ण करते हुए संसार की श्रेष्ठ परम्परा एवं सुख-शान्ति का संरक्षण कर रहे हैं।





दूसरा प्रवचन

(पुरुषार्थ और संघर्ष)

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

[अध्याय २ श्लोक ३]

हे अर्जुन कायर मत बन, यह तेरे लिए उचित नहीं । हृदय की तुच्छ-सी दुर्बलता को त्याग और युद्ध के लिए उठ खड़ा हो ।

जीवन एवं संसार को अधिक स्वच्छ, अधिक प्रखर एवं अधिक समुन्नत बनाने के लिए शौर्य की एवं सुधारक्रम निरन्तर जारी रखने को अनिवार्य रूप से आवश्यकता है । जब इसमें शिथिलता उत्पन्न हो जाती है तो गन्दगी, कुरूपता, विकृति एवं विद्रूपता उत्पन्न होने लगती है । धीरे-धीरे वे बढ़ते-बढ़ते सत्यानाशी विभीषिका का रूप धारण कर लेती हैं । अस्तु अवांछनीय तत्त्वों के विरुद्ध संघर्ष निरन्तर जारी रहना चाहिए ।

शरीर में रोज पसीना निकलता है, दाँतों पर रोज मौल जमता है, कपड़े रोज मौले होते हैं, कमरे में रोज धूल जमती है, यदि इन्हें नित्य ही साफ न किया जाय तो गन्दगी का कोई ठिकाना न रहे । मल-मूत्र को दूर न हटाया जाय तो अपने निवास स्थान पर दुर्गन्ध का

अम्बार लग जाय । नित्य स्वाध्याय या सत्सङ्ग द्वारा मन में उत्पन्न होने वाले कुविचारों एवं कुसंस्कारों का शमन न किया जाय तो मनोभूमि कषाय कल्मषों से कलुषित हुए बिना नहीं रहती ।

वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में नित नई पेचीदगी, उलझनें, अड़चनें, समस्याएँ, एवं विकृतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं । उनका सामना करना और अपनी प्रतिभा के द्वारा उनका हल निकालना आवश्यक होता है । जो प्रतिभावान् है, विकृतियों से लड़ने में जो प्रसन्न एवं तत्पर है उसे शूर कहा जाता है । प्रत्येक मनुष्य को धैर्यवान्, शूरवीर, पराक्रमी, अड़चनों से लोहा लेने वाला एवं दूरदर्शिता पूर्वक उन्हें हल करने के लिए विवेकवान् होना चाहिए । मनुष्य का यह आवश्यक गुण है । जो इस गुण से रहित है उसे पुरुष नहीं कहा जा सकता । पुरुष में पौरुष होना चाहिए ।

शौर्य धर्म का एक अङ्ग है । जो संघर्ष से डरता है, उससे बचने की कोशिश करता है वह कायर, अधर्मी है । उसे भीरु बुजदिल, का — पुरुष या नपुंसक भी कहते हैं । अड़चनों से छुटकारा किसी को भी नहीं मिल सकता है । रात-दिन के जोड़े की तरह सुविधाओं की तरह असुविधाएँ भी सामने आती हैं । यदि मनुष्य उनसे बचना चाहें तो भी वे उसका पीछा नहीं छोड़ती और प्रतिरोध न करने वाले उन पुरुषों को विकृतियाँ वैसी ही खा जाती हैं जैसे तीतर दीमक को सुविधा पूर्वक खाता रहता है । कायर अपेक्षाकृत अधिक कष्ट भोगते और अधिक घाटे में रहते हैं । वीर को एक बार मरना पड़ता है पर कायर पग-पग पर त्रस्त रहता है और बेमौत मरने जैसी वेदना सहता रहता है । अनीति को सहने से अन्यायी का साहस बढ़ता है और अपनी सफलता से अधिक दुस्साहसी बनता है और अधिकाधिक दुष्टता करता चला जाता है । इस बढ़ावे का कारण अनीति सहने वाले की कायरता ही होती है । इसलिए शास्त्रकारों ने शूरवीर को औचित्य वे—अशोभनीय के विरुद्ध

संघर्ष करने के लिए तत्पर व्यक्तियों को धर्मात्मा बतलाया है और उनकी प्रशंसा की है। संसार के इतिहास में उन्हीं लोगों की यशगाथाएं गाई गई। जिन्होंने आदर्शवाद की, शुभ की अभिवृद्धि के लिए और अशुभ की समाप्ति के लिए साहस पूर्वक प्रयत्न किये हैं। इन प्रयत्नों में जो कष्ट सहने पड़े हैं उन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहन किया है। ऐसे ही लोग अपना और संसार का भला करते हैं। लोक और परलोक भी उन्हीं का उज्ज्वल बनता है।

इसके विपरीत जो उलझन में पड़ने से डरकर, अपनी अकर्मण्यता या भीरुतावश बुराई को सहन करते रहते हैं। अनीति के आगे सिर झुका देते हैं, दुःख दैन्य में पड़े-पड़े दुर्भाग्य का रोना रोते हैं। गन्दगी, गरीबी, बीमारी, अविद्या के शिकार रहते हैं। उत्कर्ष के प्रतिरोध के लिये न स्वयं साहस करते हैं और न उनकी सहायता करते हैं जो इस प्रकार वीरतापूर्ण मार्ग का अवलम्बन कर प्रगति और प्रसन्नता की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो ऐसे व्यक्ति कायर, कर्महीन कहलाते हैं। वे एक प्रकार से अधर्मी भी हैं। ऐसे लोगों को निकृष्ट कोटि का अधम जीव-नर-पशु कहा जाता है। इनकी सर्वत्र निन्दा की जाती है। शास्त्रकार उनकी भर्त्सना करते हैं। भगवान् भी उन्हें धिक्कारते हैं।

कायरता में प्रधान बाधा मन की दुर्बलता ही है। कष्ट और उलझन से आदमी भागता है। भागकर वह बचना चाहता है। बच तो पाता नहीं, उलटी कष्ट, व्यथा बढ़ जाती है। संसार में निन्दा होती है और सौभाग्य सूर्य के उदय होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। अर्जुन अनेक बहाने बनाकर, शांतिप्रियता और त्याग की दुहाई देकर अपने को झझट से बचाना चाहता था और संघर्ष में जो चोट लगने की सम्भावना रहती है उसके डर से वह लड़ाई-भगड़े में न पड़ने की बात कह रहा था। भगवान् ने वस्तु स्थिति को समझ लिया और अर्जुन को हृदय की क्षुद्र दुर्बलता, कायरता, अशोभनीय माग अप-

नाने से रोका और स्पष्ट शब्दों में कहा कि युद्ध करने के लिए उठ खड़ा हो। अनौचित्य सम्मुख उपस्थित होने पर प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य भी यही है। अर्जुन के बहाने मनुष्य मात्र को इसी के लिए ईश्वरीय प्रेरणा प्रस्तुत हुई।

संसार में जिनकी यश गाथायें गाई जाती हैं, जिन्हें साहसी, सज्जन, सराहनीय माना जाता है उन सभी को अपने-अपने ढङ्ग से अन्याय एवं अनौचित्य से संघर्ष करना पड़ता है। इस सङ्घर्ष की अग्नि में तपने से उन्हें थोड़ा शारीरिक कष्ट भले ही सहना पड़ा हो, लौकिक जीवन में अड़चनों का सामना भले ही करना पड़ा हो पर कर्तव्य पालन की परीक्षा में खरे उतरने पर उनकी अन्तरात्मा को जो सन्तोष हुआ होगा, जो आनन्द मिला होगा, उसकी तुलना में लौकिक कष्टों की तुलना नगण्य ही मानी जायगी। उनके साहस से प्रकाश ग्रहण कर असंख्यों मनुष्यों चिरकाल तक वैसा ही अनुकरण करने का प्रयास करते रहेंगे। धर्म की रक्षा के लिए, अधर्म के विनाश के लिए जिनने साहसपूर्ण कदम उठाये उन्हें अवतारी माना जायगा। उनकी यश गाथा कहना और सुनना एक प्रकार से भगवान् की लीला कहने और सुनने की तरह ही पुण्य कार्य है।

भारत की भाग्यवादी विचारधारा, संकुचित स्वार्थपरता, जाति-पाँति की सङ्कीर्णता एवं असङ्गठित स्थिति ने देश को इतना दुर्बल बना दिया था कि विदेशी आक्रमणकारी उस पर आधिपत्य जमाने और लूट-खसोट करते रहने में बहुत दिन तक सफल होते रहे। अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण हिन्दू-जाति को लम्बी अवधि की नृशंसता-पूर्ण दासता सहनी पड़ी फिर भी उस अवधि से ऐसे योद्धा होते रहे जिन्होंने मातृभूमि को स्वाधीन रखने के लिए प्राण हथेली पर रखकर सङ्घर्ष किये। ऐसे बलिदानी वीर ही भारत माता की कीर्ति को उज्ज्वल रख सके। धर्म के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाले इन वीरों की सदा यश-गाथा गाई जाती रहेगी और भारतीय सन्तति उनके चरणों में सदा श्रद्धा

से मस्तक झुकाती रहेगी। ऐसे बलिदानी वीरों में से कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

—X X—

धर्म रक्षा के लिये संघर्ष करने वाले

शिष्य का गुरु पर आक्रमण

एक बार अन्याय के प्रति अपने शिष्यों की प्रतिक्रिया देखने के मन्तव्य से शिवजी ने एक बड़ा ही अन्यायपूर्ण कार्य किया, उसको देख कर शिष्य स्तब्ध रह गये, किन्तु बोला कोई भी नहीं।

उनके शिष्यों में उस समय परशुराम जी भी थे। उन्होंने शिवजी से वैसा न करने के लिये बड़ी विनम्र प्रार्थना की। किन्तु शिवजी तो उनकी अन्तिम प्रतिक्रिया की परीक्षा लेना चाहते थे, इसलिये अपने शिष्य की न बात ही सुनी और न अपने अन्याय को ही बन्द किया। जब समझाने-बुझाने से कोई प्रभाव न हुआ तो परशुराम जी अपना फरसा लेकर उनके विरुद्ध खड़े हो गये और उन पर वार कर दिया। शिवजी के मस्तक पर बहुत चोट आई और सारे शिष्य घबड़ा गये। वे परशुराम को गुरु पर वार करने के कारण बुरा-भला कहने लगे।

इस पर शिवजी ने उन सबको समझाते हुए कहा कि यह जो कुछ अन्यायपूर्ण क्रिया मैंने की है वह सब अन्याय के प्रति तुम्हारी प्रतिक्रिया देखने के लिये। अन्याय को देखकर परशुराम के अतिरिक्त तुम सब मौन हो गये। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना प्रत्येक धर्मशील व्यक्ति का मानवोचित कर्तव्य है।

ब्रह्मचारी लक्ष्मण

लक्ष्मण राम के साथ चौदह वर्ष वनवास में रहे और एक सेवक की तरह अपने कर्त्तव्य पर डटे रहे। जब श्री राम सोते थे तब लक्ष्मण

पहरा देते । रामायण की एक धुरी श्री राम है तो दूसरी लक्ष्मण । अपनी स्त्री, माता-पिता आदि को छोड़ कर लक्ष्मण ने भगवान् राम के साथ जंगल का जीवन बिताने का निश्चय किया । महा बलशाली मेघनाद के समक्ष राम स्वयं पीछे हट गये और उन्होंने लक्ष्मण को आगे किया क्योंकि लक्ष्मण ही उसे मार सकते थे । श्रीराम के बाद लक्ष्मण ही राम सेना के सर्वोच्च सेनापति थे ।

धर्म-रक्षा के लिए अवतरित हुए भगवान् राम के कार्यों में निरंतर सहायक रह कर अत्याचारियों को परास्त करने में अपने भाई के सहायक रह कर लक्ष्मणजी ने भी अवतार का ही उद्देश्य पूरा किया और वे भी भगवान् की तरह ही जगत्बन्ध बने ।

महावीर हनुमान

श्री हनुमान जहाँ श्रीराम के परम-भक्त थे वहाँ उद्योग, उत्साह साहस के साकार अवतार थे । रामायण के सम्पूर्ण प्रसङ्ग में हनुमान महान् योद्धा, कर्मठ, साहसी व्यक्ति के रूप में परिलक्षित होते हैं । श्रीराम का दर्शन होने के पश्चात् श्री हनुमान ने राम काज के लिए कभी भी तनिक-सा प्रमाद नहीं किया । सीता की खोज, लङ्का दहन, समुद्र लंघन, रावण-मेघनाद के साथ निर्भयता का व्यवहार, युद्ध में अपूर्व क्षमता का प्रदर्शन, ये सब श्री हनुमान के पुरुषार्थ, उद्योग, शक्ति, सामर्थ्य के उदाहरण हैं । भय, आलस्य, चिन्ता, क्षोभ जैसी कोई भी बात श्री हनुमान के साहसी असामान्य घटनाओं से भरे जीवन में नहीं मिलती ।

धर्म-पक्ष का समर्थन करने के लिए, अन्यायी से लड़ने के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर उन्होंने जनसाधारण के सामने अपना उज्ज्वल उदाहरण रखा । इसी से वे बानर होते हुए भी देवता माने गये और भारत भर में बड़ी श्रद्धा के साथ उनकी पूजा होती है ।

गिद्धराज जटायु

रावण सीता का अपहरण करके बड़ी तीव्र गति से चला जा

रहा था। सीता हृदयद्रावक विलाप कर रही थी। यह सब घटना मार्ग में जटायु ने देखी उसका हृदय यह सब देखकर बड़ा व्याकुल हुआ और वह अबला की सहायता करने तथा दुष्ट को दण्ड देने के लिए तत्पर हो गया। एक झपट्टे में ही महाबली रावण को अस्त-व्यस्त कर दिया, लेकिन सशस्त्र रावण का सामना वह वृद्ध पक्षी कहाँ तक करता? रावण ने अपने खड्ग से जटायु के पर काट दिये और वृद्ध जटायु ने अपना जीवन अनीति का प्रतिरोध करने में मिटा दिया।

बानरों का पुरुषार्थ

बालि-पुत्र अङ्गद, जिसे मरते समय बालि भगवान् राम को सौंप गये थे, अपने पिता की इच्छानुसार श्रीराम के कार्य में सदैव तत्पर रहे। अङ्गद राम सेना के वरिष्ठ सेनापतियों में से थे। रावण की सभा में जाकर अपने बल का प्रदर्शन करके सबको आश्चर्य में डाल दिया। स्वयं रावण भी उनकी चुनौती का सामना न कर सका। छोटे से धर्मात्मा का बल अनीतिवान् सेनापति से भी अधिक होता है।

नल-नील बानर सेना के कुशल इंजिनियर थे जिन्होंने बिना विश्राम किये समुद्र पर पुल बाँध कर तैयार कर दिया। समुद्र पर पुल बाँधने से लेकर रावण से युद्ध करने तक राम सेना का प्रत्येक बानर अपने जीवन की परवाह न करके काम करता रहा।

बानर स्वल्प शक्तिमान थे तो भी उन्होंने अधर्म का प्रतिरोध करने में अपना सर्वस्व झोंक दिया और राक्षसों द्वारा मारे जाने की तनिक भी चिन्ता न की। ऐसे शूरवीर धर्मात्माओं का जीवन ही इस संसार में घन्य माना जाता है।

पराक्रमी भीम

अपने अज्ञातवास काल में पाण्डव एक ब्राह्मण के घर पर ठहरे हुए थे। उस नगर के बाहर एक भयङ्कर दैत्य रहा करता था। नियमानुसार क्रमशः प्रत्येक घर में से एक आदमी को उसका भोजन बनाने के



लिए जाना पड़ता था । आज उस ब्राह्मण के घर में से ही किसी को जाना था । सारे घर वाले बड़े दुःखी थे और अपने सङ्कट पर रो रहे थे । जब कुन्ती को यह मालूम हुआ तो भीम को यह बात बताई । दुःखी का दुःख दूर करने के लिए भीम ने स्वयं वहां दैत्य के पास जाने का निर्णय किया । वहाँ जाकर महा बलशाली भीम ने उस दैत्य का काम तमाम कर दिया और इस तरह समस्त नगरवासियों का कष्ट दूर किया । भीम पाण्डवों में सबसे अधिक शक्तिशाली, पुरुषार्थी, स्वाभिमानी व्यक्ति थे ।

अधर्मी राक्षस का अत्याचार उन्हें तनिक भी सहन न हुआ और असहायों की, उत्पीड़ितों की रक्षा के लिए उन्होंने अपने को खतरे में डाल कर भयानक राक्षस से सङ्घर्ष किया ।

देवताओं की सहायता

असुरों ने देवताओं को बुरी तरह परास्त किया । इन्द्र के नेतृत्व में वे राक्षसों का सामना करने में असमर्थ रहे । तत्पश्चात् महाराज दशरथ को देवताओं की मदद के लिए बुलाने का निश्चय किया गया । महाराज दशरथ ने देवताओं की ओर से युद्ध की कमान सम्हाली और असुरों को परास्त किया ।

दशरथ की तरह ही अर्जुन भी देवताओं की सहायता के लिए गये थे । वहाँ उन्होंने असुरों को परास्त करके देवताओं को विजय दिलाई ।

साहसी गिलहरी

जब भगवान् राम लंका प्रार करने के लिए समुद्र का पुल बँधवा रहे थे, नल-नील उसके कार्य में जुटे हुए थे, तब एक गिलहरी अपने बालों में घूल भर-भर कर समुद्र में डालने का कार्य अनवरत रूप से करने लगी । गिलहरी के उस श्रम को देखकर रामचन्द्रजी ने उससे पूछा तो गिलहरी ने यही उत्तर दिया, मैं छोटी हूँ तो क्या ? धर्म युद्ध

भी मुझे भी भाग लेना चाहिए और अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो बन पड़े सो करना चाहिए ।

गिलहरी की इस धर्म-भावना को देखकर भगवान् राम बहुत प्रसन्न हुए और उसकी पीठ पर प्यार का हाथ फेरा । कहते हैं गिलहरी की पीठ पर जो काली धारी हैं वे भगवान् राम की श्यामल उँगलियों के स्पर्श से ही बनी हैं ।

— × × —

स्वाधीनता का धर्म युद्ध लड़ने वाले वीर बलिदानी

साहसी स्कन्दगुप्त

मगध के राजा कुमारगुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त जब किशोर ही था तब उसने मालूम किया कि हूण लोग बार-बार भारत पर हमला करते हैं और युद्ध नियमों के विपरीत धूर्ततापूर्वक छल-बल से भारी हानि पहुंचाते हैं । स्कन्दगुप्त से अपने देश का यह अपमान न देखा गया, उसने पिता से आग्रह किया कि हूणों के देश में जाकर उन्हें दण्ड देने के लिए उसे आज्ञा दी जाय । पिता बड़े असमंजस में थे क्योंकि एक तो स्कन्दगुप्त अभी किशोर ही था, शरीर-बल और युद्ध-कौशल की दृष्टि से उसे अभी बच्चा ही कहा जा सकता था । दूसरे हूणों का देश बहुत दूर था । हिमाच्छादित पहाड़ों की चोटियाँ पार करके वहाँ जाना होता था । ऐसे कुमार्ग को पार करना सेना के लिए भी कठिन था । फिर हूण युद्ध में छल-बल से ही प्रधान रूप से काम लेते थे, ऐसी स्थिति में उसे आक्रमण की आज्ञा कैसे दी जाय यह समस्या कुमारगुप्त के आगे थी ।

पुत्र की देशभक्ति एवं उच्च आदर्श के प्रति अनन्य निष्ठा को देखकर कुमारगुप्त को झुकना पड़ा । चढ़ाई की आज्ञा मिल गई । स्कन्दगुप्त



मगध से दो लाख सैनिक लेकर चल पड़ा। पंजाब से आगे बढ़ कर हिमाच्छादित चोटियों को पार करती हुई सेना हूण प्रदेश में पहुँची और इस वीरता के साथ लड़ी की शत्रुओं के छक्के छूट गये उन्हें परास्त ही होना पड़ा। आज के ईरान और अफगानिस्तान तक उसने अपना राज्य कायम किया। इस विजय को करते हुए जब स्कन्दगुप्त भारत लौटे तो उनके स्वागत में मगध से पाँच कोस तक मार्ग सजाये गये और पूरे देश में विजयोत्सव मनाया गया।

पराक्रम के लिए आयु एवं शरीर बल का नहीं मनोबल और साहस का महत्त्व है।

छत्रपति शिवाजी

समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को जीवन की दीक्षा दी और शिवाजी ने अपने गुरु से दक्षिणा माँगने को कहा। समर्थ ने कहा — “शिवा ! तुम धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए, भारत-भूमि को परतन्त्रता से मुक्त करने के लिये आजीवन युद्ध करते रहो यही मेरी दक्षिणा है।” शिवाजी ने नत मस्तक हो कर गुरु आज्ञा को स्वीकार किया और उसी दिन से मुगल बादशाह के विरुद्ध जोर-शोर से युद्ध प्रारम्भ कर दिया। यत्न-तत्न छापामार लड़ाई की, अनेकों किलों को जीत लिया और समस्त भारत में मुगल शासन की नींव को हिला दिया। मुगल बादशाह ने शिवाजी को बुला कर प्रलोभनयुक्त सन्धि के कई प्रस्ताव रखे किन्तु वे अपनी प्रतीज्ञा से नहीं हटे और उन्हें अस्वीकार कर दिया। इस पर मुगल बादशाह ने उन्हें नजरबन्द कर लिया। लेकिन चतुर शिवाजी फूलों की टोकरी में छिप कर एक दिन निकल गये। शायस्तखाँ जिसे बादशाह ने शिवाजी के विरुद्ध मोर्चा जमाने को भेजा था उसे अपने डेरे में सोते हुए ही जा घेरा और घायल कर दिया। अरुजलखाँ जो धोखे से शिवाजी को मारने पहुँचा था अपने वार करने के पहले ही शिवाजी के हाथों मारा गया।

एक बार शिवाजी पर प्रसन्न हो कर देवी ने दर्शन दिए और कहा—‘शिवा ! मैं ही भारती हूँ ?’ “मातृभूमि. भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए तुम्हारे प्रयत्नों से मैं प्रसन्न हूँ ।” और फिर एक दिव्य तलवार शिवाजी को प्रदान की । शिवाजी ने उसे अपने मस्तक से लगाते हुए अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया । सचमुच वे आजीवन अपनी प्रतिज्ञा के लिये लड़ते रहे ।



राणा प्रताप

जयपुर के राजा मानसिंह गुजरात की तरफ से आ रहे थे । मार्ग में उन्होंने मेवाड़ में पड़ाव डाला और चित्तौड़ के महाराजा के मेहमान बने । समय चित्तौड़ में महाराणा प्रताप शासन करते थे । राजा मानसिंह के साथ भोजन पर उन्होंने अपने पुत्र अमरसिंह को भेज दिया और स्वयं न गये । इस पर मानसिंह ने पुछवाया तो प्रताप ने कहला भेजा “जिसे अपने धर्म, जाति, संस्कृति का गौरव न रहा हो, जो आततायीयों से मिल गया हो, उन्हें अपनी लड़की दे दी हो उसके साथ मैं भोजन नहीं कर सकता ।”

इसे अपना अपमान समझ कर मानसिंह बिना भोजन किये हुए ही वहां से लौट गया और दिल्ली में बादशाह के कान भरे और मुगल सेना ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया । प्रसिद्ध हल्दी-घाटी का युद्ध प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ के राजपूतों के स्वाभिमान और स्वतन्त्रता प्रियता या जातीय-गौरव की ज्वलन्त की कहानी है । मुट्ठीभर राजपूतों ने विशाल मुगल सेना को गाजर-मूली की तरह काटा. किन्तु सीमित शक्तियों से उस अपार सेना का कहाँ तक सामना किया जाता ? प्रताप ने युद्ध में मारे जाने के बजाय पुनः शक्तिशाली और संगठित बन कर शत्रु का मुकाबला करने के उद्देश्य से जंगलों को अपना घर बनाया और मुगलों से छापामार युद्ध जारी रखा ।

अकबर ने कई बार प्रताप को सम्मानपूर्ण सन्धि के प्रस्ताव भेजे

किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। जंगलों में भटकते रहे, भूखे रहे घास-पात की रोटियाँ खाई, वह भी एक बार बनबिलाव बालक के हाथ में से छीन कर ले गया। साथियों ने बादशाह से सन्धि करने की कही, लेकिन स्वतन्त्रता के महाव्रती प्रताप अपने उद्देश्य से नहीं डिगे और मुगलों के विरुद्ध युद्ध करते रहे।

राणा साँगा

महाराणा साँगा उदयपुर के शासक थे। अपने शौर्यशक्ति के लिए वे प्रसिद्ध थे। अपने देश, धर्म और संस्कृति की वे थोड़ी-सी भी हानि नहीं देख सकते थे। आक्रमणकारी एवं अत्याचारियों के विरुद्ध लड़ने वाले राणा साँगा ने बाबर के साथ युद्ध किया था। अपने शरीर में ८० घाव होते हुए भी वे डट कर लड़ते रहे और जब तक दम में दम रहा धर्म-युद्ध से पीछे न हटे।

महाराजा रणजीतसिंह

उन दिनों इन्दौर के होल्कर राजा का अंग्रेजों से संघर्ष चल रहा था। लेकिन उसकी शक्ति मुकाबले में कम पड़ रही थी। उन्होंने भरतपुर के तत्कालीन महाराजा रणजीतसिंह से मंत्रणा की और तब रणजीतसिंह ने लार्ड लेक के सेनापतित्व में सगठित अंग्रेजी सेना को बुरी तरह परास्त किया। अंग्रेजों ने रणजीतसिंह से कई बार सन्धि के प्रस्ताव रखे, लेकिन उन्होंने स्वीकार न करते हुए अपनी स्वतन्त्रता कायम रखी और देश के गौरव के विरुद्ध अंग्रेजों को तनिक भी रियायत न दी।

हठी वीर हमीर

दिल्ली के तत्कालीन बादशाह अल्लाउद्दीन खिजली का एक सरदार भाग कर रणथम्भौर के राजा हमीर की शरण में आ गया। बादशाह ने हमीर से सरदार को माँगा। लेकिन उन्होंने कहला भेजा कि 'अन्याय पीड़ितों की रक्षा करना अपना परम धर्म समझता हूँ' और इसके साथ ही बादशाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस पर

अल्लाउद्दीन खिजली ने रणथम्भौर पर चढ़ाई कर दी। थोड़े किन्तु अपनी प्रतिज्ञा के प्रति निष्ठावान् राजपूतों ने प्रबल रूप से खिजली की सेना पर आक्रमण किया। अल्लाउद्दीन के सैनिकों के पैर उखड़ गये और वे अपना बचाव करते हुए वापिस लौट गये। अन्यायी आक्रमणकारी में वह बल कहाँ जो धर्म-रक्षा के लिए प्राण हथेली पर रख कर लड़ते वालों में होता है ? हमीर की छोटी सी सेना ने एक बार तो आततायी को परास्त करके ही दम लिया।

वीर दुर्गादास

औरङ्गजेब ने दुष्टता का दुश्चक्र रच करके उदयपुर के महाराजा यशवन्तसिंह को काबुल भेज कर वहाँ छल से उन्हें मरवा दिया। उनके जीवित वचे हुए एकमात्र बालक अजीतसिंह पर भी औरङ्गजेब की कुदृष्टि थी। लेकिन यशवन्तसिंह के स्वामि-भक्त सरदार दुर्गादास ने चतुराई से अजीतसिंह को बादशाह के दुश्चक्र से निकाल कर अपने संरक्षण में ले लिया और स्वयं जोधपुर के शासन सूत्र को सँभाले रहे। अजीतसिंह बड़े होते रहे। औरङ्गजेब ने कई प्रलोभनयुक्त प्रस्ताव उनके समक्ष रखे, लेकिन दुर्गादास अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए। उन्होंने औरङ्गजेब को जोधपुर पर हाथ नहीं रखने दिया। कई बार औरङ्गजेब ने सेना सहित आक्रमण भी किया, लेकिन दुर्गादास के नेतृत्व में राजपूतों ने उसे परास्त करके वापिस भेज दिया।

राणा राजसिंह

चञ्चलकुमारी एक छोटे जागीरदार की पुत्री थी। दुष्ट औरङ्गजेब की कुदृष्टि उस पर गई और उसने उसे प्राप्त करने के लिए लड़की के पिता के पास सन्देश भेजा। शक्ति में छोटे होते हुए भी स्वाभिमानी जागीरदार इसे कैसे स्वीकार कर सकते थे ? बादशाह अपनी आज्ञा का उत्तर—“अस्वीकार” में पाकर बड़ा क्रुद्ध हुआ अपनी सेना को भेज कर शक्ति-बल से चञ्चलकुमारी को हरण करने की आज्ञा दे दी।

यह समाचार मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा राजसिंह को प्राप्त हुए तो वे अत्याचारी से निर्बल की रक्षा करना अपना क्षात्र धर्म समझ कर सेना तैयार कर मुगल सेना का मुकाबला करने चल दिये। राज-पूतों ने मुगल सेना को अरावली की घाटियों में घेर कर बुरी तरह परास्त किया और इस प्रकार एक अबला की लाज लुटने से बच गई।

✓ कर्मावती देवी

मेवाड़ के राजा समरसिंह की मृत्यु के उपरान्त राज-काज चलाने का भार उनकी धर्मपत्नी कर्मादेवी के कंधों पर आया। वे साहसपूर्वक अपने कठिन उत्तरदायित्व को भली प्रकार निवाहने लगीं।

मुहम्मद गौरी उन दिनों इसी घात में रहता था कि जो राज्य थोड़ा दुर्बल दिखाई पड़े, पहले उसी पर चढ़ाई कर दे। उसे मेवाड़ कम-जोर दिखाई दिया। सेनापति कुतुबुद्दीन को उसने चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी। छोटा-सा मेवाड़ यवनों की विशाल सेना से घिर गया।

संख्या बल को देखते हुए मेवाड़ के सेना नायक चिन्ताग्रस्त हो रहे थे। रानी ने उनकी मनःस्थिति को समझा और दूसरे ही क्षण योद्धाओं के वस्त्र पहन कर दरबार में आ गई। उसने बिजली की तरह कड़क कर कहा—शरीर में रक्त की अन्तिम बुँद रहने तक हमें आत-तायी से लड़ना है। अत्याचार से जूझने के अतिरिक्त हमारे लिए और कोई मार्ग नहीं। जीत और हार यह तो कर्तव्य पालन में दोनों ही तुच्छ हैं। जिन्हें चलना हो मेरे साथ चले।

राज महलों की शोभा समझी जाने वाली रानी इतनी शौर्य सम्पन्न हो सकती है, इसकी कल्पना भी सेनापतियों को न थी। उनकी नसों में बिजली कौंधने लगी। देखते देखते राजपूत सेना हजारों गुने उत्साह के साथ शत्रुओं पर टूट पड़ी, कुतुबुद्दीन के पैर उखड़ गये, मेवाड़ की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रही।

समीक्षकों ने कहा—सेनाने नहीं साहस ने यह विजय प्राप्त की।

बारह वर्षीय वीर बादल

दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिजली ने चित्तौड़ के राणा भीमसिंह की रानी पद्मिनी के अपहरण की योजना बनाई। दर्पण में मुख देखकर लौट जाने की शर्त पूरी होने पर भी जब वह न माना और राणा को कैद कर लिया तो युद्ध की विस्तृत योजना बनाने के लिए राणा को छुड़ाना आवश्यक था। इसके लिए एक चाल चली गई। बादशाह को कहला भेजा कि पद्मिनी का डोला आ रहा है। राणा छोड़ दिये गये। पद्मिनी की तथा-कथित पालकी में एक लड़का बैठा था—बादल। बादल भी जान की बाजी लगा कर ही पालकी में बैठा था। वहाँ पहुँचने पर उसने पालकी में से निकल कर तैलवार सँभाली। एक दूसरे लड़के गोरा के नेतृत्व में पालकियों के कहार बने हुए राजपूत भी निकल पड़े और युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त हुए। बारह वर्षीय बादल ने तो और भी कौशल दिखाया। वह लड़ता-मरता किले में आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाने में भी सफल हुआ और अन्त में अपने भी प्राण विसर्जित करके धन्य बना।

बाजीराव पेशवा

अपनी आजादी, जातीय गौरव, संस्कृति की रक्षा के लिए लड़ने वालों में बाजीराव पेशवा का भी नाम प्रख्यात है। उन्होंने जीवनभर मुगलों के विरुद्ध युद्ध किया और मुगल सत्ता एक तरह से उनके समक्ष झुक गई थी। उन्होंने महादाजी सिन्धिया को अपना सूवेदार बनाकर दिल्ली में रखा था जिसके निर्देश के अनुसार बादशाह को चलना पड़ता था। उस समय पेशवाओं की शक्ति इतनी प्रबल थी कि सदा-शिवरामभाऊ के नेतृत्व में भारतीय सेना ने अहमदशाह-दुर्रानी को परास्त करके ही वापिस लौट जाने के लिए मजबूर कर दिया। सङ्घटन, शक्ति और शासन चातुर्य का यह श्रेय बाजीराव पेशवा को ही है। मातृभूमि की रक्षा के लिए उनने अपनी परिस्थितियों के अनुसार कुछ उठा न रखा।

१८५७ के गदर की दो मुख्य विभूतियाँ

रानी लक्ष्मीबाई

गदर कालीन अंग्रेज सेनापति ह्यूरोज ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "विद्रोहियों में यदि कोई मर्द था तो, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई" गदर में अंग्रेजों के साथ सबसे जोरदार लड़ाई यदि कहीं हुई तो वह झाँसी में ही हुई थी। जब अंग्रेज चारों ओर अपना सम्राज फैला रहे थे तो झाँसी की रानी को भी उन्होंने पराधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। लेकिन लक्ष्मीबाई ने कहला भेजा "जीवित रहते हुए मैं परतन्त्रता स्वीकार नहीं करूँगी।" अंग्रेजी सेना ने झाँसी पर चढ़ाई कर दी। रानी लक्ष्मीबाई ने उसका डटकर कड़ा मुकाबला किया। लड़ाई में एक अंग्रेज सैनिक की तलवार से उसका आधा सिर और एक आँख कट गई इस पर भी उन्होंने वापिस मुड़कर उसे मौत के घाट उतार दिया अंग्रेज रानी को गिरफ्तार करना चाहते थे लेकिन "जीते जी हाथ न आऊँगी" इस प्रतिज्ञा को रानी ने पूरा किया और जब बचने का कोई उपाय न रहा तो एक घास की ढेरी में भस्मसात हो गई।

पेशवा नाना साहब

पेशवा नाना साहब सन् १८५७ के गदर के प्रमुख पात्र है। वस्तुतः दासता के विरुद्ध इस सशस्त्र संग्राम का संचालन इन्होंने ही किया था। नाना साहब ने देश में घूम-घूमकर समस्त राजाओं, नवाबों को संघठित किया और गदर के लिए प्रेरित किया। विदेशों में अजीमुल्ला-खाँ को भेजा जिन्होंने वहाँ भारत के स्वतन्त्र होने में अन्य देशों की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। तत्पश्चात् पेशवा के सेनापति थे। उनके नेतृत्व में विद्रोहियों ने अंग्रेजों को परास्त किया। कानपुर में अंग्रेजों को घेर करके मारा। यद्यपि कई कारणों से इसमें पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुई तथापि छापामार युद्ध जारी रखा। नाना साहब भारत

के उत्तरांचल के जङ्गलों में छिपकर युद्ध का संचालन करते रहे। अंग्रेजों ने उनके समक्ष कई प्रलोभनपूर्ण प्रस्ताव रखे किन्तु नाना साहब ने सबको ठुकरा दिया। वे जंगलों में ही मर गये लेकिन स्वतन्त्रता के लिए आजीवन लड़ते रहे। सेनापति तात्याटोपे के पकड़े जाने पर अंग्रेजों ने मृत्युदण्ड दिया पर मातृभूमि की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करते समय भी तात्या हँसते ही रहे।

आरा (बिहार) के बीर कुँवरसिंह ने भी स्वल्प साधनों द्वारा ही अंग्रेजों का ऐसी बहादुरी से डट कर मुकाबला किया था कि कुछ समय के लिए उस प्रदेश से अंग्रेजी सत्ता ही उखड़ गई थी। बाद में बहुत शक्तिशाली सेना भेज उनको अपने किले में से हटाया जा सका।

गदर के अवसर पर मेरठ, कलकत्ता, इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, दिल्ली, नागपुर आदि अनेक स्थानों में भी देशभक्त जन-नायकों ने अंगरेजी सत्ता को उखाड़ने के लिए बड़े शौर्य और वीरता का परिचय दिया था और बहुत समय तक अपना शासन कायम कर दिया था। इन सब वीरों के नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए हैं और हमको इस बात की शिक्षा और प्रेरणा देते हैं कि मातृभूमि पर अन्याय को सहन करना किसी स्वाभिमानी व्यक्ति को शोभा नहीं देता। अन्यायी और आक्रमणकारी का मुकाबला जी जान से करना मनुष्य का परम धर्म है।

काँग्रेस आन्दोलन के कुछ नर-नाहर

✓ लोकमान्य तिलक

श्री लोकमान्य तिलक को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का मन्त्र-दाता कहा जाता है। उन्होंने उस समय जब अंग्रेजों का आधिपत्य, वर्चस्व समस्त भारत पर छाया हुआ था, कोई उनके खिलाफ कुछ कह भी नहीं सकता था, स्वतन्त्रता का मन्त्र भारत को दिया कि “स्वतन्त्रता

हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम उसे लेकर रहेंगे।" तिलक ने स्व-राज्य आन्दोलन की एक व्यवस्थित रूपरेखा बनाकर देशवासियों को इस ओर प्रेरित किया। स्वतन्त्रता तथा जातीय गौरव का पाठ सिखाने, अंग्रेजों के खिलाफ बोलने के लिए उन्होंने निर्भयता के साथ पत्रकारिता और सभाओं के माध्यम से अपने विचार जनता को दिये। अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार किया। कई मुकदमे उन पर चलाये और ६ साल की लम्बी सजा देकर माण्डले की जेल में रखा। लेकिन वे अपने ध्येय पर अन्त तक अटल रहे। आजीवन अन्याय के प्रतिकार और न्याय की रक्षा के प्रयत्न में लगे रहे।

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी ने जब अपने यौवन काल में अपना पैर रखा तो संसार में शक्तिवानों का निर्बलों पर, बड़ों का छोटों पर, साम्राज्यवादियों का परतन्त्र लोगों पर होने वाला भीषण अत्याचार देखकर उनकी आत्मा रो पड़ी और इसी के विरुद्ध जीवन भर संघर्ष करने पर सामान्य व्यक्तित्व के मोहनदास करमचन्द गाँधी विश्ववन्द्य "महात्मा गाँधी" के नाम से संसार के समक्ष आये। अफ्रीका में रङ्गभेद के विरुद्ध सत्याग्रह से लेकर भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए असहयोग, नमक सत्याग्रह, स्वदेशी आन्दोलन, तथा आत्म-शुद्धि के प्रयत्न स्वरूप लम्बे उपवास, अछूतोंद्वारा का कार्य, साम्प्रदायिकता का विरोध जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में उन्होंने अपने आप को घुला दिया अंग्रेजों का अत्याचार, जेल यातनायें, अपमान, समाज विरोधी तत्त्वों का विरोध आदि कष्टों में होकर उन्हें गुजरना पड़ा और इसी में उन्हें अपना जीवन भी उत्सर्ग करना पड़ा।

सरदार पटेल

नव भारत के निर्माताओं में सरदार पटेल का नाम 'लौह पुरुष' के रूप में लिया जाता है। स्वराज्य आन्दोलन में प्रसिद्ध बारडोली का



सत्याग्रह पटेल के नेतृत्व में किया गया था। अनेकों रियासतों के रूप में बिखरे हुए विसंगठित भारत को एक सङ्गठित राष्ट्र का रूप देने में पटेल का ही हाथ मुख्य था। इसके अतिरिक्त स्वाधीनता के उपरान्त देश पर आने वाली कई कठिनाइयों का उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ समाधान कर देश को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाया। सरदार एक ऐसे लीह पुरुष थे जो झुकना न जानते थे और अपनी पैनी सूझ बूझ आत्म-विश्वास, कुशलता से विरोधियों को कुचल देते थे। एक सच्चे त्यागी तपस्वी की तरह धर्मराज्य स्थापित करने के लिए उन्होंने अपनी शक्ति-भर सब कुछ किया। उनका सारा जीवन इसी धर्म युद्ध में लगा।

महामना मालवीय

पण्डित मदनमोहन मालवीय भारतीय संस्कृति, हिन्दूधर्म के महान् सेवक रहे हैं। उन्होंने धार्मिक और सांस्कृतिक माध्यमों से राष्ट्र में बहुत बड़ी जागृति पैदा की। भारतवासियों में एकता के लिए, सङ्गठन के लिए वे आजीवन प्रयत्न करते रहे। काशी विश्वविद्यालय भारत के सांस्कृतिक निर्माण में एक महान् देन है मालवीय जी की। भारतवासियों के विग्रह, असङ्गठन और परस्पर लड़ाई झगड़े से उन्हें बड़ा दुःख होता था। धर्म राज्य की स्थापना के लिए वे अहिंसा प्रयत्न करते रहे और अपने जीवन को तिल-तिल जलाकर देश में अभिनव प्रकाश उत्पन्न कर सकने में सफल हुए।

लाला लाजपत राय

लाला लाजपत राय पंजाबी केशरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे एक बड़े विद्वान् और सफल वकील थे। किन्तु उन्होंने अपनी विद्वता, शिक्षा सामर्थ्य को स्वार्थ का साधन न बना कर राष्ट्र के जागरण एवं स्वतन्त्रता आन्दोलन जैसे महान् कार्य में लगाया। पंजाब के साईमन कमिशन का उन्होंने झुलकर विरोध किया और उसका नेतृत्व स्वयं सम्हाला। अंग्रेज पुलिस अधिकारी सौण्डर्स की आज्ञा से भीषण लाठी

प्रहार हुआ जिसकी मर्मान्तिक चोटों को लालाजी सहन न कर सके और स्वर्गवासी हो गये। उनकी यज्ञ कीर्ति ससार में सदा अमर रहेगी।

✓ सरोजिनी नायडू

सरोजिनी नायडू भारत की अग्रगण्य महिलाओं में से हैं जिन्होंने अपने घर की चहार दीवारों से निकल कर राष्ट्र के निर्माण में महान् हाथ बटाया। वे अच्छी साहित्यकार, कवि एवं सुशिक्षित महिला थीं। अपने सभी गुणों को उन्होंने देश की सेवा का साधन बना लिया। उन्होंने राष्ट्र भक्ति के गीत लिखे। स्वराज्य आन्दोलन में आगे रहकर काम किया। अनेकों बार जेल गई। अपनी योग्यता, क्षमता के कारण कांग्रेस की अध्यक्ष रही। अपने अध्यक्षीय काल में कांग्रेस का बड़ा अच्छा संघठन कर उसे राष्ट्र के उत्थान में अधिक सक्रिय बनाया। तलवार तो उन्होंने नहीं चलाई पर रचनात्मक दृष्टि से अपना जीवन राष्ट्र को समर्पित कर जो कार्य वे करती रही वह युद्ध भूमि में प्राण देने वाले योद्धाओं से किसी भी प्रकार कम न था।

सुभाषचन्द्र बोस

श्री सुभाषचन्द्र बोस भारतीय स्वाधीनता संग्राम के एक महान् सेनानी हैं जहाँ एक ओर देश के नेता शान्तिपूर्ण प्रयत्नों से देश की आजादी के लिए प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ उन्होंने मशस्त्र युद्ध के कार्यक्रम को अपने लिए चुना और देश-विदेशों में घूम कर भारत की आजादी के लिए सहयोग उपलब्ध किया। श्री सुभाष ने अपने प्रयत्नों से आजाद हिन्द फौज का संघठन किया और अंग्रेजों को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करके मानसिक दृष्टि से बहुत कमजोर कर दिया। अन्त तक भारत की स्वाधीनता के लिए अपने ढंग से प्रयत्न करते रहे और इसी में अपने जीवन को लगा दिया। अंग्रेजों की गिरफ्तारी से बचकर अकेले सुभाष विश्व के महत्त्वपूर्ण लोगों से मिले और अपने प्रयत्नों में सहयोग प्राप्त किया।

जवाहरलाल नेहरू

गाँधीजी तथा तत्कालीन राष्ट्र भक्तों की प्रेरणा से पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने अपना सर्वसम्पन्न, सुखी और आनन्दपूर्ण जीवन छोड़कर अपने आपको स्वराज्य आन्दोलन का एक सेनानी बना दिया और उच्च शिक्षा, सामर्थ्य अपने साधनों को उन्होंने राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया। स्वराज्य आन्दोलन में उन्हें कठोर यातनाएँ सहनी पड़ी, त्याग का जीवन बिताना पड़ा। अपनी मृत्यु तक वे अनथक परिश्रम करते हुए भारत को समृद्ध, सम्पन्न, खुशहाल बनाने हेतु अपने स्वप्नों को पूर्ण करने में लगे रहे। पं० नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगमञ्च पर भारत को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया और विश्व में इसे प्रतिष्ठा प्रदान की। संसार को शान्ति, सहिष्णुता, सहअस्तित्व की महान् उपलब्धियों के लिए पण्डितजी ने निरन्तर प्रयत्न किया।

X

X

X

देश के स्वाधीनता संग्राम में जिन महापुरुषों ने भाग लिया था और अपने अपूर्व त्याग तथा बलिदान द्वारा स्वराज्य की स्थापना को सम्भव बनाया था उनकी नामावली बहुत बड़ी है। मोतीलाल जी नेहरू तथा सी० आर० दास ने जिस प्रकार अपनी लाखों रुपये की वकालत को छोड़ा था, सेठ जमनालाल जी ने अपने व्यापार और सम्पत्ति का मोह त्याग कर आन्दोलन में भाग लिया। राजेन्द्र प्रसाद, डा० विधान-चन्द्रराय, गोविन्द वल्लभपन्त, रफी अहमद कदवई, टी० प्रकाशम, सन्तानम, अर्जुनलाल सेठी (राजस्थान) रविशङ्कर शुक्ल (मध्य प्रदेश) श्रीकृष्णप्रसाद सिंह (बिहार), श्रीसेन गुप्ता (बंगाल), भारतभक्त श्री एण्डरूज, श्रीगणेशशङ्कर विद्यार्थी (कानपुर) आदि बहुतसंख्यक देश भक्तों ने सब तरह के खतरों का सामना करते हुए स्वतन्त्रता आन्दोलन को सफल बनाने में योग दिया। इनके अतिरिक्त भी प्रत्येक प्रान्त और बड़े नगर में किसी न किसी प्रभावशाली तथा कर्मठ नेता ने आगे बढ़कर

जनता का मार्ग दर्शन किया और शासक-वर्ग के सब तरह के दमन और अन्याओं को सहन करते हुए पैर पीछे नहीं हटाया । इन सबके स्मरणीय चरित्र भारतवासियों के लिए सदैव प्रेरणादायक रहेंगे ।

क्रान्तिकारी संघर्ष के कुछ सेनानी

ला० हरदयाल, श्यामजीकृष्ण वर्मा

भारत में जहाँ देश के नेता, कूटनीतियुक्त कार्यक्रमों, अहिंसा, असहयोग आदि के आन्दोलनों के माध्यम से और क्रान्तिकारी अपने ढंग से मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए कार्य कर रहे थे, वहाँ लाला हरदयाल विदेशों में रहकर भारत की स्वाधीनता के लिए प्रचार करते रहे । विदेशों में भारतीयों के लिए सहयोग, सहानुभूति, समर्थन के लिए वे सारे संसार में घूमे और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की जानकारी विश्व की दी । इन्हीं की तरह श्री श्यामजीकृष्ण वर्मा देश से बहार रहकर भारत की सेवा करते रहे । संसार का लोक-मत भारत की स्वाधीनता के पक्ष में बनाने के लिए उन्होंने बहुत काम किया । उससे स्वाधीनता की घड़ी निकट आने में बड़ी सहायता मिली ।

घोष-बन्धु

योगीराज अरविन्द का प्रारम्भिक जीवन एक क्रान्तिकारी के रूप में ही शुरू हुआ था । वे क्रांतिकारियों के उच्चतम सदस्यों में थे और क्रांति की योजना का संचालन करते थे । इनके भाई बारीन्द्रकुमार घोष ने फैक्टरी का निर्माण कर क्रांति के लिए शस्त्रास्त्र उत्पादन में आत्मनिर्भर हुए ।

शचीन्द्रनाथ सान्याल

शचीन्द्रनाथ सान्याल काकोरी षड्यन्त्र केस के सदस्य श्रीविस्मल, लाहिड़ा, अशफाकउल्ला खाँ आदि के गुरु थे । क्रांतिकारियों में

प्राण फूँक कर उन्हें मातृ-भूमि की सेवा में लगाये रखने के लिए श्री सान्याल सतत संलग्न रहे।

खुदीराम बोस

प्रसिद्ध क्रांतिकारी खुदीराम बोस बम फेंकते हुए अँग्रेजों द्वारा पकड़ लिए गये, उन पर भी तरह-तरह के केस चला कर अन्त में मौत की सजा सुना दी गई। लेकिन आजादी के लिए मातृ-भूमि की सेवा में मरने का सङ्कल्प लेकर चलने वाले बोस गीता को छाती से लगाकर फाँसी के फन्दे पर सहर्ष लटक गये।

कन्हार्लाल दत्त

श्री कन्हार्लाल दत्त सरकार के विरुद्ध क्रांतियुक्त कार्यों में सक्रिय भाग लेने के कारण पकड़े गये और उन्हें भी फाँसी की सजा दी गई। लेकिन जिन्हें अपने उद्देश्य प्रिय होते हैं, उन्हें मौत भी नहीं डरा सकती। श्री दत्त का फाँसी के हुक्म सुनने और फाँसी लगने की तारीख के बीच में कई पौण्ड का वजन बढ़ गया था।

रामप्रसाद विस्मल

स्वाधीनता के लिए क्रांतिकारियों के संगठन, आवश्यक शस्त्रास्त्र आदि के लिए धन की भी अत्यन्त आवश्यकता पड़ती थी, जिसके लिए क्रांतिकारी सरकारी खजानों को लूटने का दुःसाहसपूर्ण कार्य करते थे। इसी उद्देश्य से प्रेरित काकोरी ट्रेन डकैती का काण्ड प्रसिद्ध है, जिसको रामप्रसाद विस्मल, राजेन्द्र, लाहिड़ा, अशफाकउल्ला खाँ आदि ने कार्यान्वित किया था। चलती हुई ट्रेन को रोककर उसमें जा रहे सरकारी खजाने को लूट लिया था। पकड़े जाने पर क्रूर अँग्रेजी सरकार ने इन्हें फाँसी पर लटका दिया था।

चन्द्रशेखर आजाद

चन्द्रशेखर आजाद भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के क्रांतिकारियों में मूर्धन्य व्यक्ति थे। उन्होंने बड़ी कुशलता से देशव्यापी क्रांति के कार्य-



क्रम की रूपरेखा बनाई थी और देश के कौने-कौने घूमकर सारे देश में क्रांतिकारियों को संगठित किया था। अंग्रेजी सरकार ने इन्हें जीवित पकड़ने के लिए बहुत प्रयत्न किये, बहुत बड़ा इनाम रखा। एक दिन इन्हें अकेले अंग्रेजी पुलिस ने घेर लिया किन्तु आजाद ने साहस न छोड़ा और एक पेड़ की आड़ में से गोलियाँ चलाते रहे, उधर पुलिस वाले चारों और से गोलियाँ चला रहे थे। जब आजाद के पास एक कारतूस शेष रह गया तो उसे अपने प्राण-विसर्जन का सहारा बना कर उन्होंने “जीवित न पकड़े जाने” की प्रतिज्ञा पूर्ण कर दिखाई। धर्म युद्ध के योद्धा चन्द्रशेखर आजाद आज नहीं हैं, पर उनकी कीर्ति अभी भी जीवित है और अनन्त काल तक जीवित रहेगी।

वीर भगतसिंह

आजादी के दीवाने और मातृ-भूमि के भक्त—भगतसिंह ने जब पुलिस कप्तान सौण्डर्स के नेतृत्व में हुए लाठी चार्ज में लाला लाजपतराय की आहुति होते देखा तो उनका खून खोल उठा और सौण्डर्स को सार कर इसका बदला चुकाया। विदेशी कूटनीतिज्ञ जब ऐसेम्बली-भवन में बैठ कर भारत को गुलाम बनाये रखने का कुचक्र रच रहे थे, उसी समय भगतसिंह ने ऐसेम्बली-भवन में बम फेंका और विदेशियों को चेतावनी दी कि भारतीय जनता अपनी स्वतन्त्रता के लिए सङ्घर्ष करती रहेगी।

भगतसिंह पकड़े गये उन्हें फाँसी की सजा मिली। पर उससे क्या, धर्म-युद्ध के इस योद्धा की मृत्यु भी अनीति से लोहा लेने वाली, आग को झड़काने में अनेक गुनी कारगर सिद्ध हुई।



तेजस्वी महात्माओं में से कुछ

जगद्गुरु शङ्कराचार्य

भारत में सनातन हिन्दू-धर्म का ह्रास हो गया था। श्री शङ्कराचार्य में यह सब नहीं देखा गया और उन्होंने कठोर तपस्या व ज्ञानावर्द्धन के पश्चात् धर्म के उत्थान का कार्यक्रम बनाया। महाराजा मान्धाता ने शङ्कराचार्य का शिष्यत्व ही ग्रहण किया वरन् एक शाशक की हैसियत से सभी तरह की सुविधाएँ सहयोग देकर धर्म के उत्थान के आन्दोलन को सफल बनाया। शंकराचार्य जब भ्रान्तियों का शमन करने के लिए, दिग्विजय के लिए निकले तब मान्धाता ने अपनी सेना उनकी सुरक्षा के लिए दे दी और आवश्यक खर्च की भी व्यवस्था की। धर्म-प्रचार में ऐसी सहायता करने वाले मान्धाता भी दिग्विजयी शङ्कराचार्य की तरह ही धन्य बने।

बत्तीस वर्ष की छोटी आयु में जगद्गुरु शंकराचार्य स्वर्गवासी हो गये। शारीरिक कष्ट रहते हुए भी उन्होंने अथक परिश्रम करके धर्म भावनाओं की प्रतिष्ठापना के लिये अपने समय में बहुत बड़ा कार्य किया। गृह-मुल छोड़ संन्यास भी उन्होंने इसी उद्देश्य के लिए लिया था।

मान्धाता की तरह ही राजा अशोक ने अपना राज्य, परिवार तथा सभी साधन, संसार भर में बौद्धधर्म के प्रसार के लिए लगा दिए थे और स्वयं एक सत की तरह रहता था। इस प्रकार अपने साधनों का धर्म स्थापना के लिए लगा देना भी धर्म योद्धाओं का ही साहसपूर्ण कार्य है।

समर्थ रामदास

समर्थ रामदास ने जहाँ शिवाजी को शक्तिबल के द्वारा देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित किया वहाँ समाज में राष्ट्रीय चेतना पैदा करने एवं लोगों में, शक्ति, साहस, स्वातन्त्र्य की भावना भरने के लिए जनता-

जनार्दन के बीच स्वयं जाकर कार्य किया। उन्होंने महाराष्ट्र में लगभग ८०० महावीर-मठ स्थापित किये उनमें धर्म सैनिकों के निवास एवं निर्वाह की व्यवस्था रहती थी। भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ प्रचार आदि के द्वारा ये धर्म सैनिक नवयुग का सन्देश सुनाते थे और लोगों में संघठन एवं अनुशासन की भावना पैदा करते थे। छत्रपति शिवाजी का स्वतन्त्रता संग्राम इस महावीर-मठों द्वारा ही पोषित होता था। सैनिक तथा धन इन्हीं स्रोतों में मिलता था।

गुरु गोविन्दसिंह

सिखों के धर्मगुरु तेगबहादुर को अपनी धार्मिक आस्थाओं के प्रति निष्ठावान् रहने और धर्मरक्षा के लिए सङ्घर्ष रत रहने के कारण मुगल बादशाह ने मरवा दिया। तेग बहादुर के पुत्र, गोविन्दसिंह जी किशोरावस्था में ही थे लेकिन इस घटना का प्रभाव उनके मन पर ऐसा पड़ा कि उन्होंने अपने पिता की तरह ही अजीवन धर्म के लिए संघर्ष करने की प्रतिज्ञा की। गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों का सङ्घठन किया। सिखों में धार्मिक आथा की जानकारी प्राप्त करने के लिए एकबार उन्होंने एक सभा बुलाई और धर्म के बलिदान करने के लिए लोगों को आह्वान किया। एक-एक करके पाँच व्यक्ति उठे और उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया। गुरु गोविन्दसिंह जी के शिष्य "पञ्चप्यारे" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को सङ्घठित करके मुगलों के प्रति ऐसा विद्रोह छेड़ा कि पंजाब में से उनके पैर उखड़ गये। गुरु गोविन्दसिंह के प्रयत्नों से ही सिख एक लड़ाका जाति बन सकी और राजा रणजीत-सिंह के नेतृत्व में उनके शिष्यों का एक बड़ा राज्य कायम हो सका।

धर्मरक्षा को गुरु गोविन्दसिंह ने ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा समझा और आजीवन उन्हीं भावनाओं को जन-मानस में भरते रहने के लिए प्रयत्न करते रहे।

बालक हकीकतराय ने भी अपने प्राण देना स्वीकार किया और धर्म त्याग कर मुसलमान बनने का भारी प्रलोभन ठुकरा दिया ।

बन्दा बैरागी

बन्दा बैरागी एक साधु थे और एकान्त में अपना जीवन भगवद्-भजन, में बिताया करते थे । गुरु गोविन्दसिंह की एकबार बैरागी से मुलाकात हुई । उन्होंने एकान्त सेवन को आपत्ति काल में हानिकारक बताते हुए कहा—“बन्धु ! जब देश, धर्म, संस्कृति की मर्यादाएं नष्ट हो रही हैं, हम गुलामी का जीवन बिता रहे हैं, आतताइयों के अत्याचार हम पर हो रहे हैं तब तक यह भजन, पूजन, ध्यान, समाधि आदि किस काम के हैं ?” गुरु गोविन्दसिंह को युक्तियुक्त वाणी सुनकर बन्दा बैरागी उनके अनुयायी हो गए और गुरु की तरह उनमें भी आजीवन देश को स्वतन्त्र करने, अधर्मियों को नष्ट करने और संस्कृति की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की । इसी उद्देश्य के लिए बन्दा बैरागी आजीवन प्रयत्नशील रहे । मुसलमानों द्वारा बैरागी पकड़े गए उन्हें एक पिंजरे में बन्द किया गया । मौत या धर्म परिवर्तन की शर्त रखी गई । लेकिन अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले बन्दा अपने ध्येय से तिलमात्र भी विचलित नहीं हुए । अन्ततः आतताइयों ने उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए । बन्दा अन्त तक मुसकराते रहे ।

फतेहसिंह-जोरावर

भय, धन, पद के लालच से इसी सन्दर्भ में गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे फतेहसिंह और जोरावरसिंह को भी मौत का भय दिखाकर मुसलमान बनने के लिये जोर डाला । किन्तु आदर्श बाप के बेटे अपने धर्म पथ से विचलित कैसे हो सकते थे ? उन्हें जीवित ही दीवार में चिन दिया गया, लेकिन धर्म को छोड़ना उन्होंने स्वीकार न किया ।

—X X—

समाज-सुधारकों में से कुछ अग्रणी

स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द का उदय उस समय हुआ था जब भारत धर्म के नाम पर असंख्यों अन्ध-विश्वासों, बुराइयों का शिकार हो रहा था। धर्म गुरुओं द्वारा भारत की भोली जनता बुरी तरह ठगी जा रही थी, बहकाई जा रही थी। धर्म, अज्ञान, मूढ़ता, अन्ध-विश्वास और ढोंग के रूप में परिणित होकर भारतवासियों के पतन का आधार बन रहा था। ऐसे समय इन सब बुराइयों का महर्षि ने दृढ़ता के साथ विरोध किया और सत्तम धर्म का उपदेश देकर मूढ़ता एवं अज्ञान में डूबे भारत की आत्मा को जगाया। धार्मिक, सामाजिक जीवन में जो चेतना आज दिखाई दे रही है, वह महर्षि के ही प्रयत्नों की देन है। इन सुधारवादी प्रयत्नों में स्वामी जी को बहुत बड़ा विरोध सहन करना पड़ा। इन्हें लोगों ने कई बार जहर दिया और अन्त में इसी से उनकी मृत्यु भी हो गई। विरोध का दृढ़ता से सामना करते हुए महर्षि आजीवन अपने ध्येय की पूर्ति में लगे रहे।

ठक्कर बापा

ठक्कर बापा गांधी युग में हरिजनों के उद्धार कार्य के महान् सेनानी माने जाते हैं। जाति-पाँति, छुआ-छूत के रोग ने भारतीय समाज को किस बुरी तरह छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त एवं असङ्गठित बनाया है, इसका उन्हें बहुत दुःख था। आजादी के ऊषा काल में ठक्कर बापा ने देश की इस बुराई को समझा और जी-जान से इन विषमताओं को मिटाने के लिए वे लग गये। हरिजन उत्थान एवं छुआ-छूत मिटाने के लिए उनने बहुत काम किया।

हरिबिलास शारदा

जिनके द्वारा संविधान में प्रस्तुत शारदा एक्ट प्रसिद्ध है, वे भारत के महान् व्यक्तियों में से हैं। उन्होंने बाल-विवाह की 'विकृतियाँ' और

इससे होने वाले समाज के पतन को देखा तो वे व्याकुल हो उठे और इसी की रोक-थाम के लिए शारदा एकट प्रस्तुत किया, जिसमें विचारशील जनता से बहुत बड़ा समर्थन मिला। १४ वर्ष से कम आयु की लड़की और १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों का विवाह इस 'शारदा कानून' के अनुसार ही दण्डनीय अपराध बना।

महर्षि कर्वे

महर्षि कर्वे का नाम भारतीय नारी उत्थान के इतिहास में सर्वोपरि है। उन्होंने भारत की स्त्रियों की दुर्दशा देखी तो उनकी आत्मा रो पड़ी। जिस पर देश की भावी पीढ़ियों के निर्माण का उत्तरदायित्व है, जो हमारे समाज की प्रबन्धकर्ता है, गृहणी के रूप में उनकी दुर्दशा रहते हुए देश के उत्थान की कल्पना करना बड़ी भूल है। इसके लिए महर्षि ने नारी शिक्षा का आन्दोलन चलाया। कई कालेज, विद्यालय स्त्रियों की शिक्षा के लिए खोले गये। विधवाओं के उद्धार के लिए श्री कर्वे ने स्वयं एक विधवा से अपना विवाह कर उनके कष्ट निवारण का मार्ग प्रशस्त किया। बस सम्बन्ध में श्री कर्वे को समाज के परम्परावादी अन्य लोगों से घोर अपमान और विरोध का सामना करना पड़ा, जिसे उन्होंने सरलता से सहन किया और अपनी ध्येय-पूर्ति में लगे रहे।

स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द ने देश में शिक्षा प्रसार, स्वाधीनता संग्राम, हिन्दू धर्म के उत्थान के लिए बहुत बड़ा काम किया। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करके उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति के शिक्षण की व्यवस्था की। जो जबरन विधर्मी बना लिए गये थे, उन्हें स्वामीजी ने शुद्ध करके हिन्दू समाज में पुनः स्थान दिलाने का आन्दोलन चलाया। हिन्दू धर्म के द्वार विधर्मियों के प्रवेश कर सकने के लिए खुल गये। इससे हिन्दू समाज का बड़ा हित हुआ। एक धर्मान्ध मुसलमान के हाथों स्वामीजी को बलिदान होना पड़ा। स्वामीजी आजीवन देश की सेवा में लगे रहे।

पञ्जाब के दो महात्मा

महात्मा हंसराज और गोस्वामी गणेशदत्त ने पंजाब, दिल्ली तथा इसके आस-पास के क्षेत्रों में धर्म के शिक्षण एवं मातृ-भाषा हिन्दी के प्रसार के लिए बहुत बड़ा काम किया था। इनमें महात्मा हंसराज आर्य्य-समाजी के विचारधारा के थे और गोस्वामीजी सनातनी विचारधारा के, किन्तु दोनों ही अपने-अपने ढङ्ग से इस दिशा में कार्य करते रहे।

गोस्वामीजी ने सनातन-धर्म-सभा की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत अनेकों धर्म-संस्थान, शिक्षण-संस्थान, पाठशालाएँ, जन-सेवी केन्द्र कार्य कर रहे हैं। महात्मा हंसराज ने 'दयानन्द कालेज' स्थापित किया। दोनों ने धर्म-प्रचार के लिए बड़ी लगन से काम किया। इन्हें इस युग के ऋषि ही कहना चाहिए।

राजा राममोहनराय

सन् १८११ की बात है, राजा राममोहनराय के बड़े भाई जग-मोहनराय की मृत्यु हो गई। उस समय विधवा को भार रूप समझ कर, उसके जीवन भर के खर्चों से छुटकारा पाने के लिए धर्मध्वजी लोगों ने सती प्रथा का चारों ओर बोल-बाला कर रखा था। जगमोहनराय की विवाहिता स्त्री को कुटुम्बियों ने पति के साथ सती होने के लिए बढ़ावा दिया, वह बेचारी किसी तरह तैयार हो गई।

चिता में आग लगाई गई। अग्नि की कराल लपटों का जब उस अबोध बाला से स्पर्श हुआ तो उसका धैर्य टूट गया। वेदना से व्याकुल होकर वह चिता में से जलती-बलती हुई बाहर दौड़ी, पर इससे तो धर्म-ध्वजियों की नाक ही कट जाती। कुटुम्बियों ने बाँस मार-मार कर उसका सिर तोड़ दिया और उस अधजली को फिर चिता में भोंक दिया। 'सती' की आर्त वाणी उपस्थित लोगों को सुनाई न पड़े, इसलिये बड़े जोर-जोर से बाजे बजाने की व्यवस्था नियत परम्परा के अनुसार हो रही थी।

राममोहनराय उस समय छोटे ही थे। उन्होंने धर्म के नाम पर शैतान को ताण्डव-नृत्य करते देखा तो आँखों में खून के आँसू उतर आये। वह मनुष्य ही क्या जिसकी भुजाएँ अनीति को देखकर न फड़क उठें। भावज की नृशंस हत्या को देखकर राय की छाती में ज्वालामुखी बल उठा, उन्होंने चिता की परिक्रमा करके श्मशान भूमि में ही प्रतिज्ञा की कि—“जब तक इस नर-हत्या की नृशंस प्रथा का अन्त न कर लूँगा तब तक चैन से न बैठूँगा।”

सब लोग जानते हैं कि राजाजी ने सती प्रथा बन्द कराने के लिए अकथ परिश्रम किया। देश भर में आन्दोलन करके लोकमत तैयार किया और सरकार पर प्रभाव डालकर इस हत्या-काण्ड को रोकने का कानून बनवा दिया। भावज के सती होने से १६ वर्ष के अन्दर वह प्रथा उन्होंने बन्द करा दी, इस बीच में एक भी दिन ऐसा न गया, जब उन्होंने प्रतिज्ञा पालन के लिए कुछ प्रयत्न न किया हो।

सच्ची लगन रखने वाले वे व्यक्ति जो अपने अन्दर मनुष्यता के गुण धारण किये हुए हैं, निस्सन्देह अपनी प्रतिज्ञा पूरा कर ही लेते हैं और ईश्वर उनके कामों में भरपूर सहायता देता है।

✓ ईश्वरचन्द विद्यासागर

पं० ईश्वरचन्द विद्यासागर अपने एक शिक्षक श्री शम्भुचन्द वाचस्पति का बहुत आदर करते थे और उनको पिता तुल्य मानते थे। उनकी पत्नी का देहान्त हो जाने पर कुछ लोगों ने उन्हें पुनः विवाह कर लेने की राय दी। वाचस्पति जी भी विद्यासागर को पुत्र तुल्य मानते थे और हर बात में उनकी राय लेते थे। विवाह के विषय में भी उन्होंने चर्चा की। विद्यासागर ने अपने शिक्षक के स्नेह और बड़प्पन का बिना ख्याल किये हुए पुनर्विवाह करने में असहमति प्रकट करते हुए स्पष्ट कह दिया कि इस आयु में विवाह करने का अर्थ है—किसी निरपराध कन्या को कष्टों की घघकती हुई भट्टी में झोंक देना।



किन्तु वृद्ध वाचस्पतिजी पर दूसरों का जादू चढ़ चुका था । अस्तु उन्होंने विद्यासागर की बात न मानी और एक गरीब ब्राह्मणी की कन्या से विवाह कर ही लिया । विद्यासागर को उनकी इस बात से इतना दुःख हुआ कि उन्होंने अपने उन शिक्षक से आजीवन सम्बन्ध विच्छेद कर लिया ।

विधवा विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान कराने में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जो प्रयत्न किया उसके लिए भारत की नारी उनकी सदा ऋणी रहेगी ।

✓ कस्तूरीबाई

भावनगर की खेडियार माता के मन्दिर में चण्डी पाठ की पूर्णा-हुति पर एक बकरे की बलि दी जाने को थी । उसी समय चण्डी के सामने ब्राह्मण बालिका कस्तूरी बाई खड़ी हो गई और बोली यदि मांस ही चढ़ाना है तो बकरे की जगह ब्राह्मणी का चढ़ेगा । लोगों ने बहुत डराया, धमकाया पर बालिका उस से मस न हुई । अन्त में निराश हो कर लोगों को बलि का विचार बदलना पड़ा । महाराज को खबर पड़ी तो वे बालिका पर प्रसन्न हुए और उस समय से बलि प्रथा ही बन्द करा दी ।

मनस्वी म्रियते कामं कार्यण्यं तु न गच्छति ।

अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥

उच्च मन वाले मनस्वी मनुष्य मर भले ही जायें परन्तु वे कभी भी कृपणता तथा कायरता नहीं करते जैसे अग्नि बुझ भले ही जाय पर शीतल नहीं होती ।

यदा मानं लभते माननार्हस्तदा सर्वे जीवति जीव लोके ।

यदावमानं लभते महान्तं तदां जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥

जब तक इस संसार में सम्माननीय पुरुष का समुचित सम्मान रहता है तभी तक वह जीवित रहता है । जब उसका लोग तिरस्कार

करने लगते हैं तो चाहे भले ही जीवित भी रहे मृतक के समान ही होता है ।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।

नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति ॥

मनुष्य के शरीर में रहने वाला आलस्य ही मनुष्यों का सबसे बड़ा शत्रु है और उद्यम के समान कोई भी मनुष्य का बन्धु नहीं है, जिसको बन्धु बनाकर मनुष्य दुःख नहीं पाता ।

अलसस्य कुतो विद्या ह्यविद्यस्य कुतो धनम् ।

अधनस्य कुतो मित्रममित्रस्य कुतः सुखम् ॥

आलसी मनुष्य को विद्या नहीं मिलती और जो विद्या से हीन है उसे धन नहीं मिलता । निर्धन का कोई मित्र नहीं होता और जिसके मित्र नहीं हैं वह सुखी नहीं होता ।

चलन्तु गिरयः कामं युगान्त पवना हताः ।

कच्छेऽपि न चलत्येव धोरणां निश्चितं मनः ॥

प्रलय काल की पवन से पर्वत तो एकबार भले ही विचलित हो जायें । परन्तु धीर पुरुष के मन का निश्चय कष्ट में भी विचलित नहीं होता ।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा ॥

नीति में निपुण पुरुष चाहे निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी अपनी इच्छा के अनुसार चाहे आये या चली जाय, आज ही मरण हो



जाय या युगान्तर में होवे, धीर पुरुष न्याय-पथ से एक पैर भी इधर-उधर नहीं होते ।

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः,

को न स्याद्बहुधनः को बहुश्रुतो वा ।

आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता,

सम्पूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥

इस संसार में यदि आलस्य रूपी अनर्थ नहीं होता तो कौन बहुत धन वाला और बहुश्रुत अर्थात् विस्तृत ज्ञान वाला न हो जाता ? एक आलस्य ही के कारण सागर पर्यन्त यह समस्त पृथ्वी दरिद्री और पशु के समान रहने वाले मनुष्यों से भरी पड़ी है ।

उत्साह सम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मीः स्वयं वाञ्छति वासहेतोः॥

उत्साहपूर्ण, शीघ्र कार्य करने वाला, कर्म करने की उचित विधि को जानने वाला, निर्व्यसनी, शूर, कृतज्ञ और दृढ़ मित्रता करने वाले व्यक्ति के पास निवास करने को लक्ष्मी स्वयं इच्छा किया करती है । अर्थात् उपर्युक्त गुण सम्पन्न पुरुष पर लक्ष्मी स्वयं ही कृपा करती है ।

निराशयाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।

तं समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥

निराशा वादिनो मन्दा महोवर्त्तेऽत्र दुस्तरे ।

निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥

निराशा के समान मनुष्य के लिए कोई पाप नहीं । अतएव पापिनी निराशा को समूल नष्ट करके आशावादी बनना चाहिए । प्रगति-

हीन निराशावादी व्यक्ति अज्ञान के दुर्लभ्य भँवर में पड़े हुए कीचड़ में फँसी गायों की भांति विवश होते हैं ।

आशा सर्वोत्तम प्रकाश और निराशा घोर अन्धकार है ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।

सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥

उत्साहहीन, दीन और शोक से व्याकुल व्यक्ति के सब काम बिगड़ जाते हैं और वह स्वयं कष्ट को प्राप्त होता है ।

दोषभीतेरनारम्भस्वकापुरुषलक्षणम् ।

कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते ।

दोष के डर से किसी काम को नहीं करना यह कायर पुरुष का चिन्ह है, हे भाई ! अजीर्ण के डर से कौन भोजन को छोड़ते हैं ?

दोहा-कार्य करे नहीं दोष-भय, कायर की पहिचान ।

भोजन तजता कौन जन, अनपच कर डर मान ॥

प्रकृति वीर कौ अन्त हूँ, परत मन्द नहि तेज ।

नहि चाहत चन्दन चिता, छाड़ भीष्म शर सेज ॥

डरै न काहू दुष्ट सों, लरै लोभ तन खोय ।

करै न शंका काल की, युवक सराहिय सोय ॥

करै न कबहूँ साहसी, नीच पतित दुर काज ।

भूख सहै पर घास को, नहि भाखै मृगराज ॥

विना तेज के पुरुष की, अवसि अवज्ञा होय ।

आग बुझे ज्यों राख कों, आनि छुवै सब कोय ॥

तुलसी हरि दरवार में, कमी वस्तु कुछ नाहि ।
 कर्म हीन कलपत फिरत, चूक चाकरी मांहि ॥
 बिना प्रयत्न न होत है, कारज सिद्ध निदान ।
 चढ़ धनुष हू ना चलै, बिना चलाये बान ॥
 विद्या धन उद्यम बिना, कहौ जु पावै कौन ।
 बिना डुलाये ना मिले, ज्यों पंखा की पौन ॥
 यत्न बिना कैसे मिले, कोई वस्तु नवीव ।
 बिना यत्न पाता नहीं, तिल से तेल प्रवीन ॥
 जग रुठै रुठो करै, नहि छोड़ै निज टेक ।
 ऋषि ऐसे नर शेर को, रखवारो प्रभु एक ॥
 जिन खोजा तिन पाइया, गहिरे पानी पंठ ।
 मैं बौरी खोजन चली, गई किनारे बैठ ॥

भय बिन प्रीत नहीं होती । लोग अपने उचित कर्त्तव्यों की भी उपेक्षा करने लगते हैं इसलिये आलस एवं उपेक्षा भी अधर्म के ही अङ्ग माने गये हैं और इन्हें न बढ़ने देने एवं जो इस प्रकार आचरण करे उनकी प्रताड़ना करने की भी आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है ।

सुग्रीव राज्य पाकर सीता की खोज करने की अपनी प्रतिज्ञा को भूल बैठा तब लक्ष्मणजी ने उसकी प्रताड़ना करने का निश्चय किया ।

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी ।

पावा राज कोस पुर नारी ॥

लछिमन क्रोधवन्त प्रभु जाना ।

धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ॥

तब अनुजहि समुझावहि रघुपति करुना सीव ।

भय देखाय लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा ।

राम काजु सुग्रीवँ विसारा ॥

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना ।

विषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना ॥

अब मारुतसुत दूत समूहा ।

पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा ॥

तब हनुमन्त बोलाए दूता ।

सब कर करि सनमान बहूता ॥

भय अरु प्रीति नीति देखराई ।

चले सकल चरनन्हि सिर नाई ॥

एहि अवसर लछिमन पुर आए ।

क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाए ॥

दोहा-धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करउँ पुर छार ।

व्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार ॥

समुद्र लाँघते समय जामवन्त ने हनुमान जी को सम्बोधन करते हुए कहा कि—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना ।

का चुप साधि रहेउ बलवाना ॥



पवन तनय बल पवन समाना ।
बुधि बिबेक विग्यान निधाना ॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं ।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥
राम काज लागि तब अवतारा ।
सुनतहिं भयउ पर्वताकारा ॥
कनक बरन तन तेज बिराजा ।
मानहुं अपर गिरिन्ह कर राजा ॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा ।
लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा ॥

॥ दूसरा प्रवचन समाप्त ॥





तीसरा प्रवचन



(दुर्गुणों से सर्व नाश)

श्रीभगवानुवाच

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भूतः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥**

[अध्याय ३ श्लोक ३७]

श्री भगवान् बोले ! यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है । यह भोगों से कभी तृप्त न होने वाला और महा पापी है । इसको तू महा बैरी जान ।

आमतौर से बैरी उन मनुष्यों का कहा जाता है जो अपने से द्वेष रखते हैं, हानि पहुँचाने या नष्ट करने की चेष्टा करते हैं । यह मोटी परिभाषा हुई । बारीकी से देखने पर यह परिभाषा मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहती वरन् और भी बड़ी हो जाती है । सिंह, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू, आदि भी एक प्रकार से बैरी ही हैं जो अवसर मिलते ही आक्रमणकारी बन जाते हैं । शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों को यदि बैरी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि बैर रखने वाले मनुष्य जिस प्रकार कष्ट देते हैं, धन, समय, और प्राण का सङ्कट उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार वे रोग भी करते हैं ।



यह दीख पड़ने वाले बैरी हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक बैरी होते हैं जो दीखते नहीं, पहचान और पकड़ में भी नहीं आते पर हानि इतनी अधिक पहुँचाते हैं कि जितनी यह दीख पड़ने वाले बैरी भी नहीं कर पाते। गुण, कर्म, स्वभाव के दोष, मनोविकार इसी प्रकार के बैरी हैं। इनके द्वारा मनुष्य का जितना बड़ा अहित होता है उतना और किसी प्रकार नहीं हो सकता।

आन्तरिक शत्रु बाह्य शत्रुओं से अधिक हानि पहुँचाते हैं क्योंकि वे निशदिन समीप ही नहीं, साथ भी रहते हैं। अग्नि जहाँ रहती है पहले वहीं जलाती है, तेजाब जिस पात्र में रखा जायगा पहले उसी को खायगा, धुआँ जहाँ उठेगा पहले वहीं काला करेगा। इसी प्रकार आन्तरिक शत्रु, गुण, कर्म, स्वभाव में रहने वाले दोष पक्के बैरी का काम करते हैं। बाहरी बैरी दीख पड़ते हैं उनकी गतिविधियाँ समझ में आ जाती हैं इसलिए उनका प्रतिरोध भी सरल पड़ता है। किन्तु जो दीख न पड़े, समझ में ही न आवें उनका प्रतिरोध कैसे हो ? बाहरी शत्रु अवसर मिलने पर ही आक्रमण करते हैं पर भीतरी शत्रु तो लकड़ी में लगे धुन की तरह मनुष्य के व्यक्तित्व को भीतर ही भीतर खोखला करते रहते हैं। इसलिए इनसे पीछा छुड़ाना आवश्यक है। न छुड़ाया जाय तो भविष्य के अन्धकारमय बने रहने में कुछ सन्देह नहीं रहता।

पाँच पाण्डव सौ कौरवों से लड़ने खड़े हुए थे। उन्हें दैवी और आसुरी शक्तियाँ ही कहना चाहिए। धर्म, शौर्य, श्रम, विवेक और संयम यही पाँच पाण्डव हैं। उन्हें दैवी शक्तियाँ कहना चाहिए। आवेश, ईर्ष्या, द्वेष, अहङ्कार, मद, मत्सर, छल, दम्भ, निष्ठुरता, उच्छृङ्खलता, आलस, तृष्णा, वासना, लोभ, मोह, चिन्ता, भय, निराशा, कायरता, कटुता, असहिष्णुता आदि कौरवों की संख्या सौ क्या उससे भी अधिक गिनाई जा सकती है। पाण्डवों को इन्हीं से लड़ना पड़ा था। यदि लड़ना न जा ता तो कौरवों का ही सारा आधिपत्य हो जाता। पाण्डवों के पास सुई की नोक भर भी स्थान शेष न रहता।



दो परस्पर विरोधी तत्त्वों में से एक ही प्रबल रह सकता है। जब रात्रि होती है तब दिन नहीं रहता और जब दिन होता है तब रात्रि नहीं रहती। जब क्रोध आता है तब प्रसन्नता नहीं रहती और प्रसन्नता रहती है तब क्रोध नहीं आता। हँसना, गाल फुलाना दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इसी प्रकार दैवी और आसुरी शक्तियों का एक साथ निर्वाह नहीं। पुराणों में वर्णित अगणित कथाओं में देवासुर संग्राम का वर्णन है। जब यह बन्द हो जाता है तब असुरता दिन-दिन बढ़ने लगती है और अपनी प्रबलता के कारण वह देवताओं को परास्त करने में सफल हो जाती है। बेचारे देवताओं को तप करना पड़ता है, ईश्वर का सहारा लेना पड़ता है तब वे धर्म युद्ध फिर आरम्भ करते हैं और अपने स्वर्ग राज्य को पुनः प्राप्त करते हैं। पौराणिक देवासुर संग्रामों की प्रत्येक गाथा की यही पृष्ठभूमि है। पाण्डवों को भी यही करना पड़ा। इनने कृष्ण का सहारा लिया और अज्ञातवास में रहकर तपश्चर्या की एवं सनातन कर्तव्य-पथ को अपनाकर धर्म युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गये, फलस्वरूप उन्हें विजय श्री उपलब्ध हुई।

तत्त्वतः दैवी शक्तियों में आसुरी शक्तियों से कहीं अधिक बल कारण है। पर उनकी शिथिलता, एवं अस्तव्यस्तता ही उन्हें पिछड़ जानेका बनती है। आसुरी शक्तियाँ तत्त्वतः बहुत दुर्बल हैं, उनकी सत्ता बहुत ही क्षीण है। पर अपनी चैतन्यता और तत्परता के कारण वे बहुत जल्दी बढ़ जाती हैं। यही तत्परता जब दैवी शक्तियों में उत्पन्न हो जाती है तो सहज ही इतनी प्रबल हो जाती हैं कि आसुरी शक्तियों को सरलतापूर्वक परास्त कर सकें। प्रत्येक देवासुर संग्राम में होता भी यही रहा है।

गीताकार ने इन मनुष्यों के शत्रु आन्तरिक असुरों का कई जगह कई तरह विभाजन किया है। यहाँ इस श्लोक में उन्हें काम और क्रोध में बांट दिया है। काम अप्रकट है और क्रोध प्रकट है। इस प्रकार उन्हें भीतरी और बाहरी भी कह सकते हैं। कोई दोष जब तक भीतर ही भीतर



छिपा रहता है बाहर प्रकट नहीं होता, विचार क्षेत्र पर ही उसका अधिकार होता है। तब तक उसकी संज्ञा 'काम' रहती है और जब वह बाहर प्रकट होकर दूसरों के साथ टकराता है और अनीतियुक्त दुर्घटनाएँ उत्पन्न करता है तब वह क्रोध बन जाता है इस प्रकार मानसिक दोषों को कम और व्यवहारिक दोषों को अधिक कह सकते हैं। चोरी, व्यभिचार, हिंसा, नशा, ठगी, जुआ आदि कुकर्मों को क्रोध वर्ग में रखा जा सकता है और ईर्ष्या, द्वेष, लोकभय, असंयम, आलस आदि को काम वर्ग में गिना जा सकता है। यही वर्गीकरण गीताकार ने यहां काम, क्रोध, लोभ के नाम से किया है। इसे भावनात्मक, प्रलोभनात्मक और कुकर्मात्मक प्रकृति के कारण तीन गुणों में हुआ विभाजन मान सकते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(अध्याय १६।२२)

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिए इनका त्याग कर देना चासिये।

कहीं यह शृङ्खला और भी बड़ी कर दी गई है तथा एक दूसरे का सम्बन्ध बनाकर क्रमशः इस शृङ्खला की अभिवृद्धि को मानवीय सत्यानाश का कारण बताया गया है। यथा—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिलायते ॥

(अध्याय २।६२)

“विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष का उनमें (विषयों) से सङ्ग उत्पन्न हो जाता है, सङ्ग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है।”

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

(अध्याय २।६३)

“क्रोध से सम्मोहन (अविवेक) पैदा होता है सम्मोहन से स्मृति विभ्रम स्मृतिभ्रम से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि के नाश से वह आप नष्ट हो जाता है ।”

यह वर्गीकरण केवल सुविधा और समझने की दृष्टि से है । तथ्य यह है कि मनुष्य के भीतर तथा समस्त संसार में दैवी और आसुरी शक्तियों की सत्ताएँ काम कर रही हैं और जब कभी असुरता की प्रबलता हो जाती है तो दुःख, दारिद्र्य, रोग, शोक, क्लेश, कलह, अनिष्ट, सङ्कट का ठिकाना नहीं रहता । चारों ओर अगणित आपत्तियों की बाढ़ आ जाती है और सत्यानाशी विभीषिकायें सामने आकर खड़ी हो जाती हैं । इसके उपरान्त जब दैवी शक्तियाँ प्रबल होती हैं तो सुख, शान्ति, समृद्धि, सफलता, सहयोग, सद्भाव का उल्लासमय वातावरण चारों ओर बिखरा पड़ा दिखाई देता है । स्वर्ग की सुखद परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । इस प्रतिफल को देखते हुए ही आसुरी शक्तियों को नरक का द्वार और दैवी शक्तियों को स्वर्ग का सोपान कहा गया है ।

विवेकशील व्यक्ति को यह निश्चय करना चाहिए कि उसे स्वर्ग प्रिय है या नरक । नारकीय आग में जलते रहना हो तो आसुरी गुण, कर्म, स्वभाव को अपनाये रहना चाहिये । वे अपने आप बढ़ते हैं और सर्वनाश का सङ्कट स्वयं ही पैदा कर देते हैं । यदि स्वर्गीय परिस्थितियाँ अभीष्ट हों तो अपनी दैवी सम्पदाओं को बढ़ाना चाहिए । उन्हें इतनी समर्थ बनाना चाहिए कि आसुरी शक्तियों से भली प्रकार टक्कर ले सकें । यदि वे दुर्बल बनी रहें तो इस टक्कर में अभीष्ट परिणाम न निकलेगा । जितनी प्रबल आसुरी शक्तियाँ हैं उतनी ही प्रबल दैवी शक्तियों को भी बनाना होगा । सौ कौरवों से साधारण श्रेणी के पाँच सिपाही लड़ा

दिये जाते तो वे विजय प्राप्त नहीं कर सकते थे। पाण्डवों के पास समुचित बल था उसी से वे उपयुक्त टक्कर ले सके। धर्म, शौर्य श्रम, विवेक और संयम इन पाँचों पाण्डवों को हमें तपश्चर्या एवं ईश्वरीय आलम्बन के सहारे प्रबल बनाना चाहिए और साहसपूर्वक आन्तरिक दुर्बलताओं को परास्त करने का धर्म युद्ध आरम्भ कर देना चाहिए। भगवान् ने इसी के लिए अर्जुन को प्रबल प्रेरणा दी है। उस जीवन की सफलता एवं लक्ष्य प्राप्ति की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में धर्मयुद्ध को सामने प्रस्तुत किया है।

गीता का महाभारत बस्तुतः अन्तः प्रदेश में चलने वाला दैवी आसुरी शक्तियों का धर्म युद्ध है। यों यह किसी न किसी रूप में सदा ही चलता रहता है। अन्तर्गत्या प्रत्येक कुविचार और कुकर्म के लिए उसे धिक्कारती रहती है और अपनी छोटी-सी आवाज असुरता के प्रतिरोध के लिए उठाती रहती है, पर इतने मात्र से काम नहीं चल सकता। श्रैयार्थी को पूरी तत्परता के साथ मोर्चेबन्दी खड़ी करके क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित संग्राम खड़ा करना होता है। साधना इसी धर्मयुद्ध का नाम है। साधना को समर भी कहा गया है। 'साधन समर' शब्द आध्यात्म जगत में बहु श्रुत और बहु प्रचलित बना हुआ है। आत्मा जब दुर्गा की तरह प्रबल बनकर असुरों पर आक्रमण करती है तभी अहङ्कारी शुंभ निशुंभ, मधुकैटभ, महिषासुर आदि का दर्प चूर्ण होता है। तपस्वी दधीचि की हड्डियों से बना हुआ वज्र ही वृत्रासुर विजय का कारण बना था। हम तपश्चर्या के लिए जितनी ही अधिक श्रद्धा एवं आस्था प्रबल करेंगे उतना ही मनोबल बढ़ेगा और उस बड़े हुए मनोबल के आधार पर ही धर्म युद्ध जीता जा सकेगा।

ईश्वर सहायता करने को तैयार बैठा है। वह सारथी बनने, रथ चलाने, मार्ग दर्शन देने, सहयोग करने के लिए तैयार बैठा है पर यह सब करता उसी के लिए है जिसने धर्म-युद्ध करने के लिए प्राणपण से

प्रतिज्ञा करली हो। जो पहले से ही हिम्मत हार बैठा हो, ईश्वर ही सब कुछ करके रख जाय, या आशा लगाये बैठा हो, पुरुषार्थ के लिए तत्पर न होता हो, संघर्ष के समय आने वाली अड़चनों से टकराने को तैयार न हो, ऐसे कायर की भगवान् भी मदद नहीं करते। भगवान् ने अर्जुन की सहायता की, उसे विजयी बनाया पर यह सब किया तभी जब अर्जुन ने गांडीव उठाया, पाञ्चजन्य बजाया। यदि अर्जुन ऐसा न करता, अकर्म-प्यता और कायरता का परित्याग न करता तो यह भी निश्चित ही था कि भगवान् उसकी कुछ भी मदद न करते और नारकीय अग्नि में जलते मरते रहने वाले अर्गणित अन्य प्राणियों की तरह वह भी किसी प्रकार मौत के दिन पूरे करते हुए इस दुनियाँ से विदा हो गया होता। भगवान् का प्रिय सखा, शिष्य एवं महाभारत के विजेता के रूप में उसे जो श्रेय मिला वह कदापि न मिला होता।

गीता काम और क्रोध को, कुविचारों और कुकर्मों को त्यागने का सन्देश देती है। इन बैरियों को मार भगाने के लिए निर्देश करती है। हमें भगवान् के वचन और सन्देश को शिरोधार्य करना चाहिये और जीवन शोधन के लिए, आन्तरिक दुर्बलताओं को परास्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

उपरोक्त दोषों से होने वाली हानियों और बुराइयों के कुछ दृष्टान्त, प्रमाण, अनुवचन यहाँ दिये जाते हैं—

—*—

कामुकता की दावानल

(कामुकता मनुष्य के पतन का कारण बनाती है। दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी को समान रूप से अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए और नारी मात्र के प्रति पवित्र दृष्टि रखनी चाहिए। इसी में सनुष्य का कल्याण है जो इस मर्यादा को त्याग कर दुराचार की ओर बढ़ते हैं उससे उनका शरीर, मन, यश और धर्म सभी नष्ट होता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।)

बामी चन्द्रमा और इन्द्र को गौतम का श्राप

महर्षि गौतम नित्य प्रति ब्रह्म मुहूर्त में मुर्गे की आवाज सुनकर गंगा स्नान के लिए जाया करते थे। उनकी स्त्री अहिल्या अत्यन्त रूप-वती थी। इन्द्र और चन्द्रमा की नीयत उस पर खराब हो गई। एक दिन उन्होंने एक षड्यन्त्र रचा। चन्द्रमा ने अर्द्ध रात्रि के समय मुर्गे की तरह बाँग लगाई। नित्य की तरह गौतम स्नान के लिए चल दिए। तत्पश्चात् इन्द्र और चन्द्रमा ने गौतम का स्वरूप धर कर क्रमशः अहिल्या का सतीत्व नष्ट किया। अनजान अहिल्या इस षड्यन्त्र को जान न सकी। उधर महर्षि गौतम को रात्रि का समय अधिक लगा और किसी अशुभ घटना की कल्पना से वे वापिस घर आ गये। चन्द्रमा और इन्द्र छिप न सके महर्षि ने सारी बात समझ ली और चन्द्रमा को कलङ्क का, इन्द्र को सहस्र भग का तथा अहिल्या को पत्थर की शिला हो जाने का श्राप दे दिया। वासना के कारण धर्म-नीति, विवेक का त्याग करने वालों का पतन इसी तरह होता है।

भस्मासुर का सर्वनाश

भस्मासुर ने विकट तपस्या की और शिवजी से अपना यह मनो-वांछित वरदान पाया कि वह जिसके ऊपर हाथ रख दे वही जल कर

भस्म हो जाय । अभीष्ट वरदान पाकर सभी दुष्टों की तरह भस्मासुर के अहङ्कार का ठिकाना न रहा । वह पार्वती के सौंदर्य पर मुग्ध हो कर उन्हें हरण करने की सोचने लगा । शिवजी के शिर पर हाथ रख कर उसने उन्हें ही जला डालना चाहा ताकि पार्वती के मिलने में फिर कोई कठिनाई न रहे ।

शिवजी को सङ्कट में पड़ा देख भगवान् ने उनकी सहायता की । पार्वती का रूप बना कर वे भस्मासुर के पास पहुँचे और कहा—जैसा मैं नृत्य करती हूँ वैसा ही तुम भी करो तो मैं शंकर को छोड़ तुम से विवाह कर लूँगी । भस्मासुर तैयार हो गया । उसने पार्वती वेषधारी भगवान् की तरह नाचना शुरू कर दिया । भगवान् शिर पर हाथ रख कर नाचे । भस्मासुर को वरदान का स्मरण न रहा । उसने अपने शिर पर जैसे ही हाथ रखा कि वह जल कर नष्ट हो गया ।

कृतघ्न और सत्तामद से चूर अविवेकी व्यक्तियों का बल वैभव उनके नाश का कारण बनता है ।

वासना की दावानल

सुन्द और उपसुन्द ने तपश्चर्या के प्रभाव से ब्रह्माजी द्वारा यह वरदान प्राप्त कर लिया था कि वे एक दूसरे के मारने से मरेगे अन्य किसी से नहीं । दोनों भाई वर प्राप्त कर अपने आसुरी स्वभाव के कारण देवताओं के विरुद्ध संघर्ष करने लगे, सज्जन, सन्तजनों को दुःख देने लगे, सर्वत्र भय और आतंक का साम्राज्य छा गया । दुष्ट लोग शक्ति पा कर उसे दुष्टतापूर्ण कार्यों में ही लगाते हैं, अस्तु विवेकीजनों को चाहिये कि वे उनको शक्ति सम्पन्न होने से पहले ही कुचल दें । आखिर एक दिन वह भी आया जब असुरता को अपने ही हाथों नष्ट होना पड़ा । भगवान् की माया एक सुन्दरी के रूप में सामने आई । उस तिलोत्तमा नामक सुन्दरी को देखकर सुन्द और उपसुन्द दोनों उसके लिए परस्पर लड़ पड़े और एक दूसरे के हाथ से मारे गये । सचमुच कामादि विकार इतने प्रबल होते हैं कि इनसे शक्तिशाली व्यक्तियों का भी क्षण भर में नाश हो जाता है ।

✓ दुष्टता पतन का कारण

राजा नहुष ने अपने पुरुषार्थ से इन्द्र पद प्राप्त किया। क्षुद्र व्यक्ति जैसे उच्च पद पाकर निरंकुश हो जाते हैं, उसी प्रकार नहुष भी मदोन्मत्त हो कर मर्यादाओं का उल्लंघन करने के लिए उतारू हो गया। उसने इन्द्र पत्नी इन्द्राणी को अपने अन्तःपुर में डालने की कुचेष्टा की।

इन्द्राणी ने कोई और मार्ग न देखकर ऋषियों को पालकी में जोत कर और उसमें बैठ कर उसे लिवाने आने का प्रस्ताव भेजा। अहंकारी नहुष ने वही किया और ऋषियों को पालकी में जोता, उस पर बैठा और जल्दी-जल्दी चलने के लिए उन्हें धमकाने लगा।

ऋषियों ने दुःखी हो कर पालकी पटक दी और शाप देकर उसे सर्प बना दिया। नहुष की दुष्टता उसके पतन का कारण बनी।

✓ कुचेष्टाएं देखी भी न जाँय

कण्व ऋषि के पुत्र सौभरि ब्रह्मचर्य पूर्वक नदी तट पर तपश्चर्या करते थे। तप के द्वारा बहुत आत्म-बल संग्रह कर चुके थे और पूर्ण ऋषित्व प्राप्त होने में थोड़ा-सा ही समय शेष था। इतने में एक दिन उन्होंने नदी जल में मच्छराज को काम क्रीड़ा करते देखा। कुचेष्टाएं देखने से सत्पुरुषों के मन में भी वासनाएं भड़क उठती हैं। सौभरि का चित्त विचलित हो उठा और तप-साधना छोड़ कर गृहस्थ बन गये। प्रसदस्यु की कन्या से विवाह कर उनसे कितनी ही सन्तानें उत्पन्न कीं और ऋषिस्तर को गँवा कर एक साधारण व्यक्ति मात्र रह गये। कामुकता के वातावरण से जितना बचा जा सके उतना ही उत्तम है।

✓ कीचक का अन्त

पाण्डव महाराज विराट के यहां गुप्त भेष में अज्ञातवास का जीवन बिता रहे थे। वहां विराट का साला कीचक द्रौपदी के सौंदर्य पर मोहित हो गया और वह कुचेष्टाएं करने लगा। द्रौपदी ने उसे समझाया, लेकिन वह नहीं माना। द्रौपदी ने भीम को सारी बात बताई। भीम ने अवसर

पा कर उसे धर दबाया और मारकर बड़ी दुर्गति से दरवाजे पर पटक दिया। पाप का आश्रय लेने पर मनुष्य का इसी तरह दुःखद अन्त होता है।

✓ कामान्ध व्याध भस्म हुआ

दुष्ट व्यक्ति जब सज्जनों के साथ दृष्टता करने पर उतर आता है तो वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। वन में बिछुड़ी हुई दमयन्ती भटक रही थी। उसके अपूर्व सौंदर्य को देखकर एक व्याध का मन कलुषित हो गया। उसने उसके साथ कुचेष्टा करनी चाही लेकिन दमयन्ती के चरित्र और सतीत्व के तेज से वह भस्म हो गया।

✓ गुरु नानक द्वारा अनर्थ का विरोध

गुरु नानक देव एक गाँव में पधारे। उस गाँव का एक साठ वर्षीय धनिक एक सोलह वर्षीय लड़की से विवाह करने की तैयारी कर रहा था जबकि सात स्त्रियाँ उसके पहले से ही थीं। धन जो अपने जीवन निर्वाह और जरूरतमन्दों के लिए सहायता करने का साधन है, दुराचारी व्यक्ति उसे अपनी तथा दूसरों की हानि करने का साधन बना लेते हैं। नानक को जब इस बात का पता लगा तो वे दुःखी हुए और उन्होंने उस धनिक को बुलाया। धनिक प्रणाम करके पास ही बैठ गया। तब सब लोगों के बीच नानक ने उससे कहा— “क्या इस गाँव के सभी लोग मर गये जो अपनी अर्थी उठाने के लिए एक लड़की को खरीद रहा है। यह बात सुनकर धनिक का सिर नीचे हो गया। सभी गाँव वाले यह बात सुनकर धनिक के विरोध में खड़े हो गये और एक बालिका का जीवन खराब होने से बच गया।

— X X —

क्रोध और उसकी विभीषिका

(क्रोधी मनुष्य किस प्रकार अपना अधःपतन एवं सर्वनाश करते हैं ? शिवजी का अपने पुत्र गरुड पर क्रोध करके उनका शिर काटना और पीछे पछताना प्रसिद्ध है। ऐसी ही अन्य अनेकों कथाओं में से कुछ नीचे देते हैं ।)

क्रोधी दुर्वासा पर भगवान का कोप

दुर्वासा जहाँ एक ऋषि थे वहाँ उनका स्वभाव बड़ा क्रोधी था। जिस पर वे कुपित हो जाँय उसकी खैर नहीं। एक बार महाराज अम्बरीष पर दुर्वासा व्यर्थ क्रुद्ध हो गये। उनकी कोई भूल भी नहीं थी न कोई अवज्ञा ही की थी। लेकिन जब क्रोध स्वभाव का एक अंग बन जाता है तो वह कारण नहीं देखता। महर्षि के क्रोध से संव्रस्त अम्बरीष भगवान की प्रार्थना करने लगे। भगवान् विष्णु ने अनुचित क्रोध का दण्ड देने के लिए अपना सुदर्शन-चक्र दुर्वासा के ऊपर चला दिया। दुर्वासा आगे-आगे दौड़ने लगे, चक्र उनका पीछा करने लगा। अन्त में उन्हें अम्बरीष से क्षमा माँगनी पड़ी तब ही वे सुदर्शन के त्रास से मुक्त हो सके। व्यर्थ ही क्रोध करके सज्जनों को व्रस्त करने वाले व्यक्तियों को परमात्मा का कोप भाजन बनना पड़ता है।

आत्महंता क्रोध

ऋषिपुत्र प्रचेता बहुत ही क्रोधी स्वभाव के थे। तनिक-सी बात पर उत्तेजित हो कर अकरणीय भी कर डालते थे। एक दिन वे सँकरे पथ से गुजर रहे थे कि उसी समय दूसरी ओर से कल्याण-पाद नामक व्यक्ति भी आ रहा था। आमना-सामता हुआ लेकिन कोई भी अपने पथ को छोड़ने पर तैयार नहीं हुआ। प्रचेता से यह नहीं सहा गया और उन्होंने कल्याणपाद को श्राप दे दिया—“तू राक्षस हो जा।” पूर्व तपस्या के प्रभाव से प्रचेता की वाणी सत्य सिद्ध हुई और कल्याणपाद राक्षस

धन गया, लेकिन उसने प्रचेता को ही खा डाला। क्रोध स्वयं क्रोध करने वाले को नष्ट कर डालता है।

अहंकार से आत्म विनाश

एक सिंह बड़ा अहंकारी था। शक्ति के मद में चूर हो कर वह नित्य ही जङ्गल के जानवरों को सताया करता था। सारे जानवर बड़े दुःखी थे। एक खरगोश ने सिंह को सहज ही मार डालने की तरकीब सोची। वह अपनी खोह में अन्दर बैठ गया और सिंह को गाली देने लगा। सिंह यह सहन न कर सका और उसे दण्ड देने के लिए खोह के मुँह पर बैठ गया। लेकिन खरगोश ने उसका दूसरी ओर भी मुँह बना रखा था वह उससे निकल कर जाता और अपना भोजन करके फिर आ जाता और सिंह को गाली देने लगता। सिंह का क्रोध बढ़ता ही गया। वह दहाड़ता, शिर पटकता और गर्जता-तर्जता रहा। हर गाली उसका क्रोध बढ़ा देती और सन्तुलन बिगाड़ देती। इस प्रकार क्रोधी सिंह अपने आवेश में स्वयं ही तड़प-तड़प कर मर गया।

✓ **पत्नी के अपमान का फल**

राजा प्रसिचेत ने किसी कारणवश रुष्ट हो कर अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया। यह बात सर्वत्र फैल गई। प्रशासन में धीरे-धीरे अव्यवस्था होने लगी। लोग राजाज्ञा का खुले आम उल्लंघन करने लगे। राज्य की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। चारों ओर उत्पात होने लगे। राज्य की सीमा पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। महाराज उसे रोकने के लिए सेना सहित जा रहे थे। मार्ग में महर्षि उद्दालक का आश्रम पड़ा तो वे उनसे मिलने के लिए रुके।

महर्षि ने उनके शासकोचित सम्मान की तैयारी की, लेकिन एक शिष्य ने जब पत्नी त्याग की बात ऋषि को बता दी तो उन्होंने सम्मान की तैयारी स्थगित कर दी और साधारण व्यक्ति जैसा व्यवहार ही उनसे किया। महाराज प्रसिचेत ने जब इस सम्बन्ध में पूछा तो महर्षि बोले—
“राजन् ! जो अपनी स्त्री का परित्याग कर देता है, उसे धर्म छोड़ कर

चला जाता है और धर्म द्वारा त्याग हुआ मनुष्य सम्मान, सुख, शान्ति से भी रहित हो जाता है। देवताओं की साक्षी में स्वीकार की हुई पत्नी का त्याग कर आपने जो पाप किया है उसके फलस्वरूप आपका अब सम्मान एवं सौभाग्य भी समाप्त होने वाला है।" राजा ने अपनी भूल समझी, पत्नी को अपनाया, तब उसके शासन की व्यवस्था भी ठीक हो गई।

क्रोध का ही एक स्वरूप अहंकार है। कटु-भाषण एवं दुर्व्यवहार भी कुसंस्कारी व्यक्तियों में ही देखे जाते हैं। इनका परिणाम भी क्रोध के समान ही अहितकर है।

तनिक से व्यंग ने महाभारत रचा दिया

दुर्योधन महाराज युधिष्ठिर के अतिथि भवन में घुसा कि उसकी निर्णय शक्ति जबाब दे गई। दीवार और अवकाश में, भूमि और जल में वह सही-सही निर्णय नहीं कर पाया। वह रास्ता समझ कर आगे बढ़ा कि दीवार से टकरा गया और फर्श समझ कर पैर आगे रखा कि एक जलकुण्ड में जा गिरा। ऊपर से द्रोपदी देख रही थी। वह इस घटना पर अपनी व्यंगपूर्ण हंसी न रोक सकी और इसी बीच कह उठी—“अन्धों के तो अन्धे ही पैदा होते हैं।” दुर्योधन इन व्यङ्ग्य वचनों को तथा अपने अपमान को सहन न कर सका और इसका बदला लेने की प्रतिज्ञा कर वहाँ से लौट गया। दुर्योधन ने अपना दाँव खेला और द्रोपदी को भरी सभा में नग्न करने का प्रयत्न किया गया। इससे दुःखी होकर भीम ने भी दुर्योधन का वध करने की प्रतिज्ञा की और जिसका अन्त महाभारत के भीषण विनाश में ही हुआ। तनिक-सा व्यंग सर्वनाशी युद्ध का कारण बन गया। बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि दूसरों के हृदय को चोट पहुँचावे ऐसा व्यंग्य वचन कभी न कहें।

उपहास का दुष्परिणाम

ऋषिकुमार सहस्रपाद को दूसरों का उपहास करने में, उन्हें तंग करने में बड़ा आनन्द आता था। उनके कंदर्भ नाम के एक मित्र

थे। वे बड़े तपस्वी और सीधे स्वभाव के बच्चे थे। किन्तु सर्प से उन्हें बहुत भय लगता था। एक दिन सहस्रपाद ने एक घास का सर्प बनाकर अचानक कंदर्भ के ऊपर फेंक दिया और इससे कंदर्भ मूर्छित हो कर गिर पड़े। जब उन्हें होश आया तो उन्हें सहस्रपाद पर बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसे शाप दे दिया। तपस्या के प्रभाव से उनकी वाणी सत्य सिद्ध हुई और सहस्रपाद को सर्प की योनि में जन्म लेना पड़ा। व्यंग विनोद वही ठीक है जो निर्दोष हो, जिससे किसी को बुरा न लगे। अपमान करने वाले उपहासों का परिणाम सदा बुरा ही होता है।

३/४

— × × —

लोभ एवं स्वार्थ

(स्वार्थ के वशीभूत मनुष्य इतना लालची हो जाता है कि उसे घृणित दुष्कर्म करने में भी लज्जा नहीं आती। तृष्णा के वशीभूत हो कर लोग अनीति का आचरण करते हैं और वह अनीति ही अन्ततः उनके पतन एवं सर्वनाश का कारण बनती है।)

कोई कितना ही शक्तिशाली, बलवान् क्यों न हो, स्वार्थ परता एवं दुष्टता का जीवन बिताने पर उसे नष्ट होना ही पड़ता है।

रावण के बराबर पण्डित, वैज्ञानिक, कुशल प्रशासक, कूटनीतिज्ञ कोई भी नहीं था, लेकिन पर-स्त्री अपहरण, राक्षसी आचार-विचार एवं दुष्टता के कारण कुल सहित नष्ट हो गया।

कंस ने अपने राज्य में हा-हाकार मचवा दिए। अपनी बहन और बहनोई को जेल में बन्द कर दिया। उनके नव-जात शिशुओं को शिला पर पटक-पटक कर मार दिया। अपने राज्य में छोटे-छोटे बालकों को कत्ल करा दिया। लोगों में आतङ्क का वातावरण पैदा किया, लेकिन वही कंस भगवान् कृष्ण द्वारा बड़ी दुर्गति से मार दिया गया।

हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यपु जैसे बलवान् योद्धाओं को आसुरी वृत्तियों के कारण मरना पड़ा। शुम्भ निशुम्भ, मधुकैटभ, महिषासुर दुर्गों के द्वारा मारे गये। सहस्रबाहु परशुरामजी द्वारा, वाणासुर श्रीकृष्ण द्वारा मारे गये। जरासन्ध भीम द्वारा दुर्गति से मारे गए। शूर्पनखा, खरदूषण वन में तपस्या करने वाले ऋषियों को सताते थे। ताड़का यज्ञों में विघ्न पहुँचाती थी। बालि ने अपने छोटे भाई को निर्वासित कर उसकी स्त्री को अपनी रखैल बना छोड़ा था। राम-लक्ष्मण ने इन सभी को मार कर दुष्टता का अन्त किया।

दुर्योधन ने अपने भाइयों के राज्य-पाट छीन कर उन्हें नाना-कष्ट दिये। किसी भी तरह उन्हें सुखी नहीं रहने दिया गया, लेकिन अन्त में वह अपने शक्तिशाली भाइयों के साथ महाभारत के युद्ध में पाण्डवों द्वारा मारा गया।

तृणावर्त, बकासुर, अघासुर, कालिया नाग आदि दैत्यों को श्री कृष्ण ने खेल में ही मार दिया, क्योंकि दुष्टता, असुरता कितनी ही शक्ति सम्पन्न हो, उसे अपने ही दुर्गुणों के कारण निर्बल होकर मरना पड़ता है।

महाराजा वेन राज्य मद में चूर होकर दुराचारी बन गये। उन्होंने धर्म, सदाचार की मर्यादाओं का त्याग करके अधर्म और अन्याय का जीवन बिताना चालू कर दिया। ईश्वर के प्रति उनकी कोई आस्था न रही। ब्राह्मण, ऋषि आदि सत्पुरुषों को वह कष्ट देने लगा। अन्ततः अपमान जनक व्यवहार से तंग आकर एक दिन ब्राह्मण, ऋषि, सज्जन व्यक्तियों ने संगठित रूप से राजा वेन का विरोध किया और इसके फल स्वरूप प्रजा ने विद्रोह करके उसे मार दिया। दुष्ट व्यक्ति अपने ही दुष्कर्मों द्वारा मारा जाता है।

रावण का मृत शरीर युद्ध-भूमि पर पड़ा हुआ था। हनुमानजी ने लक्ष्मण से पूछा—“लक्ष्मणजी ! रावण के शरीर पर ये असंख्यों

छिद्र कैसे हो गये ?” लक्ष्मणजी बोले—“हनुमानजी ! ये भगवान् के राम द्वारा चलाये गए वाणों से हो गये हैं ।” पास ही रामचन्द्रजी खड़े थे, वे बोले—“तात ! रावण के दोष, दुर्गुणों, विकारों ने ही उसका शरीर छलनी बना दिया है ।” वस्तुतः कोई किसी को नहीं मारता मनुष्य स्वयं ही अपने आपको मारता है उसकी बुराइयाँ, दुर्गुण ही उसे खा जाते हैं ।

स्वार्थ बढ़ते-बढ़ते इतना प्रबल हो जाता है कि सगे सम्बन्धियों तक का घात करने में स्वार्थी को संकोच नहीं होता । औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद में डाला था और अपने भाइयों का कत्ल कराया था । स्वार्थ की दुष्ट वृत्ति बढ़ती ही न रहे, इसलिए परमार्थ की कैंची से उसे काटते रहना चाहिए ।

कुधान्य का दुष्प्रभाव

भीष्म पितामह शर-शैया पर पड़े युद्धिष्ठिर को धर्म का उपदेश कर रहे थे । इसी बीच द्रौपदी को हँसी आ गई । भीष्म ने पूछा—“बेटी तू इतनी शीलवती है फिर भी ऐसे असमय में वड़ों के समक्ष तुझे हँसी क्यों आई ?” द्रौपदी बोली—पितामह अपराध क्षमा करें । मेरे मन में यह विचार आया कि जब भरी सभा में मेरे वस्त्र खींचे जा रहे थे, तब आप भी वहाँ उपस्थित थे । उस समय आपका यह धर्म ज्ञान कहाँ चला गया था ? यही सोचकर मुझे हँसी आ गई ।’ पितामह बोले—‘बेटी तुम्हारा सोचना ठीक ही है । उस समय दुर्योधन का अन्यायपूर्ण उपाजित कुधान्य खाने से मेरी बुद्धि भी अशुद्ध हो गई थी, मेरा मन कुसंस्कार युक्त हो गया था, इसी वजह से अन्याय के विरुद्ध न बोल सका ।’ मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन, बुद्धि का निर्माण होता है । अन्यायोपाजित, कुसंस्कारी कुधान्य का सेवन न किया जाय भले ही भूखों क्यों न मरना पड़े । क्योंकि मन, बुद्धि के विकृति हो जाने पर समस्त जीवन ही विकृत हो जाता है ।

जुआ का दुष्परिणाम

बुराई, दुर्गुण चाहे सामान्य व्यक्ति में हों या महान् व्यक्ति में ।



ये जहाँ भी होते हैं, वही पतन की स्थिति पैदा हो जाती है। जुआ खेलने के कारण युधिष्ठिर सहित पाण्डवों को तथा दमयन्ती सहित नल को कष्टमय परित्यक्त जीवन बिताना पड़ा था। दोनों ही राजा चरित्रवान्, गुणवान् एवं धर्मात्मा थे, लेकिन एक तनिक-से दुर्गुण, व्यसन ने उन्हें गिरा दिया।

बिना परिश्रम का धन सवनाश कर देता है

तीन चोरों को एक जगह चोरी करने पर काफी धन मिला। जंगल में जाकर उसे बाँटने का तय हुआ। लेकिन तीनों ही कई दिनों के भूखे प्यासे थे, इसलिए बटवारा करने से पूर्व भोजन करने की बात तय हुई। एक व्यक्ति पास के नगर से खाद्य-पदार्थ लेने लगा दूसरा पास के सरोवर से जल। एक धन की रखवाली के लिए ठहर गया। तीनों के मन में लोभ की दुर्भावना बढ़ी, प्रत्येक सोचने लगा—“क्यों न दो का सफाया करके मैं स्वयं ही इस धन का मालिक बन जाऊँ ?” अब क्या था—एक ने भोजन में विष मिला लिया, दूसरे ने पानी में और तीसरे ने शस्त्र का सहारा लिया। उसने एक-एक करके भोजन और पानी लाने वाले साथी को आते ही तलवार से मोत के घाट उतार दिया। वह स्वयं भोजन करने लगा और कुछ ही समय में विष के प्रभाव से भर गया। तीनों मर गये, धन पड़ा ही रह गया। बिना परिश्रम के धन से इसी तरह दुष्टता, दुर्भावन और विनाशकारी परिणाम प्राप्त होते हैं।

स्वर्ण ष्ठीवी पुत्र

महाराज संजय के कोई सन्तान न थी, इससे वे बड़े दुःखी रहते थे। इसके लिए उन्होंने ब्राह्मणों की बड़ी सेवा की। ब्राह्मणों ने नारद भगवान् से राजा की इच्छा पूरी करने की याचना की। नारद ने राजा से पूछा—तुम्हें कैसा पुत्र चाहिए ? राजा को लोभ आ गया। बोले—मेरा बालक ऐसा हो जिसका थूक, मल मूल सभी स्वर्णमय हों। एवमस्तु कहकर नारद चले गये। कुछ दिन में इन्हीं गुणों से संपन्न

बालक पैदा हुआ। उसका नाम सुवर्णश्री रखा गया। विचित्र बालक की खबर चारों ओर फैल गई। दस्युओं ने सुना तो एक रात बालक का अपहरण कर ले गये। पर उनमें इस बात का भगड़ा हो गया कि पहले कौन बालक को रखे ? आखिर यह तय हुआ कि बालक को मार कर सारा सोना निकाल लिया जाय। बच्चे को डाकुओं ने काट डाला, पर सोना न निकला। राजा को समाचार मिला तो चोरों को पकड़वा कर मौत की सजा दी। लोभ ही पाप की जड़ है, यह सोच कर राजा बड़े दुःखी हुए।

✓ पारस का राजा

एक कहानी यह भी है कि एक राजा ने तप करके किसी देवता से वर माँगा कि “वह जिसे छुए वही सोने का हो जाय।” वरदान मिल गया तो वह बहुत प्रसन्न हुआ, पर जैसे ही भोजन करने बैठा वैसे ही खाने की चीजें सोने की हो गईं। पीने का पानी छुआ तो वह भी सोने का था। बच्चे गोदी में चढ़ने आये तो वे भी सोने के निर्जीव हो गये। इस प्रकार सब कुछ सोने का हो जाने से उसका जीवन अत्यन्त कष्टमय हो गया और उसी कष्ट से उसकी मृत्यु हो गई।

तृष्णा जीवन को दुःखदायी बना देती है

(मधुवर्त नामक एक वैश्य महाराज समुद्रदत्त के यहाँ नौकरी करता था। एक दिन मधुवर्त जंगल से गुजर रहा था कि उसे एक आवाज सुनाई पड़ी “सात घड़ा धन लो गे।” कोई दिखाई नहीं दिया लेकिन लालची मधुवर्त ने “हां” कह दिया और फिर अदृश्य आवाज ने कहा—“जाओ तुम्हारे घर पहुँचा दिये जायेंगे। मधुवर्त तेजी से घर की ओर बढ़ा। घर पहुँच कर उसकी स्त्री ने पहले ही हँसते हुए सात घड़ा धन का शुभ समाचार उसको सुनाया। मधुवर्त ने बड़ी खुशी के साथ घड़ों को देखा, छः घड़े तो पूरे भरे थे लेकिन एक कुछ खाली था। उसने सोचा यह भी पूरा भरा हुआ होना चाहिए और जो पहले की

कमाई बचा कर रखी थी सब उसमें रख दी फिर भी वह खाली रहा । अब बहुत तज़्जी में गुजारा करते हुए मधुवर्त ने बचत करके उसमें डालना शुरू किया, राजा से तनख्वाह बढ़ाने के लिए कहा । वह भी बढ़ा दी गई लेकिन घड़ा अभी पूरा नहीं भरा । मधुवर्त की चिन्ता बराबर बढ़ती ही चली गई जब कि उस की तनख्वाह भी बढ़ा दी गई थी । राजा ने उसका यह हाल देखा तो एक दिन पूछ ही लिया “कहीं सात घड़े धन तो नहीं ले आये ।” मधुवर्त बोला “हाँ महाराज !” तब महाराज समुद्र-दत्त ने कहा उन्हें लौटा आओ अन्यथा तुम्हारी ऐसी ही खराब हालत बनी रहेगी । मधुवर्त ने ऐसा ही किया और उस स्थान पर जाकर कह दिया ‘अपने घड़े ले आओ’ सातों घड़े घर से गायब हो गये । उनके साथ ही माधव की कमाई भी चली गई । बाद में महाराज ने बताया कि यह धन यक्ष का था उसने मुझसे भी कहा था लेकिन मैंने मना कर दिया । वस्तुतः लोभ और तृष्णा यक्ष की तरह ही मायावी होती है । ये मनुष्य के सुख-शान्ति और जीवन के सहज आनन्द को छीन लेते हैं ।

लोभी ही सबसे बड़ा गरीब होता है

✓ एक महात्मा भ्रमण करते हुए जा रहे थे । उन्हें मार्ग में एक रुपया मिला । वे तो विरक्त और सन्तोषी व्यक्ति थे, वे उसका क्या करते ? उन्होंने किसी दरिद्र को ग्रह रुपया देने का विचार किया । कई दिन दरिद्र की तलाश करते-करते बीत गये, लेकिन उन्हें कोई दरिद्र न मिला । एक दिन उन्होंने देखा—एक राजा अपनी सेना सहित दूसरे राज्य पर चढ़ाई करने जा रहा है । साधु ने वह रुपया राजा के ऊपर फेंक दिया । इस पर राजा बड़ा नाराज हुआ । लेकिन साधु ने धैर्य के साथ कहा—“राजन् मैंने एक रुपया पाया, उसे किसी को देने का निश्चय किया । लेकिन मुझे तुम्हारे बराबर कोई व्यक्ति नहीं मिला, क्योंकि जो इतने बड़े राज्य का अधिपति हो कर भी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करने जा रहा हो और इसके लिए युद्ध में अपार संहार करने को उद्यत हो रहा हो, इससे ज्यादा दरिद्र और कौन होगा ?” राजा का क्रोध शान्त हुआ

और अपनी भूल का पश्चाताप करते हुए उन्होंने वापिस अपने देश को प्रयाण कर दिया। सन्तोषी के लिए अपने पास जो साधन होते हैं, वे ही पर्याप्त लगते हैं, उसे आवश्यकता की भूख नहीं सताती। लेकिन लोभ और तृष्णा से असन्तुष्ट व्यक्ति के लिए अपार सम्पत्ति भी कम होती है। इसलिए लोभ और तृष्णा को जीवन में स्थान नहीं देना चाहिए।

निन्यानर्वा का फेर

एक गरीब मजदूर अपनी पत्नी समेत एक सेठ के पड़ोस में रहता था। वह जो कमा कर लाता, रात को पति-पत्नि उसका स्वादिष्ट भोजन बना कर खाते। सेठ की पत्नी छत पर से उन्हें देखती रहती। एक दिन सेठानी ने अपने पति से कहा कि पड़ोसी मजदूर इतना अच्छा भोजन करते और सुख की नींद सोते हैं, पर हम लोग घटिया खाते और दिन भर धन की रखवाली में चिन्तित रहते हैं, हम से तो यह मजदूर ही अच्छे।

सेठ ने कहा—मजदूर “६६ के फेर” में नहीं पड़ा है। सेठानी ने पूछा—“६६ का फेर” क्या होता है? सेठ ने रात को एक पोटली में ६६ रु० बाँध कर चुपके से मजदूर के आँगन में फेंक दिये। प्रातः मजदूर उठा और उसने रुपयों की पोटली पड़ी देखी तो प्रसन्न हुआ और रुपये गिने। वे ६६ निकले। पत्नी से कहा—“खाने में कुछ बचत करके १) रुपया पूरा कर लें तो १००) रु० हो जायें।” बात तय हो गई। इस दिन की मजदूरी आधी खाई गई आधी बचाई गई। सेठानी ने छत पर से देखा कि ६६ के फेर में पड़ने के पहले दिन ही भोजन घटिया हो गया। दो-चार दिन में एक रुपया पूरा हो गया। पर लोभ बढ़ जाने से उन्होंने उस पूँजी को बढ़ाने का निश्चय किया और बहुत गरीबी से रहने लगे तथा दिन-रात अधिक कमाने की चिन्ता में डूबे रहने लगे।

सेठजी ने सेठानी को बताया कि यही ६६ का फेर है। धन अधिक बढ़ाने और उसे रखाने के लोभ चक्र में मनुष्य अपनी सारी सुख-शान्ति खो बैठता है।

✓ जयचन्द का देश-द्रोह

जयचन्द ने मुम्महद गौरी के साथ मिल कर पृथ्वीराज का पतन कराया, लेकिन वह स्वयं भी सुरक्षित न रह सका। आक्रमणकारियों ने उसका भी राज छीन लिया और बन्दी बना लिया। काश पृथ्वीराज के साथ मिलकर जयचन्द आक्रमणकारियों का सामना करते तो देश को गुलामी के दिन नहीं देखने पड़ते।

✓ मिरजाफर द्वारा विश्वासघात

सन् १७५७ की बात है—अंग्रेज धीरे-धीरे अपने पैर भारतवर्ष में जमा रहे थे। छल, बल, कौशल जैसे भी बने वे अपना विस्तार कर रहे थे। उन दिनों सिराजुद्दौला वज्जाल के नवाब थे, इनका सेनापति था—मीरजाफर। मीरजाफर को अंग्रेजों ने अपनी ओर मिलाने के लिए उसे बंगाल का नवाब बनाने का प्रलोभन दिया और वह विश्वासघाती अंग्रेजों से मिल गया। अंग्रेजों ने बंगाल पर चढ़ाई की लेकिन मीरजाफर ने सेना की व्यवस्था बिगाड़ दी जिससे नवाब सिपाही अंग्रेजों का सामना न कर सके और सिराजुद्दौला हार गया। लेकिन कुछ समय बाद मिरजाफर भी कैद करके मार दिया गया।

✓ लोभी अमीचन्द

सेठ अमीचन्द भारत के बड़े धन पतियों में से थे। अंग्रेज उन दिनों भारत में अपनी नींव जमा रहे थे। उन्हें लड़ाई के लिए सैनिक और साज-सामान जुटाने के लिए धन की आनश्यकता पड़ी तो सेठ अमीचन्द से कर्ज के रूप में धन मांगा। देश के हित का ध्यान न रखने वाले सेठ जी ने ब्याज के लोभ से बहुत बड़ी सम्पत्ति अंग्रेजों को कर्ज में दे दी और उसके ब्याज पर उन्होंने सैनिक तैयारियां करके बड़े-बड़े युद्ध लड़े और अपना शासन जमा लिया। जब अमीचन्द ने रुपया मांगा तो अंग्रेजों ने मना कर दिया जिसके गम से सेठ जी मर गये।





कुसङ्ग और दुष्ट

(कुसङ्ग से बचना चाहिये और दुष्टों से दूर रहना चाहिए। उनका सहयोग एवं समर्थन तो कदापि न करना चाहिए। दुष्टों का सम्पर्क मनुष्य के पतन का कारण बनता है और उनका समर्थन करने से पाप का भागी बनना पड़ता है।)

कुसङ्ग और सत्सङ्ग

अजामिल अपनी दुष्टता एवं दुराचार के लिए विख्यात हुआ। पर आरम्भ में वह एक सदाचारी ब्राह्मण था। किसी कार्यवश विदेश गया तो वहाँ कुलटा स्त्रियों और दुरात्मा लोगों की संगति में पड़ गया। कुसङ्ग बड़े-बड़ों का पतन कर देता है। बुरों का सुधारना कठिन है पर अच्छों का बिगड़ जाना सरल है। कुसङ्ग से अजामिल इतना पतित हुआ कि कूसाई तक का काम करने लगा।

कथा है कि वह पीछे सत्सङ्ग से सुधरा और भगवद् भक्त बना। कुसङ्ग-सत्सङ्ग का मनुष्य पर भारी प्रभाव पड़ता है। इसलिए कुसङ्ग से बचने और सत्सङ्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

कुसङ्ग से प्राण हानि

कुसङ्ग से भले मनुष्यों को भी विपत्ति का सामना करना पड़ता है। एक हंस और कौवा दोनों साथ-साथ रहते थे। हंस अपने स्वभाव अनुसार सदैव कौवे के प्रति सद्भावना और शुभ कामनायें रखता किन्तु कौवा मन ही मन हंस के प्रति द्वेषभाव रखता। वह किसी न किसी तरह हंस का अहित करने की ताक में रहता। एक दिन हारा-थका एक शिकारी उस पेड़ के नीचे आकर सो गया जहाँ वे दोनों रहते थे। कुछ देर में उस शिकारी के मुँह पर घूप आ गई इस पर हंस को बड़ी दया आई और अपने पङ्ख पसार कर उसने घूप को रोक लिया कौवे का दाव लग गया। नीचे की टहनी पर बैठकर उसने सोये हुए शिकारी के मुँह



पर बीट कर दी और स्वयं उड़ गया। शिकारी की नींद खुली तो ऊपर हंस को पल्लु पसारे हुए देखा। उसे क्रोध आया और तीर चला कर उसका काम तमाम कर दिया। कुसंगति से हंस को प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। विचारशील लोगों को चाहिए कि वे कुसंग का सर्वथा परित्याग करें। इसके अतिरिक्त दुष्टजनों के साथ भलाई से भी दुष्टों का पोषण सज्जनों को कष्ट देने के बराबर ही माना गया है।

✓ सङ्गति का प्रभाव

चित्रांगद सपरिवार विदेश जाने के लिए तैयार हुए। उनके पास दो तोते थे। उन्हें कहीं छोड़ जाय यह समस्या पैदा हुई। अखिर उनके ग्राम के एक पण्डित और एक कसाई एक-एक तोता अपने पास रखने के लिए राजी हो गए। तोते उन्हें दे दिए गये। काफी समय पश्चात् चित्रांगद अपनी यात्रा से वापिस आये और दोनों तोतों को वापिस अपने घर मँगा लिया। जो तोता ब्राह्मण के घर था उसने बोलना शुरू किया “दया धर्म और साधन”। इसी बीच दूसरा तोता बोल उठा “धर पटकना, काटना”।

संगति का प्रभाव पशु-पक्षियों तक पर पड़ता है फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है।

✓ दुष्ट के साथ भलाई का दुष्परिणाम

दुष्ट के साथ भलाई करना भी अपने लिए आपत्ति मोल लेना है। एक हंस उड़ता हुआ अपने निवास स्थान की ओर जा रहा था। सांझ का समय था। उसने देखा एक चूहा ठण्ड के मारे ठिठुरता अर्द्ध चेतन हुआ पड़ा है। उसे देखकर हंस को दया आ गई। सज्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है। वह नीचे उतरा अपने पंख फैलाकर चूहे को ढक लिया। इससे सदी रुक गई और धीरे-धीरे चूहे के बदन में गर्मी आई और अपने आपको ठीक महसूस करने लगा। अब क्या था वह अपने काम में लग गया और हंस के मुलायम-मुलायम पंखों को काट

दिया । सवेरा हुआ सूर्य की किरणें बसुधा पर फैलने लगी । हंस ने उड़ने की तैयारी की किन्तु वह उड़ न सका । चूहे को कृतघ्नता पर उसे बड़ा दुःख हुआ और जब तक दूसरे पंख न उगे वहीं घूम फिरकर अपने दिन काटने पड़े । दुष्टों के साथ दया और भलाई का, सज्जनता का व्यवहार करना भी उनकी दृष्टता को बढ़ावा देना है ।

✓ दोष एवं दुर्गुण जिन्हें त्यागना ही चाहिए

दोष और दुर्गुणों से ग्रस्त मनुष्य वस्तुतः मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं, उसे नर पशु ही कहना चाहिए । सद्गुण ही मानव-जीवन की सच्ची सम्पत्ति हैं । उनके बिना उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता । दुर्गुणी व्यक्ति दूसरों को तो दुःखी करता ही है, स्वयं भी दुःख पाता है । इसलिए दूढ़-दूढ़कर दोष-दुर्गुणों का परित्याग करना ही उचित है ।

शक्तियों का दुरुपयोग करने से स्वयं का विनाश

श्रुतायुध ने कठोर तप किया, उससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने अमोघ गदा उसे प्रदान की लेकिन उसके साथ यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि उसका दुरुपयोग न हो अन्यथा वह स्वयं ही नष्ट हो जायगा । महा-भारत का युद्ध हो रहा था श्रुतायुध और अर्जुन में लड़ाई चल रही थी, इसी बाव भगवान् कृष्ण को किसी कारणवश हंसी आ गई । अपना अपमान समझकर क्रोधावेश में श्रुतायुध ने वह अमोघ गदा श्रीकृष्ण पर चला दी । लेकिन अनुचित प्रयोग से गदा का प्रहार श्रीकृष्ण पर न होकर श्रुतायुध पर ही हुआ और वह क्षत-विक्षत होकर भूमि पर गिर पड़ा । मनुष्य प्रकृति प्रदत्त अपनी शक्तियों का जब दुरुपयोग करता है तो वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है ।

आत्म-प्रशंसा से ययाति का पतन

मनुष्य को अपने शुभ कर्मों का दर्प कभी नहीं करना चाहिए । इससे उल्टे उसके पुण्य क्षीण होते हैं और वह पतन को प्राप्त होता है ।

महाराज ययाति ने अपने पुत्र पुरु को राज्य भार सौंप दिया और स्वयं वन में तपस्या के लिये चले गये। वहाँ विधिवत् उन्होंने आत्म-परिष्कार करके उच्च स्थिति प्राप्त की। वे देवत्व की श्रेणी में आ गये। एक दिन वे अपनी सफलताओं से प्रसन्न होकर विचरण कर रहे थे इतने में ही महर्षि नारद उधर आ निकले। उन्होंने पूछा—“राजन् आज इतने प्रसन्न कैसे नजर आ रहे हो?” और ययाति ने अपनी तप साधना की कथा कहना शुरू कर दिया। अपनी प्रशंसा करते हुए वह कह गये, “महर्षि मेरे समान इस पृथ्वी पर शायद ही कोई तपस्वी हो।” बस इसी से महाराज ययाति का तप नष्ट हो गया और उनमें देवत्व का सूक्ष्म तत्व समाप्त हो गया। वे फिर अपने को पहले जैसा ही अनुभव करने लगे।

कृतघ्न-हिरन

एक शिकारी हिरन का पीछा करता आ रहा था। जान बचाने के लिए हिरन अंगूर की लताओं में छिप गया। शिकारी को गया जान कर उसने अंगूर की सारी बेल चरली, इस पर शिकारी ने उसे देख लिया और मार दिया। मरते समय हिरन कह रहा था जो आश्रय देने वाले के साथ कृतघ्नता करता है उसकी मेरी जैसी ही दशा होता है।

जैसी करनी वैसी भरनी

एक व्यक्ति अपने बूढ़े अशक्त पिता को मिट्टी के बर्तन में तिर-स्कारपूर्वक भोजन दिया करता था। उस व्यक्ति का एक छोटा-सा बच्चा भी था। उसने अपने खेलने के स्थान पर टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तन जमा करने शुरू कर दिये। पिता ने इसका कारण पूछा तो बच्चे ने कहा—आप और माताजी जब बूढ़े होंगे तब मुझे भी तो इसी तरह टूटे बर्तनों में आप लोगों को भोजन देना पड़ेगा सो अभी से बर्तन इकट्ठे कर रहा हूँ।

उस व्यक्ति की आँखें खुलीं और सम्मानपूर्वक माता-पिता को भोजन देना आरम्भ कर दिया ताकि बुढ़ापे में उसे भी वैसा ही असम्मान न सहना पड़े। जो पुरुष या स्त्रियाँ अपने आश्रित जनों के साथ उपेक्षा



अथवा अपमान का व्यवहार किया करते हैं, या बड़ी आयु के वृद्ध व्यक्तियों को निकम्मा समझकर उनके प्रति दुर्व्यवहार करते हैं, उनको भी अन्त में दुःखदायी परिणाम सहन करना पड़ता है।

आलस्य का अभिशाप

एकबार शैतान को संन्यास लेने की सूझी। उसने अपना सारा सामान लोगों को उपहार में बाँटना शुरू किया। नशेबाजी, चूगली, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब का दान कर दिया। शैतान ने। अब उसके पास सिर्फ आलस्य बच गया लेकिन उसे किसी को भी देने के लिए वह तैयार न हुआ। एक वृद्ध ने पूछा “भाई जब संन्यास ही ले रहे हो तो इसे अपने पास क्यों रखते हो?” शैतान बोला “कदाचित् कभी संन्यास में मेरा जी न लगा तो इसके सहारे फिर मैं अपनी जिंदगी बिता लूँगा और अपनी पूर्व सम्पत्तियों को संग्रहीत कर लूँगा।”

सचमुच आलस्य जीवन की सभी बुराइयों की मूल जड़ है। इससे सब बुराईयाँ अपने आप पैदा हो जाती हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर में आलस्य को ठौर न दे और उसका सदैव प्रतिकार करता रहे।

×

×

×

×

मनः सर्वमिदं राम ! तस्मिन्नन्तश्चिकित्सते ।

चिकित्सतो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ॥

हे राम ! यह मन ही सब कुछ है। इस मन की भीतरी चिकित्सा भली-भाँति कर लेने पर फिर इस संसार के अन्य समस्त रोगों की पूर्ण चिकित्सा हो जाती है।

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोक जुगुप्सिताः ।

ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ।



पाप करने वाले क्रूर मनुष्य लोक द्वारा जुगुप्सित हो कर, नष्ट हुई जड़ों वाले वृक्षों के समान, ऐश्वर्य को पा कर भी देर तक स्थिर नहीं रहते । अर्थात् वे बहुत शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं ।

न द्विषन्तः क्षयं यान्ति यावज्जीवमपि धनतः ।

क्रोधमेव तु यो हन्ति तेन सर्वे द्विपो हताः ॥

जीवन पर्यन्त मारते रहने पर भी शत्रु सर्वथा नष्ट नहीं हो सकते । इसलिए जिसने क्रोध को मार लिया उसने सारे शत्रुओं को मार लिया ऐसा समझो ।

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः ।

क्रोधो ह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥

क्रोध प्राणों को लेने वाला शत्रु है, क्रोध मित्र के रूप में आते वाला शत्रु है । क्रोध अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार के समान है, क्रोध सबकी अवनति करने वाला है ।

जायते यत्र स क्रोधस्तन्दहेदेष सर्वतः ।

विषयञ्च ववचित्क्रोधः सफलो निर्दहेदयम् ॥

यह क्रोध जिस देह में उत्पन्न होता है उसे सर्वथा जला कर ही छोड़ता है, यह क्रोध अपने विषय अर्थात् आश्रय को जला देता है । इस अग्नि से बच कर रहना चाहिये ।

क्रोधो नाशयते धैर्यं क्रोधो नाशयते श्रुतम् ।

क्रोधो नाशयते सर्वं नास्ति क्रोधसमो रिपुः ॥

क्रोध धैर्य को नष्ट कर देता है, क्रोध से सारा अनुभव तथा ज्ञान नष्ट हो जाता है, क्रोध से सब कुछ नष्ट हो जाता है, क्रोध के बराबर कोई शत्रु नहीं है ।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।

व्यसनलधाऽधो ब्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥

व्यसनों में और मृत्यु में व्यवसनों को ही कष्टकारक माना गया है । क्योंकि व्यसनों से मनुष्य हीन से हीन दशा को प्राप्त होता रहता है और निर्व्यसनी मनुष्य मर कर स्वर्ग को प्राप्त करता है ।

मूर्खस्य पञ्च चिह्नानि पर्वो दुर्वचनं तथा ।

हठी चैव विषादी च परोक्तं नैव मन्यते ॥

मूर्ख जन के पाँच मुख्य लक्षण हैं, प्रथम गर्व करना, दूसरे दुर्वचन बोलना, तीसरे हठ करना, चौथे कलह करने वाला होना, पाँचवें दूसरे के कहे हुए वचन को न मानना ।

सर्वे यत्र बिनेतारः सर्वे यत्राभिमानिनः ।

सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति कुलं तदवसीदति ॥

जिस कुल में सब अपने आपको नेता मानने वाले हैं और सारे अभिमानी हैं तथा सब अपना महत्त्व चाहने वाले होते हैं वह कुल नष्ट हो जाता है ।

लोभाविष्टो नरो वित्तमीक्षते न स चापदम् ।

दुग्धं पश्यति मार्जारो यथा न लगुडादिकम् ॥

लोभ में फँसा हुआ मनुष्य धन को ही देखता है किन्तु उसके कारण होने वाली आपत्तियों को नहीं देखता, जैसे बिल्ली दूध को ही देखती है डण्डे को नहीं ।

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति राणिनां ।

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ॥

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते ।

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

(रागी मनुष्य बन में रह कर भी दोष करते रहते हैं किन्तु जो घर में रह कर भी पाँचों इन्द्रियों पर निग्रह रखता है वह तपस्वी है । जो मनुष्य सदा श्रेष्ठ प्रशंसनीय कर्म ही करता है उस निवृत्तरागी पुरुष लिए तो घर भी तपोवन ही है ।)

जन्मैव व्यर्थतां नीतं भवभोगप्रलोभिना ।

काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया ॥

संसार के लोगों में फँस कर यह सारा जन्म व्यर्थ गंवा दिया ।
दुःख है कि मैंने चिन्तामणि को शीशे के मूल्य में बेच दिया ।

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभी जनयते तृषाम् ।

तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥

लोभ से बुद्धि चल जाती है, लोभ ही तृष्णा को बढ़ाता है, और तृष्णा से दुःखी मनुष्य इस लोक और परलोक में कष्ट पाता है ।

अन्तस्तृष्णोपनप्तानां दावदाहमयं जगत् ।

भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्वहिः स्थितम् ॥

जिनका अन्तस् तृष्णा से परितप्त है, उनके लिए यह जगत दावा-
नल के समान है—क्योंकि अन्तर के अनुरूप ही बाह्य प्रतीत होता है ।

मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद्वेत्ति मामिति ।

विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवाप्तः पूरुषः ॥

पापी मनुष्य पाप करके यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता । किन्तु उसके उस पाप को सब देवता जानते होते हैं तथा जो सबके अन्दर वर्तमान ईश्वर है वह सब जानता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

निश्चय ही कामनायें काम के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती प्रत्युत जैसे अग्नि में आहुति डालने से अग्नि बढ़ती है उसी प्रकार काम के उपभोग से कामनायें बढ़ती हैं ।

अरुन्तुदं पुरुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यात् ।

विद्यादलक्ष्मीकतम जनानामुखे निवद्धानिर्ऋतिं वैवहन्तम् ॥

जो मर्मभेदी कठोर, रूखे वचन वाणों रूपी काँटों से मनुष्यों को छेदते हैं, उसे मनुष्यों में अति दरिद्री जानो, वह मानो अपनी दरिद्रता को अपने ही मुख में दबाये फिरता है ।

उत्तमे तु क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम् ।

अधमे स्यादहोरात्रं चाण्डाले मरणान्तिकः ॥

(उत्तम प्रकृति के पुरुष में यदि क्रोध आता भी है तो क्षण भर के लिए । मध्यम पुरुष में दो घड़ी के लिए । तथा अधम प्रकृति के पुरुष में दिन-रात क्रोध रहता है और चाण्डाल पुरुष में मृत्यु पर्यन्त क्रोध रहता है ।)

नास्ति काम समो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः ।

नास्ति क्रोध समो बहिनर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम् ।

(काम के समान कोई व्याधि नहीं है, मोह के समान कोई शत्रु नहीं है, क्रोध के समान कोई आग नहीं है और ज्ञान के समान कोई सुख नहीं है ।)

पतंगमातंगकुरंगभृंगमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।

एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

(पंतग, हाथी, हिरण, भौरा और मछली यह पाँचों अपनी एक-एक इन्द्रिय के एक-एक विषय के सेवन से ही मारे जाते हैं। फिर इस प्रमादी मनुष्य की मृत्यु क्यों न होगी जो इन पाँचों विषयों का अपनी पाँचों इन्द्रियों से सेवन करता है।

डरै पाप दुष्कर्म ते, और न डरिये काहि ।
 काल-गाल ते का डरै, जा मुख सबै समाहि ॥
 कलह न जानव छोटि करि, कठिन परम परिनाम ।
 लगत अनल लघु नीच घर, जरत धनिक धन धाम ॥
 खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै लै जात ।
 पीछे ज्यों मधु मच्छिका, हाथ मलै पछितात ॥
 पर द्रोही परदार रत, पर धन पर अपवाद ।
 ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥
 कमला थिर न रहीम कहि, लखत अधम जे कोय ।
 प्रभु की सो अपनी कहैं: क्यों न फजोहत होय ॥
 अमित लोभ ते हानि बड़, पै न करै परतीत ।
 हेम हिरन पीछे गये, राम गाँवाई सीत ॥
 करे बुराई सुख चहे, कैसे पावें कोइ ।
 रोपै पेड़ बबूल को, आम कहाँ ते होइ ॥
 कुटिल बचन सब से बुरा. जार करै तन छार ।
 साधु बचन जलरूप है, बरसै अमृत धार ॥
 भीतर सों मैलो हियौ, बाहर रूप अनेक ।
 नारायण तासों भलौ, कौआ तन मन एक ॥

एक कनक औ कामिनी, विष कल किये उपाय ।
 देखत ही ते विष चढ़े, चखा ही मर जाय ॥
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय ॥
 काम बिगाड़े भक्ति को, ज्ञान बिगाड़े क्रोध ।
 लोभ बिराग बिगाड़ दे, मोह बिगाड़े बोध ॥
काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान ।
तब लगि पण्डित मूरखौ, तुलसी एक समान ॥
 काम कोध अरु लोभ मद, मिथ्या छल अभिमान ।
 इनसे मन को रोकियो, साँचो ब्रत पहिचान ॥
 रहि मन वित्त अधर्म को, जरत न लागै बार ।
 चोरी करि होरी रची, भई तनिक में छार ॥
 रौस मिटै कैसे सहज, रिस उपजावन बात ।
 ईंधन डारे आगि में, कैसे आगि बुझात ॥

बाल कांड के अन्तर्गत श्री रामचंद्रजी ने पुष्पवाटिका में गौरी पूजन के लिए आई हुई सीता को देखने के प्रसंग में निम्न बातें कहीं हैं—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ ।
 मनु कुपंथ पै धरइ न काऊ ॥
 मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी ।
 जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी ॥

जिन्ह कै लहहि न रिपु न पोठी ।

नहि लावहि परतिय मन डीठी ॥

सुन्दरकांड के अन्तर्गत विभीषण रावण को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं—

जौ कृपालु पूँछिहु मोहि बाता ।

मति अनुरूप कहउँ हित ताता ॥

जो आपन चाहै कल्याना ।

सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना ॥

सो परनारि लिलार गोसाईं ।

तजउ चउथि चन्द की नाईं ॥

चौदह भुवन एक पति होई ।

भूत द्रोह तिष्ठइ नहि सोई ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत भी इसी प्रकार लक्ष्मण जी ने भगवान् परशुराम से कहा है कि हे नाथ ! क्रोध समस्त पापों की जड़ है । यथा—

दोहा-लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रौंध पाप कर मूल ।

जेहि बस जन अनुचित करहि, चरहि विस्व प्रतिकूल ॥

उत्तर काण्ड के अन्तर्गत काकभुसण्ड जी गरुड़ को दुष्टों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं ।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी ।

अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥

पर संपदा बिनासि नसाहीं ।

जिमि ससि हित हिम उपल बिलाहीं ॥

दुष्ट उदय जग आरति हेतू ।
 जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥
 सन्त उदय सन्तत सुखकारी ।
 विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ॥
 परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा ।
 पर निंदा सम अध न गरीसा ॥
 हर गुरु निंदक दादुर होई ।
 जन्म सहस्त्र पाव तन सोई ॥
 द्विज निंदक बहु नरक भोग करि ।
 जग जनमइ बायस सरीर धरि ॥

सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी
 रौरव नरक परहि ते प्राणी ॥

होहिं उलूक सन्त निंदा रत ।
 मोह निसा प्रिय ग्यान भानु गत ॥
 सब कै निंदा जे जड़ करहीं ।
 ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥
 सुनहु तात अब मानस रोगा ।
 जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा ॥
 मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला ।
 तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥

काम वात कफ लोभ अपारा ।
 क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
 प्रीति करहिं जौ तोनिउ भाई ।
 उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥
 विषय मनोरथ दुर्गम नाना ।
 ते सब सूल नाम को जाना ॥
 ममता दादु कंडु इरषाई ।
 हरष बिषाद गरह बहुताई ॥
 पर सुख देखि जरनि सोइ छई ।
 कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥
 अहंकार अति दुखद डमरुआ ।
 दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥
 तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी ।
 त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी ॥
 जुग बिधि ज्वर मत्सर अविवेका ।
 कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥

दोहा-एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्वाधि ।

पीड़हिं संतत जीव कहँ सो किमि लहै समाधि ॥

अरण्यकांड के अन्तर्गत जब नारद जी श्री रामचन्द्र जी से पम्पासर वर के पास मिलने आये तब श्री रामचन्द्रजी ने उन्हें निम्न उपदेश दिया—

दोहा-काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह के धारि ।

तिन्ह महुँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता ।

मोह विपिन कहुँ नारि बसंता ॥

जप तप नेम जलाश्रय भारी ।

होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥

काम क्रोध मद मत्सर भेका ।

इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ॥

दुर्बासना कुमुद समुदाई ।

तिन्ह कहै सरद सदा सुखदाई ॥

धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा ।

होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मन्दा ॥

पुनि ममता जवास बहुताई ।

पजुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥

पाप उलूक निकर सुखकारी ।

नारि निबिड़ रजनी श्रंधियारी ॥

बुधि बल सील सत्य सब मोना ।

बनसी सम त्रिय कहहि प्रबोना ॥

दोहा-अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि ।

ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि ॥

लङ्काकाण्ड के अन्तर्गत अंगद जब रावण की सभा में गये थे

उस समय रावण द्वारा कटु वचन बोलने पर अंगद उससे कहते हैं—



कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा ।
 अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥
 सदा रोगबस संतत क्रोधी ।
 विष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी ॥
 तनु पोषक निंदक अघ खानी ।
 जीवत मृत सम चौदह प्रानी ॥
 अस बिचारि खल बधउं न तोही ।

अयोध्याकाण्ड में निषाद को समझाते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

अब जनि रिस उपजावसि मोही ॥
 मोह निसाँ सबु सोवनिहारा ।
 देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥
 एहि जग जामिनि जागहि जोगी ।
 परमारथी प्रपंच वियोगी ॥
 जानिअ तबहि जीव जग जागा ।
 जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
 होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा ।
 तब रघुनाथ चरन अनुरांगा ॥

उत्तर काण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्रजी अपने भ्राता भरत से कहते हैं—

करहि मोह बस नर अघ नाना ।
 स्वारथ रत परलोक नसाना ॥

कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता ।

सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता ॥

अरण्यकांड के अन्तर्गत सीता के विरह में व्याकुल रामचन्द्रजी लक्ष्मण से बातें करते जाते हैं और उसी प्रसंग में कहते हैं ।

लछिमन देखत काम अनीका ।

रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ।

एहि कें एक परम बल नारी ।

तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥

दोहा-तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ ।

मुनि बिग्याना धाम मन करहिं निमिषि महुँ छोभ ॥

लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि ।

क्रोध कें परुष बचन बल मुनिवर कहहिं विचारि ॥

लङ्का कांड के अन्तर्गत काकभुसन्डजी गरुड़ से कहते हैं—

ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन विश्राम ।

भूत द्रोह रत मोहबस राम बिमुख रति काम ॥

बालकांड के अन्तर्गत पार्वती जी सप्तर्षियों से कहती हैं—

तात अनल कर सहज सुभाऊ ।

हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ ॥

गएँ समीप सो अवसि नसाई ।

असि मन्मथ महेस की नाई ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत कैंकयी के कोप-भवन में चले जाने के समय का वर्णन निम्न है—

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ ।
 भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ ॥
 सुरपति बसइ बाहँबल जाकें ।
 नरपति सकल रहँहि रुख ताकें ॥
 सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई ।
 देखहु काम प्रताप बड़ाई ॥
 सूल कुलिस असि अँगबनिहारे ।
 ते रतिनाथ सुमन सर मारे ॥

उत्तर कांड के अन्तर्गत काकभुसन्ड जी गरुड़ से कहते हैं—

बिनु संतोष न काम नसाहीं ।
 काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥

अण्यकांड के अन्तर्गत जब रावण सीता जी का अपहरण करने के लिए चला उस समय का वर्णन है—

जाके डर सुर असुर डेराहीं ।
 निसि न नौद दिन अन्न न खाहीं ॥
 सो दससीस स्वान की नाईं ।
 इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥
 इमि कुपन्थ पग देत खगेसा ।
 रहन तेज तन बुधि बल लेसा ॥

॥ तीसरा प्रवचन समाप्त ॥

— X X —



चौथा प्रवचन



(सदगुणों के सत्परिणाम)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्येश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिं पर्यवतिष्ठते ॥

[अध्याय २ श्लोक ६४-६५]

परन्तु राग-द्वेष रहित वशवर्ती मन वाला, अर्थात् स्वाधीन मन वाला पुरुष अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्नता को प्राप्त होता है। प्रसन्नता में इसके समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं क्योंकि प्रसन्न चित्त वाले मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

प्रसन्नता मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु है। प्रसन्न वह रहता है जो सुखी होता है। सुख का प्रमाण, चिन्ह 'प्रसन्नता' है। इस संसार में कौन ऐसा है जो प्रसन्न न रहना चाहता हो, पर देखा यह जाता है कि आये दिन कोई न कोई कारण ऐसे सामने आ उपस्थित होते हैं कि

प्रसन्नता स्थिर रह नहीं पाती । बार-बार अप्रसन्नता, क्षोभ, क्रोध, चिन्ता, भय, निराशा आदि के कारण सामने आ उपस्थित होते हैं । चित्त खिन्न रहे, मन उद्विग्न एवं अप्रसन्न रहे तो कितनी ही सम्पदा, विद्या, विभूति पास हो, सब एक प्रकार से व्यर्थ ही है ।

मानव जीवन की गरम प्रिय वस्तु प्रसन्नता के न प्राप्त होने का कारण और उपलब्धि का उपाय बहुत ही संक्षिप्त एवं सार-गर्भित रीति से समझा दिया है । उपरोक्त श्लोकों में बताया गया है कि राग-द्वेष छोड़ देने और इन्द्रियों को विषयों से रोक लेने पर अप्रसन्नता के कारण नष्ट हो जाते हैं । जिसका मन वश में है उसे प्रसन्नता मिलनी ही चाहिए । प्रसन्न रहने का माहात्म्य बताते हुए गीताकार ने कहा कि प्रसन्न रहने से मनुष्य के सारे दुःख दूर हो जाते हैं और उसकी विवेक बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

लोगों का अनुमान है कि वस्तुओं के अगाव या प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अप्रसन्नता एवं खिन्नता रहती है । पर यह बात इसलिए सही नहीं कि असंख्य मनुष्य ऐसे हैं जिनके पास गुजारे के लिए समुचित साधन मौजूद हैं, कोई खास प्रतिकूलता या सङ्कट भी सासने नहीं, फिर भी वे खिन्न दिखाई पड़ते हैं । यदि अभाव या सङ्कट ही कारण होते तो साधन सम्पन्न और सकुशल लोग उद्विग्न क्यों दीखते ? इसके विपरीत ऐसे भी अनेक लोग हैं जो अभावों और प्रतिकूलताओं से भरा जीवन यापन करते हुए भी बड़े प्रसन्न एवं सुखी हों । वनवासी ऋषियों को भौतिक सुख-सुविधा की वस्तुओं का प्रायः अभाव ही रहता था । भोजन, वस्त्र, मकान, जैसी साधारण जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी उन्हें गरीब एवं साधनहीन लोगों की तरह घटिया स्तर की ही मिलती थीं, फिर भी वे कितना उत्कृष्ट एवं कितना आरन्दमय जीवन-यापन करते थे । संसार के महान पुरुषों ने अनेक प्रकार के कष्ट सहे हैं, अभावग्रस्त जीवन व्यतीत किया है और सदुद्देश्य के लिए निरन्तर श्रम किया है । फिर

भी उनकी अन्तरात्मा सद्प्रसन्नता का ही अनुभव करती रही। इससे स्पष्ट है कि यह मान्यता सही नहीं कि समृद्धि या सत्ता के द्वारा आनन्द प्राप्त होता है।)

सच्चा आनन्द उन्हें मिलता है जिनने अपने मन को जीत लिया है, वश में कर लिया है। मन को जीतने का अर्थ है उसे कुमार्ग पर चलने से मोड़ कर सन्मार्ग में प्रवृत्त कर देना। मन के सन्मार्ग पर चलके की पहचान है, गुण, कर्म, स्वभाव में सात्विकता की वृद्धि होना, सद्-विचारों, सद्भावनाओं, सत्प्रवृत्तियों एवं सत्कर्मों का बढ़ना। यह लक्षण जब दिखाई देने लगे तब समझना चाहिए कि आत्मा वश में हुआ, मन जीता गया।)

मन खाली नहीं रह सकता, उसमें दुष्प्रवृत्ति या सत्प्रवृत्ति, दैवी या आसुरी शक्ति अपना अधिकार अवश्य जमा लेंगी, जैसे गिलास में जब पानी भरा होगा तो उसमें हवा नहीं रहेगी, जब हवा भरी होगी तब पानी नहीं रहेगा। इसी प्रकार मन का जितना भाग आसुरी शक्तियों का पलायन हो चुका होगा और जितना भाग दैवी शक्तियों के अधिकार में होगा उसमें से आसुरी शक्तियाँ हट चुकी होंगी। असंयमी मन कुमार्ग-गामी रहता है, वह अनुपयुक्त बातें सोचता और अनुचित कर्म करने की व्यवस्था बनाता रहता है, पर जब वह संयत बन जाता है तब सद्विचारों में निमग्न रहता है, सदुद्देश्य अपनाता है, सद्गुणों को बढ़ाता है और सत्कर्मों की योजना तैयार कर देता है। वश में हुआ मन जब इस प्रकार कार्य करने लगेगा तब असन्तोष, खेद और विक्षोभ के—निराशा, चिन्ता और असफलताजन्य खिन्नता के भाव मन में उठेंगे ही नहीं। अप्रसन्नता का दर्शन होगा ही नहीं।

अज्ञान जब तक प्रबल रहता है, तब तक मनुष्य मनोवांछित परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है और उनमें तनिक भी कमी रह जाती है तब वह दुःखी एवं विक्षुब्ध होने लगता है। मनो-

वांछाओं की कोई सीमा नहीं, वे अपनी परिस्थितियों की सीमा तक ही सीमित रहें ऐसा कोई बन्धन उन पर नहीं, सफलता मनुष्य की इच्छा मात्र से नहीं मिल जाती उसके लिए प्रयत्न पुरुषार्थ, परिस्थितियाँ, अवसर, प्रारब्ध सभी कुछ अनुकूल होना चाहिए। यदि यह अनुकूलता न हुई, कामना का स्तर परिस्थितियों से ऊँचा रहा तो असफलता मिलेगी ही। अनियंत्रित मन वालों की कामनाएं इतनी बढ़ी-चढ़ी होती हैं कि उनकी पूर्ति में कमी रहना स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में उसे दुःख एवं विक्षोभ भी सदा ही रहेगा।

किन्तु यह परिस्थिति उस व्यक्ति के सामने नहीं आती जिसका मन वश में है, जिसने राग-द्वेषों को—कामनाओं को जीत लिया है। असंयमी मन वाला व्यक्ति जैसे अगणित कामनाएं करता है वैसे ज्ञानवान्, विवेकशील, आत्म-विजेता नहीं करता। उसकी कामना कर्त्तव्य पालन तक सीमित हो जाती है। उसकी इच्छा केवल मात्र इतनी रहती है कि धर्म कर्त्तव्यों के पालन में उसकी समस्त शक्तियाँ सुनियोजित रहें। उसके व्यक्तिगत सद्विचार उसे परिपूर्ण आत्म-सन्तोष प्रदान करते हैं, अपने सदुद्देश्यों पर उसे गर्व रहता है, सद्गुणों, सत्कर्मों और श्रेष्ठ स्वभाव के कारण दूसरों का सहयोग एवं सद्भाव भी उसे मिलता है। फलस्वरूप अपने चारों ओर स्वर्गीय सुख, शान्ति बिखरी हुई दिखाई देने लगती है। भीतर की श्रेष्ठता ही बाहर की शान्ति में परिणित होती है, यह सुनिश्चित तथ्य है।

प्रसन्नता प्राप्त करने का, सुखी एवं सन्तुष्ट रहने का एक मात्र उपाय है—आन्तरिक उत्कृष्टता का बढ़ना। आन्तरिक उत्कृष्टता की अभिवृद्धि का चिन्ह है—गुण, कर्म और स्वभाव का श्रेष्ठ होना। ऐसा व्यक्ति भौतिक सफलताओं और असफलताओं को तनिक भी महत्त्व नहीं देता। न तो लाभ प्राप्त होने पर हर्ष उन्मत्त होता है और न हानि होने पर रोता झीखता है। वह जानता है कि दिन और रात की तरह, धूप

और छाँह की तरह इस संसार में लाभ-हानि का, सुख दुख का भी जोड़ा है। समयानुसार यह आते-जाते रहते हैं। समुद्र तट पर खड़े होकर ज्वार-भाटा का आनन्द देखने वाले दर्शक की तरह इसका आनन्द लेना चाहिए। खिलाड़ी की भावना से यह जीवन का खेल करना चाहिए। जिस प्रकार नाटक के पात्र कभी राजा, कभी रंक बन जाने से खिन्न नहीं होते और उस परिवर्तन को कला का प्रदर्शन मात्र मानते हैं, उसी प्रकार हमें भौतिक परिस्थितियों के उनार-चढ़ाव को भी शान्त-चित्त से देखना चाहिए। न सफलता मिलने पर हर्षोन्मत्त होना चाहिए और न असफलता में उद्विग्न। जिसने अपनी मान्यता इस प्रकार की बनाली, उसी को राग द्वेष से विमुक्त कहा जायगा। लाभ से राग और हानि से द्वेष जिसे नहीं, जो कर्त्तव्य पालन को ही सर्वोपरि समझता है जिसे अपनी सत्प्रवृत्तियों पर सन्तोष है, वह किसी भी दशा में दुःखी नहीं हो सकता, उसकी प्रसन्नता उससे दूर नहीं जा सकती, उसके चेहरे पर हर घड़ी मुस्कान बनी ही रहेगी।

जिसकी अन्तरात्मा सन्मार्ग-गामी बनेगी, उसे न अप्रसन्नता का अनुभव होगा और न दुःख का। कामनाशील—कामी लोग ही दुःखी होते हैं। लालची को ही क्रोध आता है। अज्ञान-गृस्त ही मोह करते हैं और संसार में जितने भी दुःखी व्यक्ति हैं, वे काम, क्रोध, लोभ इन्हीं से दुःखी हैं। इन्हें त्यागने वाला व्यक्ति पुरुषार्थी, सुव्यवस्थित और विवेक-शील बनेगा और वह अपनी हर समस्याओं को आप हल कर लेगा। गरीबी, अमीरी, उद्विग्नता एवं विपन्नता उसके पास भी न फटकेगी। दुर्दुर्ण ही सारी विपत्तियों के कारण हैं। सद्गुणी, सद्भावी तो पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात् देवता है, वह जहाँ भी रहेगा, स्वर्ग का सृजन करेगा। उसके सम्पर्क में आने वाले दूसरे लोग शोक-सन्तापों से तरेंगे, उसके स्वयं खिन्न रहने का तो कोई कारण ही नहीं। जो खिन्न रहता है, जिस पर उदासी और निराशा छाई रहती है उसे असंयत चित्त ही कहना चाहिए।



कई व्यक्ति ऐसी कल्पना करते हैं कि जिसका मन वश में हो जायगा, वह एक ही विचार में डूबा रहेगा और कोई कल्पनाएं उसके मस्तिष्क में न आवेंगी। जब ध्यान पर बैठा जायगा तो ध्यान ही होता रहेगा और जब पुस्तक पढ़ेगा तो मन पुस्तक पर ही लगा रहेगा। इस स्थिति को लोगों ने भ्रमवश मन का वश में होना मान लिया है। वस्तुतः यह मानसिक शक्तियों के अभ्यास की एक कला मात्र है, इसे एकाग्रता कहते हैं। सरकस में अनौखे काम करने वाले अभिनेता और बाजीगर इस एकाग्रता की कला के ही अभ्यस्त होते हैं। वैज्ञानिक, कवि, चित्रकार आदि कलाकारों की गतिविधियाँ भी एकाग्रता पर निर्भर रहती हैं। बन्दूक का निशाना इसी आधार पर लगता है। यह मानसिक शक्तियों को व्यवस्थित करने की कला है जो सरकस करने वालों से लेकर बुद्धिजीवी लोगों तक में उनकी अभिरुचि एवं प्रयत्नशीलता के आधार पर विकसित होती है। ध्यान लगाने की कला भी इसी प्रकार के अभ्यास से सीखी जा सकती है।

गीताकार ने मन को वश में करने की बात को जिस अर्थ में लिया है, वह यह है कि मन की कुमांगंगामिता को रोक कर उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त किया जाय। तृष्णा और वासना से विरत कर उसे कर्तव्य पालन में, जीवन-शोधन से संलग्न किया जाय। मनोभूमि को पवित्र बनाया जाय, आदर्शों में श्रद्धा उत्पन्न की जाय, कर्तव्य-निष्ठा में तत्परता हो और सद्गुणों को निरन्तर बढ़ाते चला जाय। उत्कृष्ट व्यक्तित्व ही इस बात का प्रमाण हो सकता है कि इस व्यक्ति का मन वश में हुआ। जो निकृष्ट स्तर पर सोचता है, निकृष्ट कर्म करता है और अपने चारों ओर निकृष्ट वातावरण बनाये बैठा है, उसने 'एकाग्रता' का अभ्यास कर लिया हो, देर तक किसी स्वरूप या विचार पर ध्यान लगाये रह सकता हो, तो उससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है।

संलग्न हो, यही आत्मिक विजय है। जिसने आत्मा को जीत लिया उसने सारा संसार जीता यही मानना चाहिए। ऐसा आत्म विजयी सुखी एवं सन्तुष्ट रहेगा ही और उसके चेहरे पर मुस्कान भरी प्रसन्नता नाचती ही रहेगी। आत्मावान् व्यक्ति की यह पहचान है कि वह अपनी आन्तरिक श्रेष्ठता के कारण सदा उल्लास एवं आनन्द में निमग्न बना रहता है, उसका उद्देश्य ही उसे सन्तुष्ट रखने के लिए समुचित आधार बना रहता है।

सद्भावी, सत्पथगामी श्रेष्ठ व्यक्तियों ने अपनी आन्तरिक उत्कृष्टता के कारण कितना अपना आत्म-कल्याण किया और कितना दूसरों का उपकार किया ? इसके कुछ उपाख्यान नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—परिवार का सङ्गठन और सुख शान्ति करे सत्परिणाम सद्गुणों द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं, इसका आभास इन दृष्टान्तों में मिलेगा।

—*—

पारस्परिक प्रेम-भाव

(राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का भ्रातृ प्रेम प्रसिद्ध है। पाण्डवों ने मिल-जुलकर किस प्रकार आदर्श जीवन व्यतीत किया यह प्रसिद्ध है। और तो और दुर्योधन और रावण जैसे अनीति-वानों तक के भाइयों ने भी अपने भाइयों का साथ दिया। भाई-भाई का प्रेम जहाँ कहीं होगा वहाँ सब प्रकार सुख सम्पत्ति रहेगी और जिस घर में क्लेश, कलह, द्वेष, दुर्भाव रहेंगे वह नष्ट होकर रहेगा।)

युधिष्ठिर की उदारता

पाण्डव वन में भ्रमण कर रहे थे कि उन्हें प्यास लगी। नकुल कुछ दूर पर बने तालाब से पानी लेने गये। तालाब पर यक्ष का आधि-

पत्य था । वह केवल उसी को जल लेने देता था जो उसके प्रश्नों का उत्तर दे सकता था । यक्ष ने नकुल से कुछ प्रश्न पूछे वे उसका उत्तर न दे सके तो शाप से मूर्छित होकर गिर पड़े ।

नकुल को न आया देखकर एक-एक करके सब पाण्डव वहाँ गये और वे भी उसी प्रकार मूर्छित हो गये । अन्त में युधिष्ठिर गये और उनसे यक्ष के उत्तर दिये । इस पर यक्ष ने एक भाई को जीवित करा लेने को कहा । युधिष्ठिर ने नकुल को जीवित करने की प्रार्थना की । क्योंकि भीम अर्जुन तो उनकी सगी माँ के पुत्र थे । माद्री पुत्रों में से एक का रहना आवश्यक था । ताकि माद्री को भी कुन्ती की तरह ही पुत्रवती रहने का सुख मिले ।

यक्ष युधिष्ठिर की उच्च भावना देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उसने चारों को जीवित कर दिया ।

इसी प्रकार एक कथा महाभारत में यह भी आती है कि वनवास काल में यक्षों से दुर्योधन का दल परास्त हो गया तो उनकी सहायता के लिए पाण्डव पहुँचे और उन्हें बचाया । उस अवसर पर युधिष्ठिर ने कहा कि हम घर में पाँच और १०० भले ही हों पर बाहर वालों के लिए १०५ ही हैं । अर्थात् बाहर वालों का मुकाबिला मिल-जुलकर ही करेंगे ।

ऐसी ही उदारता की भावनाओं पर पारिवारिक सङ्गठन सुदृढ़ रह पाते हैं ।

भाई का प्रेम

नवद्वीप के विद्वान् रामशिरोमणि तथा रघुमणि साथ-साथ रहते थे उनके पास विपुल सम्पत्ति भी थी, पर कभी आपस में झगड़ा नहीं हुआ । बड़े भाई के तीन पुत्र और छोटे के एक पुत्र था । एक दिन राम शिरोमणि बोले “भाई रघु ! तुम्हारी हमारी निम्न गई आगे जाने बच्चों में कैसे निभेगी इसलिये हमें अपनी सम्पत्ति का बटवारा कर लेना



चाहिये ।” रघुमणि बोले आपका हमारा बटवारा कैसा ? दूसरे लोग इस बारे में क्या कहेंगे । पर रामशिरोमणि बोले, भय्या ! यह तुम्हारा हमारा बटवारा नहीं अपितु लड़कों का है इसे कर देना चाहिये । राम-शिरोमणि ने यह कह कर सारी सम्पत्ति दो भागों में बाँटना शुरू किया । लेकिन बीच में ही टोकते हुए रघु ने कहा “बटवारा लड़कों के लिये हुआ है इसलिए उसे चार भागों में करना चाहिए ।” रघुमणि के इस आदर्श से गाँव वाले बड़े प्रभावित हुए । और उनकी गाथा अभी तक प्रान्त में घर-घर कही जाती है ।

लक्ष्मी कहाँ रहती है ?

एक सेठ बहुत धनी था । उसके कई लड़के भी थे । परिवार बढ़ा पर साथ ही सबमें मनोमालिन्य, द्वेष एवं कलह रहने लगा ।

एक रात को लक्ष्मी ने सपना दिया कि मैं अब तुम्हारे घर से जा रही हूँ । पर चाहो तो चलते समय का एक वरदान माँग लो ।

सेठ ने कहा—भगवती आप प्रसन्न हैं तो मेरे घर का कलह दूर कर दें, फिर आप मले ही चली जायें ।

लक्ष्मी ने कहा—मेरे जाने का कारण ही गृह कलह था । जिन घरों में परस्पर द्वेष रहता है मैं वहाँ नहीं रहती । अब जब कि तुमने कलह दूर करने का वरदान माँग लिया और सब लोग शान्तिपूर्वक रहोगे तब तो मुझे भी यहीं ठहरना पड़ेगा । सुमति वाले घरों को छोड़कर मैं कभी बाहर नहीं जाती ।

मिल-जुल कर रहना

एक किसान के चार लड़के थे । एक दिन बूढ़े बाप ने उन चारों को बुलाया और एक-एक कच्चे सूत का धागा देकर उसे तोड़ने के लिए कहा—लड़कों ने उसे आसानी से तोड़ दिया । इसके बाद बाप ने उस सूत को बटकर रस्सी बनादी और उसे तोड़ने के लिये कहा । लड़कों ने बारी-बारी से जोर लगाया परन्तु उसको वह न तोड़ सके ।

तब बाप ने समझाया यदि मिल-जुलकर इस बटी हुई रस्सी की तरह रहोगे तो तुम लोग मजबूत बने रहोगे पर यदि लड़-झगड़ कर अलग-अलग पड़ गये तो अकेले कच्चे धागे की तरह कमजोर होकर किसी भी आक्रमण के शिकार हो जाओगे ।

बेटों की समझ में बाप की बात आ गई और वे मिल-जुलकर रहने लगे ।

— × × —

स्वामी और सेवक

आदर्श स्वामि भक्त

चित्तौड़ की गद्दी पर छै वर्ष का बालक उदयसिंह बैठा था । उसकी माता भी मर चुकी थी । पन्ना नामक एक धाय उसका पालन करती थी । राज्य का सञ्चालन दासी पुत्र वनवीर कर रहा था ।

वनवीर के मन में लोभ आया कि उदयसिंह तथा उसके भाई विक्रम को मार कर मैं ही सदा के लिए राजा बन बैठूँ । उसने विक्रम को मार दिया । उदयसिंह को मारने नंगी तलवार लिए जा रहा था तो पन्ना धाय को मालूम हो गया । उसने इस आड़े वक्त में अपनी वफादारी की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का निश्चय किया । उसने अपने बच्चे को उदयसिंह के स्थान पर और उदयसिंह को अपने बच्चे के स्थान पर सुना दिया । वनवीर आया और उसने एक ही हाथ में बालक का सिर काट दिया । पन्ना अपनी आँखों के आगे अपने बालक का वध होते देखती रही । भेद न खुलने देने के लिए उसने छाती कड़ी करके आँखों में आँसू न आने दिये । वनवीर चला गया तब वह उदयसिंह को लेकर देवरा ठिकाने में चली गई और वहीं रहकर उसने उदयसिंह को पाला । बड़ा होने पर वही चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा । उदयसिंह पन्ना धाय को सदा अपनी माता के समान मानता रहा ।

स्वामी के साथ आपत्ति के समय सेवक कितना बड़ा आत्मत्याग कर सकता है इसका आदर्श उपस्थित करने वाली पन्ना धाय भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेगी ।

कर्त्तव्य पालन का अपूर्व उदाहरण

भारत के अन्तिम हिन्दू-सम्राट पृथ्वीराज युद्ध क्षेत्र में घायल होकर पड़े थे । उनको इतने अधिक घाव लगे थे कि वे न तो उस सकते थे और न खिसक सकते थे । उस समय वे मूर्च्छितावस्था में पड़े थे । उसी दशा में कुछ गिद्ध उनको मुर्दा समझ कर खाने के लिए आगे बढ़े । महाराज के एक प्रधान संयमराय भी पास ही घायल अवस्था में पड़े थे । वे भी घावों के कारण उठ नहीं सकते थे, पर वे होश-हवाश में थे । जब उन्होंने गिद्धों को पृथ्वीराज की तरफ आते देखा तो उनका स्वामिनिष्ठा का भाव उमड़ पड़ा और कोई उपाय न देखकर उन्होंने अपने बगल में पड़ी तलवार उठाली और अपना माँस काटकर गिद्धों की तरफ फेंकने लगे । गिद्ध पृथ्वीराज को छोड़कर उन्हीं टुकड़ों को खाने में लग गये । इतने में पृथ्वीराज के बचे खुचे सैनिक उनकी ढूँढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचे । उस समय तक संयमराय मरणासन्न हो गये थे और शुरू ही क्षणों में उनके प्राण पखेरू उड़ गये । पर कर्त्तव्य-पालन के लिए उन्होंने जो अपूर्व आत्म बलिदान किया उससे उनका नाम आज तक अमर है ।

माता पिता की सेवा

श्रवणकुमार की पितृ-भक्ति—श्रवणकुमार के माता-पिता ने इच्छा की कि वे सब तीर्थों की यात्रा करें । पर वे अन्धे होने के कारण कर नहीं सकते थे, उनकी इच्छापूर्ण करने के लिये श्रवणकुमार ने काँवर बनाई और उसके दोनों पलड़ों में माता-पिता की बिठा कर सारे तीर्थ कराये । श्रवणकुमार माता-पिता की इस प्रकार सेवा करके संसार में अमर हो गये ।

पिता के लिए पुत्र का त्याग

एक बार महाराज शान्तनु यमुना तट पर भ्रमण कर रहे थे ।

एक स्थान पर उन्होंने एक अलौकिक सुन्दरी निषाद कन्याको देखा और उस पर आसक्त हो गये। काम विकार तनिक-सी ढिलाई बरतने पर पूरी तरह मनुष्य के मन, बुद्धि पर छा जाता है। विवाह प्रस्ताव रखा गया लेकिन मल्लाह ने उसे इस पर स्वीकार किया कि इस कन्या से उत्पन्न होने वाला बालक ही राजगद्दी का उत्तराधिकारी होगा। एक कठिन समस्या पैदा हो गई। क्योंकि परम्परा और नियम के अनुसार भीष्म ही राजगद्दी के उत्तराधिकारी थे। लेकिन जब उक्त बात का पता भीष्म को चला तो राजगद्दी के त्याग की ही नहीं अपितु आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की, ताकि उनकी सन्तान भी गद्दी पर अपना अधिकार न कर सके। महाराज शान्तनु का विवाह सम्पन्न हुआ। भीष्म ने आदर्श पितृ-भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया।

पुरु का पिता को यौवनदान

शुक्राचार्य के शाप से महाराज ययाति यौवनावस्था में ही वृद्धे हो गये। बहुत अनुनय-विनय करने पर एक सुविधा मिल गई कि यदि उन्हें कोई अपना यौवन प्रदान कर दे तो वे पुनः तरुण बन सकते हैं। अपने यौवन का दान कर बुढ़ापा लेने के लिए कौन तैयार हो? महाराज ययाति के चार पुत्रों ने तो अस्वीकार कर दिया। सबसे छोटे पुत्र ने सोचा कि पिता के हित के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करके पितृऋण से मुक्त होने के बराबर और क्या पुण्य हो सकता है? पुरु ने अपना यौवन ययाति को दे दिया और स्वयं ने वृद्धता स्वीकार करली।

माता-पिता की सेवा से सिद्धि

महर्षि पिप्पल आध्यात्मिक साधना में लीन थे। उधर से एक सारस का युगल गुजरा। पक्षि-युगल आपस में बातें करता जा रहा था “महर्षि पिप्पल से भी सुकर्मा अधिक श्रेष्ठ है।” पिप्पल पक्षियों की भाषा जानते थे। वे सुकर्मा के बारे में जानने के लिए चल दिये। काफी दूँढ़-खोज के पश्चात् वे सुकर्मा के द्वार पर पहुँचे और उससे उसके जीवन



की साधना का रहस्य पूछा। सुकर्मा ने कुछ समय पिप्पल को बैठने के लिए कहा वह स्वयं नित्य नियम के अनुसार माता-पिता की सेवा में लग गया। महर्षि पिप्पल समझ गये “मैंने माता-पिता की जिम्मेदारियाँ छोड़ कर केवल साधना ही की है लेकिन सुकर्मा अपनी जिम्मेदारियों को ही साधना समझ कर पूर्ण करने में लगा हुआ है।” और महर्षि पिप्पल सुकर्मा को प्रणाम करके चले आये। मनुष्य अपने दैनिक जीवन की जिम्मेदारियों को भली प्रकार साधना समझ कर उन्हें पूर्ण करने में लगा रहे तो बहुत बड़ी आध्यात्मिक सफलतायें स्वतः मिल जाती हैं।

पिता के ऋण का भुगतान

भारत के प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता स्वर्गीय चित्तरंजनदास के पिता दस लाख रुपये का कर्ज छोड़ कर मरे थे। नवयुवक दास ने निश्चय किया कि सबका कर्ज चुकायेंगे। कर्ज रिश्तेदारों का था इसलिए सभी लड़के की परेशानी देखकर कर्ज वापिस लेना नहीं चाहते थे। पर दास बाबू भी किसी का ऋण रखना अपने कुल की बेइज्जती समझते थे। वे जो कमाते गये उसे अदालत में जमा करते गये। बाद में उन्होंने विज्ञापन निकलवाया कि जिसका कर्ज हो वह ले जाय लेकिन जब कोई नहीं आया तो उन्होंने कर्जदारों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर उसका हिसाब चुकता किया।

किसी व्यक्ति की बेइज्जती यह है कि वह अनिवार्य आपत्ति के अवसर को छोड़ कर अपना खर्च बढ़ाकर उसके लिए कर्ज ले और उससे भी बड़ी बेइज्जती यह है कि होते हुए भी ऋण चुकाने में आना-कानी करे। चित्तरंजन दास ने अपने लिए निर्धनता निमन्त्रित करके भी ऋण-मुक्त होना अपना कर्त्तव्य समझा। यही आदर्श हर व्यक्ति का होना चाहिए।



भारतीय नारी और पतिव्रत

पत्नी व्रत धर्म

(पतिव्रत धर्म भारतीय नारी के महान गौरव का प्रतीक रहा है। उन्होंने इस आदर्श को निवाहने में पुरुषों को पीछे छोड़ दिया है। अन्धे धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी अपने पति की तरह ही अन्धा रहना चाहती थी इसलिये उन्होंने आजीवन आंखों से पट्टी बांधे रहकर अपने पति की तरह अन्धा रहना पसन्द किया। भारत के हर धर में होने वाली सती सावित्री नारियों में से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है।)

सावित्री और सत्यवान के चरित्र की दृढ़ता

सावित्री ने सत्यवान को ही अपना वर चुना। अश्वपति को जब इस निर्णय की सूचना मिली तो उन्होंने इस विवाह के सम्बन्ध में विद्वानों से परामर्श किया। महर्षि नारद ने बताया “राजन् ! सत्यवान तो अल्पायु है, यह अब सिर्फ एक वर्ष और जीवित रहेगा।” राजा ने सावित्री को अन्य वर ढूँढ़ने के लिए कहा लेकिन वह बोली “पिताजी चरित्रहीन और अविवेकी पुरुषों की अपेक्षा सज्जन और सच्चरित व्यक्तिके साथ थोड़े समय जी लेना भी अधिक श्रेयस्कर होता है।” और सावित्री ने अपना निर्णय नहीं बदला “जिसे मैंने एक बार पति चुन लिया है अब दूसरे के सम्बन्ध में मैं सोच भी नहीं सकती।” पुत्री की दृढ़ता के आगे महाराज अश्वपति झुक गये और विवाह हो गया। पितृगृह से जाने के बाद सावित्री पूर्ण मनोयोग के साथ पति की सेवा में लगी रही और अन्त में अपने पति-व्रत, धर्म-निष्ठा, सत्य के बल पर विधाता के नियम मिटाकर सत्यवान को मौत से बचा लिया।

सुकन्या का त्याग और सेवामय जीवन

खेलवश समाधि में लीन महर्षि च्यवन की आँखें फोड़ देने पर

सुकन्या को बड़ा पश्चाताप हुआ। उसने राजसी जीवन का परित्याग किया और अपने अपराध के प्रायश्चित्त के लिए तथा अन्धे ऋषि की सेवा के लिए सुकन्या ने स्वयं को ही ऋषि की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। अब वह एक राजकुमारी नहीं थी वरन् एक वनबासी ऋषि की सेविका और धर्म-पत्नी थी। लेकिन सुकन्या ने अपने कर्त्तव्य को इस निष्ठा और लगन से निभाया कि च्यवन ऋषि वृद्ध से जवान हो गये। सुकन्या की सेवा भावना, पतिव्रत, धर्म और त्याग के कारण अश्विनीकुमार बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बूढ़े ऋषि को जवान बना दिया। अब सुकन्या और च्यवन सुखी गृहस्थ जीवन बिताने लगे। यह उनके सेवा भावना, कर्त्तव्य परायणता, सदाचार, और धार्मिक जीवन की देन थी।

पति सेवा की शक्ति

सत्यभामा ने एक दिन द्रौपदी से पूछ ही लिया “पाँचाली ! तुम अपने पाँचों पतियों को किस तरह वश में रखती हो, जब कि मैं अपने एक पति कृष्णचन्द्र को भी संतुष्ट नहीं कर पाती।” द्रौपदी बोली “बहन मैं सदैव अहंभाव, आलस्य, छिद्रान्वेषण, असन्तोष, कटु वचन आदि दुर्गुणों से दूर रह कर उनकी प्रीतिपूर्वक सेवा करती हूँ इसीलिए वे सब मेरी बातों को मानते हैं।” सत्यभामा द्रौपदी के वचन सुनकर स्वयं ही अपने स्वभाव के सुधार में लग गई, फलस्वरूप उसके पति कृष्णचन्द्र बहुत सन्तुष्ट रहने लगे।

पत्नी द्वारा पति का जीवन परिवर्तन

आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता स्व० स्वामी श्रद्धानन्द अपनी युवा-वस्था में कुमार्गगामी भी रहे थे। तब वे एक कोतवाल के कुसङ्गसित पुत्र थे। उन्हें मद्य, माँस, जुआ का चस्का लग गया था। होनहार जीवन भी कुसंग में पड़कर बुराइयों में प्रवृत्त हो जाते हैं। एक दिन मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द का पूर्व नाम) शराब के नशे में वेश्या के यहाँ भी गये। बहुत रात बीतने पर घर आये तो उल्टी होने लगी।

उनकी पत्नी आदर्श नारी थी । उसने उन्हें कुत्ला कराया उल्टी से सने हुए कपड़े बदल कर पलंग पर लिटा कर सिर दबाने लगी । नींद आई और वे सो गये । जब नींद खुली तो पानी मांगा । देवी उठी और उसने मिश्री मिला कर दूध पति को पिलाया । अब कुछ होश आया तो वह पूछने लगे “अभी तुम जग ही रही हो भोजन किया है या नहीं ?” पत्नी बोली मैं आपको भोजन कराये बिना खाना स्वयं कैसे खा लेती ? अपनी पत्नी की इतनी उदारता और श्रद्धा को देखकर पति का हृदय भर आया । वे अपने कृत्यों पर क्षमा मांगने लगे तो पत्नी ने कहा “आप मेरे स्वामी हैं ऐसा कहकर मुझ पर पाप न चढ़ावें । मैंने तो आपको ही परमेश्वर मानकर आपकी सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझा है ।” उसी रात से उनका जीवन बदल गया । स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी जीवनी में इसको अपने जीवन की दिशा बदलने वाली घटना बताया है ।

सेवा का वशीकरण मन्त्र

एकवार सन्त दादू के पास एक स्त्री आई और अपने कलुषित दाम्पत्य जीवन के बारे में बताकर पति को वश में करने के लिए एक कवच मांगने लगी । दादूजी ने उसे समझाया कि प्रतिपूर्वक सेवा करने से पति अपने आप ही बस में हो जायेंगे । पर स्त्री को सन्तोष न हुआ । अज्ञानवश वह कोई ऐसा जादू मन्त्र से युक्त यन्त्र चाहती थी जो तत्काल पति को उसके वश में करा दे ।” लेकिन सन्त तो इस तरह के चमत्कारों से दूर रहते हैं । तो भी उस स्त्री को सन्तोष देने के लिए उन्होंने एक कवच-सा बनाकर दे दिया, साथ ही प्रेम पूर्वक पति की सेवा करने के लिए कहा ।

कुछ दिनों बाद वह स्त्री फिर आई और सन्त के चरणों में शीश भुका कर कवच की प्रशंसा करने लगी । अब उसका दाम्पत्य जीवन बड़ा सुखी था । सन्त दादू के कहने पर उस स्त्री ने कवच खोलकर उपस्थित लोगों को दिखाया तो उसमें लिखा था ।

दोष देख मत क्रोध कर, मन की शंका खोय ।
प्रेम भरी सेवा लगन, से पति वश में होय ॥

सन्त दादू द्वारा दिया गया कवच नहीं था, वरन् उनकी शिक्षा
रुष्ट पति-पत्नियों को भी एक करके उनका दाम्पत्य जीवन सुखी बना
सकती है । प्रत्येक स्त्री यदि इसे जीवन का अङ्ग बना ले तो पति-पत्नी
के बीच की कटुता तथा असन्तोष शीघ्र ही नष्ट हो जाय ।

— × × —

पत्नीव्रत आवश्यक

(पतिव्रत की तरह पत्नीव्रत भी आवश्यक है । स्त्री के
लिए जो महत्व पतिव्रत रखने का है वह पुरुष के लिए पत्नीव्रत
का है । दोनों का ही धर्म समान है । भगवान राम पत्नीव्रती थे ।
सीता के रहते—यज्ञ कार्य के लिए भी उन्होंने दूसरा विवाह
करने का प्रस्ताव स्वीकार न किया और सोने की सीता की
स्वर्ण प्रतिमा पास में विठाकर काम चला लिया । दशरथजी ने
एक पत्नी के रहते अन्य विवाह करके अपनी जो दुर्गति कराई
सो प्रसिद्ध ही है ।

जिस प्रकार पति को प्रसन्न रखना पत्नी का कर्त्तव्य है ।
उसी प्रकार पत्नी को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करना पति का
भी कर्त्तव्य है । दोनों के अधिकार एवं कर्त्तव्य समान हैं ।)

तुकारामजी की सहनशीलता

सन्त तुकाराम की पत्नी बड़े कर्कश स्वभाव की थी । एक दिन
तुकाराम कही से गन्ने का गट्ठा लाये । रास्ते में बच्चों ने गन्ने मांगे तो
वे एक-एक करके उन्हें बाँटते चले आये । घर आते-आते केवल एक गन्ना



शेष रह गया। पत्नी को दिया तो वह आग-बबूला हो गई। उसने उस गन्ने को तुकारामजी की पीठ पर दे मारा, जिससे वह टूट कर दो टुकड़े हो गया।

तुकाराम मुस्कराये और एक हिस्सा पत्नी को देते हुए कहा— एक ही बचा था, उसमें से दो टुकड़े करने थे। तुमने ठीक ही बाँट कर दिया। लो एक तुम खाओ और एक मैं खाता हूँ।

पत्नी यदि गरम स्वभाव की हो तो पति का कर्त्तव्य है कि अपनी मधुरता एवं सहनशीलता से उसे निवाह ले।

सहिष्णु सुकरात

दार्शनिक सुकरात की पत्नी भी बड़ी कर्कश स्वभाव की थी। जब विद्वान् लोग सुकरात से मिलने आते तो वह उन्हें निठूला मान कर कोसा करती थी और कई बार तो अभद्र व्यवहार भी किया करती थी।

एक बार विचारगोष्ठी में अनेक दार्शनिक आये हुए थे। देखकर पत्नी क्रुद्ध होने लगी। उसने आगन्तुकों को गालियाँ भी दीं और छत पर चढ़ कर कीचड़ का पानी उन पर बखेर दिया।

सुकरात ने इतना भर कहा है कि “सुना गया है कि जो बादल गरजते हैं वे बरसते नहीं पर आज तो गरजने और बरसने की दोनों क्रियाएँ साथ-साथ हो रही हैं।”

रूस से प्रसिद्ध मनीषी टालस्टाय की पत्नी भी स्वार्थी और असहिष्णु थी। पर उनने जीवन भर उन्हें निवाहा और कभी बदले का दुर्व्यवहार नहीं किया।

सज्जन व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ मधुर व्यवहार करके उनका मन जीतते हैं और अपने गृहस्थ की शान्ति को नष्ट नहीं होने देते। दोनों में से एक भी उदार हो तो दूसरे को निवाह लेता है। झगड़ा तो दोनों के ही असहिष्णु होने पर बढ़ता है। ताली एक हाथ से नहीं दोनों हाथों के टकराने पर ही बजती है।

अर्जुन और उर्वशी

असुरों के युद्ध में देवताओं की सहायता करने के लिए अर्जुन स्वर्गलोक गये और वहाँ उन्होंने देवताओं को विजयी बनाया।

अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर सुरपुर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी उन पर मुग्ध हुई और नाटकीय ढंग से स्वयं को दीन-दुःखी बता कर अर्जुन से सहायता का वचन लिया। कष्ट पूछने पर उसने बताया कि मैं आपके द्वारा आपके जैसा ही पुत्र चाहती हूँ।

अर्जुन उर्वशी का प्रयोजन समझ गये। उसने गम्भीर होकर कहा—“पुत्र के लिए प्रतीक्षा की क्या आवश्यकता है। मैं स्वयं आपके पुत्र रूप में आज से ही मौजूद हूँ। मुझे ही आप पुत्र रूप में मानें।” अर्जुन का सदाचरण और दृढ़ता देखकर उर्वशी अवाक् रह गई।

पर-तिय मात समान

छत्रपति शिवाजी और मुगलों में लड़ाई हो रही थी। इसी बीच शिवाजी के सिपाही एक मुगलवंशीय राज-कन्या को पकड़ कर ले आये और उसे पत्नी के रूप में रख लेने के लिए पेश किया।

शिवाजी ने उस युवती के रूप सौंदर्य को देखकर केवल इतना ही कहा कि यदि मेरी माता ऐसी ही सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर जन्मा होता। यह कहकर उस युवती को सम्मान सहित उसके अभिभावकों के पास सुरक्षित पहुँचा दिया।

सच्चे मनुष्य कभी पर-स्त्री पर कुदृष्टि नहीं डालते। वे नारी मात्र को बहिन, बेटी और माता की दृष्टि से देखते हैं।

माभज माता तुल्य

सुग्रीव ने सीता के फेंके हुए आभूषण लाकर राम को दिये, जिन्हें रावण द्वारा अपहृत किये जाने पर सीता ने नीचे गिरा दिया था। रामचन्द्रजी ने वे आभूषण अपने छोटे भाई को दिखाते हुए कहा—“लक्ष्मण क्या ये आभूषण सीता के हैं?” लक्ष्मणजी ने चरणों में पहने

जाने आले आभूषणों को पहचानते हुए कहा—“भगवन् ! मैंने सीता माता के चरणों को ही भली प्रकार देखा है । अन्य आभूषणों को मैं पहचानने में असमर्थ हूँ ।” वनवास काल में अत्यधिक समीप में रह कर भी लक्ष्मण ने कभी सीता को चरणों से ऊपर नहीं देखा, यही उनके चरित्र की निर्मलता और आत्म-संयम की दृढ़ता का परिणाम है । संयम की इसी क्षमता के बल पर उन्होंने मेघनाथ जैसे योद्धा को परास्त किया ।

कच द्वारा चरित्र की रक्षा

कच उन दिनों शुक्राचार्यजी के पास संजीवनी विद्या सीख रहे थे । देवयानी शुक्राचार्यजी की पुत्री भी उसी के साथ-साथ पढ़ती थी । सहपाठी होने से कच और देवयानी में परस्पर स्नेह हो गया । कच उसे एक बहिन की भावना से ही स्नेह करते थे । देवयानी भी कच को प्रेम करती थी, पर उसके मन में विकार उत्पन्न होने लगे थे । कच की शिक्षा पूर्ण हुई और उसने घर जाने का विचार किया । देवयानी ने कच को विवाह प्रस्ताव रखा । कच गुरु कन्या को अपनी सगी बहिन से बढ़ कर मानते थे, इसलिये विवाह प्रस्ताव स्वीकार करने से उनने इन्कार कर दिया । इस पर देवयानी ने शाप देकर कच को अपने पिता द्वारा दी गई विद्या के अधिकारों से वंचित कर दिया । कच के हृदय में इसका तनिक भी दुःख नहीं हुआ लेकिन अपने चरित्र की रक्षा से प्रसन्नता थी । विचारशील मनुष्य अपनी बड़ी से बड़ी हानि उठा कर भी चरित्र को नष्ट नहीं करते । क्योंकि सच्चरित्र के समान कोई भी मूल्यवान पदार्थ इस दुनियाँ में नहीं है । अन्त में शुक्राचार्य ने कच के चरित्र पर प्रसन्न हो कर उसकी पढ़ी हुई विद्या पुनः सफल बना दी ।

मर्यादा और नियमों का पालन

पाण्डवों ने नियम बना लिया था कि द्रौपदी एक निश्चित समय तक एक भाई के पास रहेगी । उस समय यदि कोई भाई भूल से भी

उनके एकान्तिक जीवन में पहुँच जायगा तो उसे प्रायश्चित्त स्वरूप एक वर्ष का अज्ञातवास कर एकाकी जीवन बिताना पड़ेगा। एक दिन एक सिंह एक गाय का पीछा कर रहा था उसकी रक्षा के लिये अस्त्रों की आवश्यकता पड़ी लेकिन वे वहाँ रखे थे जहाँ युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ शयन कर रहे थे। एक तरफ धर्म का पालन दूसरी ओर नियम। अर्जुन ने गौ-रक्षा के लिये अस्त्र लाना तय किया और उस दुर्दान्त सिंह को मार कर गाय की रक्षा की। तब नियमानुसार एक वर्ष के अज्ञातवास में जाने का निश्चय किया। धर्मराज तथा अन्य पाण्डवों ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन वे न माने और नियम मर्यादाओं का पालन करने के लिए अज्ञातवास को चले गये। मर्यादाओं और नियमों के पालन से ही कोई व्यवस्था ठीक तरह चल सकती है।

www.vicharkrantibooks.org

— × × —

गुरुजनों का सम्मान

युधिष्ठिर की नैतिकता

महाभारत का युद्ध शुरू होने को था। कौरव पाण्डवों की सेनायें परस्पर आमने-सामने खड़ी थीं। एकाएक युधिष्ठिर अपना धनुष-बाण रखकर पैदल ही कौरव दल की ओर चल दिये। अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव इससे चिन्तित हुए और उनके पीछे चल दिए लेकिन वे न रुके। आखिर सबने देखा कि युधिष्ठिर ने गुरु द्रोण, गितामह भीष्म के सन्मुख जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। जब उनसे आशीर्वाद मिल गया तो युधिष्ठिर वापिस अपने रथ पर लौट आये। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया “तात ! कोई भी काम प्रारम्भ करने से पूर्व गुरुजनों का आशीर्वाद ले लेने से ही उसमें सफलता मिलती है। धर्मराज युधिष्ठिर ने इसी परिपाटी का अनुसरण किया है।”

गुरुभक्त एकलव्य

एकलव्य जाति का भील था। उसने गुरु द्रोणाचार्य से विद्या सीखनी चाही, पर जातिगत भेद-भाव के कारण द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य नहीं बनाया। इस पर युवक ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उसी को गुरु मान कर स्वयं ही अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। कुछ दिन में वह बाण विद्या में इतना पारङ्गत हो गया कि उसने उधर से निकलने वाले पाण्डवों के कुत्ते का मुँह बाणों से बीध कर उसका भोंकना बन्द कर दिया।

इस अद्भुत कला को देखकर पाण्डवों ने अपना प्रतिद्वन्दी न रखने की इच्छा से द्रोणाचार्य को वहाँ भेजा और गुरु दक्षिणा के नाम पर उसका अंगूठा कटवा लिया। फिर भी गुरु भक्त एकलव्य प्रसन्न था कि उसने अपना आवश्यक धर्म कर्त्तव्य पालन किया।

शिष्य का कर्त्तव्य पालन

ऋषि धौम्य के शिष्य आरुणि को जब इस बात का पता चला कि अधिक बरसात के कारण गुरुदेव के खेत की मेंड़ टूट गई है और उससे पानी निकल रहा है तो चुपचाप फावड़ा लेकर उधर को चल पड़ा। फावड़े से मेंड़ पर मिट्टी रखने का बहुत प्रयास किया किंतु पानी की तेजी के कारण मिट्टी रुकती न थी। कोई उपाय न देखकर आरुणि उसी मेंड़ पर लेट गया, ठण्डी हवा और पानी में पड़े होने के कारण रात भर में उसका शरीर ठिठुर गया पर वह अपनी जगह से हिला तक नहीं। प्रातःकाल शिष्यों की गणना हुई तो आरुणि दिखाई नहीं दिया। महर्षि खेत की ओर दौड़े। देखा तो आरुणि अचेत होकर मेंड़ पर पड़ा था। पानी की एक बूंद भी बाहर न निकल सकी थी। शिष्य की गहन निष्ठा देखकर गुरु ने उसे छाती से लगा लिया। अपने कर्त्तव्य पर मर मिटना ही जीवन की साधना का अन्तिम चरण होता है।

स्वामी दयानन्द ने अपने गुरु विरजानन्द की इच्छा पूर्ण करने के

लिए संन्यास लिया और संसार में वेद धर्म का प्रचार करने के लिए अपना जीवन लगा दिया ।

राजा दलीप ने गुरु वशिष्ठ की गाय नन्दिनी को सिंह से बचाने के लिये अपने शरीर तक को सिंह के खाने के लिए रख दिया ।

जिनसे ज्ञान प्राप्त किया है उनके प्रति ऐसी ही श्रद्धा एवं कृतज्ञता का भाव रखना उचित है ।

सदाचरण का तप तेज

राजा बलि असुर कुल में उत्पन्न हुए थे पर वे बड़े सदाचारी थे और अपनी धर्म परायणता के कारण उनने बहुत वैभव और यश कमाया था । उनका पद इन्द्र के समान हो गया । पर धीरे-धीरे जब धन से उत्पन्न होने वाले आसन, अहङ्कार, आलस्य, दुराचार जैसे दुर्गुण बढ़ने लगे तो उनके भीतर रहने वाली शक्ति खोखली होने लगी ।

एक दिन इन्द्र की बलि से भेंट हुई तो सबने देखा कि बलि के शरीर से एक प्रचण्ड तेज निकल कर इन्द्र के शरीर में चला गया है और बलि श्री विहीन हो गये ।

उस तेज से पूछा गया कि आप कौन हैं ? और क्यों बलि के शरीर से निकल कर इन्द्र की देह में गये ? तो तेज ने उत्तर दिया कि मैं सदाचरण हूँ । मैं जहाँ भी रहता हूँ, वहीं सब विभूतियाँ रहती है । बलि ने तब तक मुझे धारण किया जब तक उसका वैभव बढ़ता रहा था जब कि इसने मेरी उपेक्षा करदी तो मैं सौभाग्य को साथ लेकर, सदाचरण में तत्पर इन्द्र के यहाँ जाता हूँ ।

बलि का सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया और इन्द्र का चमकने लगा उसमें सदाचरण रूपी तेज की समाधि ही प्रधान चरण थी ।

अधर्म का प्रायश्चित्त

बौद्ध-धर्म की नास्तिकतावादी विचारधारा का खण्डन करने के लिए कुमारिल भट्ट ने प्रतिज्ञा की और उसे पूरा करने के लिए उन्होंने

पहले उसका अध्ययन करना आवश्यक समझा । इसके लिए उन्होंने तक्ष-शिला में बौद्ध-धर्म का अध्ययन किया । उन दिनों की प्रथा के अनुसार छात्रों को आजीवन बौद्ध-धर्म के प्रति आस्थावान रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी तभी उन्हें विद्यालय में प्रवेश मिल पाता था । कुमारिल ने भी झूठी प्रतिज्ञा ली और शिक्षा समाप्त होते ही बौद्ध धर्म का खण्डन और वैदिक-धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया । अपने प्रयत्न में उन्हें सफलता भी काफ़ी मिली । शास्त्रार्थ की घूम मचा कर उन्होंने शून्यवाद की निस्सारता सिद्ध करके लड़खड़ाती हुई वैदिक मान्यताओं को फिर से मजबूत बनाया ।

अपने उद्देश्य में कुमारिल को पर्याप्त सफलता मिली लेकिन उनका अन्तःकरण उतना ही दुःखी बना रहा । गुरु के समक्ष की गई प्रतिज्ञा और उन्हें दिए गये विश्वास के प्रति बात करने के पाप में उनकी आत्मा हर घड़ी दुःखी रहने लगी । अन्त में उन्होंने इस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अग्नि में जीवित जल जाने का निश्चय किया । इस प्रायश्चित्त के करुण दृश्य को देखने के लिए देश भर में से अगणित विद्वान् वहां आये । उनमें आचार्य शङ्कर भी थे उन्होंने कुमारिल को मना करते हुए कहा “आपने तो जनहित के लिए ऐसा किया था । इसके लिए प्रायश्चित्त क्यों करते हैं ? ” कुमारिल बोले “अच्छा कार्य भी श्रेष्ठ तरीकों के द्वारा ही करना चाहिए । कुमारिण पर चलकर श्रेष्ठ कर्म करने की परम्परा गलत है । मैंने आपत्ति धर्म के रूप में ऐसा किया था, मैं नहीं चाहता कि यह परम्परा आगे भी चलती रहे इसीलिए यह निश्चय किया है । अन्त में उन्होंने अग्नि में जलकर अपने पाप का प्रायश्चित्त किया ।

संयम की शक्ति

महाभारत का अन्तिम श्लोक पूर्ण हुआ । गणेश की अनवरत चलती हुई लेखनी को विश्राम मिला । इसी बीच व्यासजी ने कहा “गणेश जी आप तो अनवरत लिखते ही रहे । आप तो बीच में कुछ

बोले तक नहीं। गणेश जी ने कहा” “संयम ही शक्ति का स्रोत है, यदि मैंने वाणी की संयम कर शक्ति का संचय न किया होता तो महाभारत इतनी जल्दी पूर्ण नहीं होता।

मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं, उन्हें विभिन्न व्यर्थ क्रियाओं के द्वारा नष्ट न करके संयम के द्वारा जितना संग्रह किया जा सके करना चाहिए। संयम की हुई शक्तियों से ही मनुष्य बड़े-बड़े काम कर सकता है। असंयमी और शक्तियों का दुरुपयोग करने वाला मनुष्य जीवन में महान् कार्य नहीं कर सकता।

परमहंस की निरभिमानता

स्वामी रामकृष्ण बगीचे में बैठे हुए ईश्वर चिन्तन में लीन थे। इतने में ही डाक्टर महेन्द्रनाथ सरकार उधर आये और उन्होंने स्वामीजी को बाग का माली समझ कर फूल तोड़ लाने को कहा। स्वामी जी मानापमान से परे निर्मल स्थिति में थे, उन्होंने तत्काल फूल तोड़कर डाक्टर साहब को दे दिए। दूसरे दिन ये ही डाक्टर साहब स्वामी जी को देखने आये तब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उनकी निराभिमानता पर द्रवित हो गये। महान, सन्त, साधु व्यक्तियों की पहचान उनके अभिमान शून्यविनययुक्त, स्वभाव से ही की जाती है।

गाँधाजी जनता के पैसे का मूल्य समझते थे

महात्मा गांधी उन दिनों अपने भाषण के बाद जनता से हरिजन फण्ड के लिए चन्दा इकट्ठा किया करते थे। लोग क्रमशः आते और बापू के हाथ में पैसा देते जाते। इसी बीच गाँधी जी के हाथ से एक पैसा गिर गया, वे उसे खोजने लगे लेकिन भीड़ में वह नहीं मिल रहा था। लोगों ने उन्हें परेशान देखकर कहा “बापू ! एक पैसे के लिए इतनी चिन्ता न करें उसकी क्षति-पूर्ति तो हम कर देते हैं।” लेकिन बापू उस पैसे को ढूँढ़ते ही रहे और बोले “आप और पैसा दें यह बात अलग है लेकिन मुझे जो मिलता है उसे सुरक्षित रखना मेरा कर्त्तव्य है। वह पैसा

मेरा नहीं समाज का है। इस अमानत के एक-एक पैसे की सुरक्षा और उसकी सम्हाल रखना मेरा कर्त्तव्य है।”

मान बढ़ाई से दूर

स्वामी रामतीर्थ की ओजस्विनी वाणी विद्वता से प्रभावित हो कर अमेरिका की १८ यूनिवर्सिटियों ने मिलकर उन्हें सम्मानित “डाक्टर” की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा किन्तु स्वामी जी ने उसे सधन्यवाद अस्वीकार करते हुए कहा (१) स्वामी और (२) एम० ए० ये दो कलंक पहले ही नाम के आगे-पीछे लग रहे हैं, अब तीसरे कलंक को कहाँ रखूंगा ? मान बढ़ाई के फेर से बचे रहकर ही सेवाभावी सत्पुरुष और वास्तविक कार्य कर सकते हैं।

दम, दान और दया

देवता, मनुष्य और असुरों ने एक बार मिलकर अपने-अपने प्रतिनिधि पितामह ब्रह्मा के पास भेजे। और उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने अपना मौन तोड़ा और “द” ऐसा कहकर फिर मौन हो गये। देवताओं ने आगे गुरु वृहस्पति से “द” का अर्थ पूछा तो उन्होंने बताया “विषयों में लीन मन का दमन कर उसे निर्विकार बनाने का उपदेश दिया।” शुक्राचार्य ने असुरों को बताया कि अपनी शक्ति को दूसरों के सताने में न लगाकर दयालु बनें। स्वार्थी मनुष्यों को धरती के विद्वानों ने बताया कि वे जन-कल्याण के लिए दान देना सीखें। शक्ति दूसरों को सताने एवं अपना उल्लू सीधा करने के लिए नहीं होती वरन् यह असहाय, निर्बलों के ऊपर दया करके उन्हें ऊँचा उठाने के लिये होती है ! अमूल्य मानव-जीवन भोग-विलास, विषय-वासनाओं में लीन होने के लिये नहीं होता अपितु संयम, सदाचार के द्वारा आत्म-विश्वास के लिये प्राप्त होता है। धन अपने स्वार्थ एवं संयम की पूर्ति के लिये नहीं वरन् दान करके दूसरों के हित साधन करने के लिये होता है।

विद्रुप द्वारा स्वर्ग का त्याग

पुण्यात्मा विद्रुप को अपने सत्कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग मिला।

ऐसा स्वर्ग जहाँ आनन्द, सुख प्राप्ति के सर्व साधन सुलभ थे । किसी को कुछ नहीं करना पड़ता । लेकिन विद्रुप कुछ ही दिनों में वहाँ ऊबने लगे । इन्द्र ने उनसे इस उदासी का कारण पूछा तो वे बोले “देवराज मुझे इस सुख-सुविधा युक्त अकर्मण्य जीवन से सन्तोष नहीं मिलता । मुझे तो पुनः उसी लोक को भेज दें जहाँ कर्म करने की स्वतन्त्रता है । कर्म में ही मुझे सुख, सन्तोष मिलेगा । एक देवता ने पूछा “भाई वह कर्म-लोक है । मैं इस स्वर्गीय जीवन को, देवताओं के सान्निध्य को छोड़कर धरती पर मनुष्यों के साथ रहकर कर्म युक्त जीवन बिताना चाहता हूँ ।” और फिर विद्रुप अपनी इच्छा से धरती पर आकर कर्म-युक्त उल्लासमय जीवन बिताने लगे ।

धरती पर मनुष्य बनकर कर्म-शील जीवन बिताना स्वर्ग से भी अधिक सुखदायी होता है । जो इस तथ्य को हृदयगम कर लेते हैं उनके लिये यह धरती ही स्वर्ग से महान् बन जाती है ।

मैं भूँठा नहीं हूँ

एक बार गान्धी जी स्कूल देर से पहुँचे । बादल छाये रहने और वर्षा होने के कारण उन्हें समय का ठीक पता न चला । स्कूल में अध्यापक ने उनसे देर का कारण पूछा—तो उन्होंने सच बात बता दी । पर इससे अध्यापक को सन्तोष न हुआ । इसे उसने बहाना समझा और एक श्राना जुर्माना कर दिया ।

गान्धी जी रोने लगे । साथियों ने कहा—एक आना के लिए क्यों रोते हो ? आपके पिता तो अमीर हैं, एक आना कौन बड़ी बात है ? गान्धीजी ने कहा—मैं एक आना के लिए नहीं वरन् इसलिए रोता हूँ कि मुझे भूँठा समझा गया ।

गोखले की सच्चाई

गोपाल कृष्ण गोखले जब स्कूल में पढ़ते थे तब एक दिन एक लड़के की मदद से गणित का प्रश्न पत्र हल किया । उत्तर ठीक बन पड़े

तो उन्हें अध्यापक ने इनाम दिया । बालक इनाम लेने में प्रसन्न होने की अपेक्षा रोने लगा । अध्यापक ने इसका कारण पूछा तो उनसे सच बात कह दी कि प्रश्नपत्र मैंने दूसरों से पूछकर हल किया है, ऐसी दशा में मुझे सजा मिलनी चाहिए न कि इनाम ।

अध्यापक उनकी सचाई से बहुत प्रभावित हुए, उनसे बच्चे को बहुत प्यार किया और वह इनाम देते हुए कहा यह प्रश्नपत्र हल करने का नहीं तुम्हारी सचाई का इनाम है ।

श्रद्धा और अनुशासन

सिख सम्प्रदाय के चौथे गुरु श्री रामदासजी के अनेक शिष्य थे । सभी की अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं । उनमें से एक शिष्य ऐसे थे जिनकी विशेषता श्रद्धा और आज्ञापालन ही थी । इनका नाम था अर्जुनदेव ।

अर्जुनदेव ने दीक्षा लेकर आश्रम में प्रवेश किया तो उन्हें बर्तन माँजने का काम सौंपा गया । वे सवेरे से शाम तक बर्तन माँजने में लगे रहते । अन्य शिष्य जब कि धर्म-चर्चा और गुरु-पूजा में लगते तब भी अर्जुनदेव अपने नियत कर्म के अतिरिक्त दूसरी बात न सोचते । बर्तन माँजना ही उनके लिए सबसे बड़ी साधना बना हुआ था । गुरु ने यही तो आदेश उन्हें दिया था ।

गुरुजी के अवसान का समय आया । सब शिष्य यह आशा लगाये हुये थे कि बड़ी-चढ़ी योग्यता के कारण उन्हें ही उत्तराधिकार मिलेगा, वे गुरु की गद्दी पर बैठेंगे । गुरुदेव अपना घोषणापत्र लिख चुके थे, उनकी मृत्यु के बाद ही उसे खोला जाना था ।

समय आया । गुरुदेव दिवंगत हुये । घोषणापत्र खुला । उसमें अर्जुनदेव को उत्तराधिकारी माना गया था । सुनने वालों ने आश्चर्य किया कि इस सबसे कम योग्य को यह पद कैसे मिला ? समाधान करने वालों ने समझाया कि श्रद्धा और अनुशासन यही शिष्य की सबसे बड़ी योग्यता है । गुरुदेव की परख ठीक थी और निर्णय भी ठीक ही है ।

अर्जुनदेव सिख धर्म के पाँचवे गुरु हुए, उनने अपनी योग्यता के बल पर सिख धर्म की भारी सेवा और प्रगति की ।

श्रम से सोभाग्य

एक माली के कई लड़के थे वह आलसी और कामचोर थे । माली जब मरने लगा तो उसे लगा कि आलस में पड़े-पड़े यह लोग दरिद्र हो जायेंगे । इसलिये इन्हें कोई ऐसी बात बतानी चाहिये जिससे इन्हें दरिद्रता का सामना न करना पड़े ।

मरते समय बाप ने बेटों से कहा यदि कभी तुम्हें पैसों की तंगी आये तो बाग में प्रत्येक पेड़ के नीचे मैंने दो-दो रुपये गाढ़ रखे हैं जो खोद कर निकाल लेना । कुछ दिन बाद लड़कों को पैसों की तंगी आई । उनने पेड़ों के नीचे खोद-खाद की । पैसे तो न मिले पर निकाई-गुड़ाई हो जाने से पेड़ों पर फल अधिक लगे और पिछली फसल की अपेक्षा हर पेड़ ने दो-दो रुपये के फल अधिक दिये ।

बेटों ने बाप के उद्देश्य को समझा और वे अधिक परिश्रम करके अच्छी तरह कमाने खाने लगे ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृतज्ञता

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी कवि हृदयता और उदारता के कारण सारी सम्पत्ति बाँट कर कंगाल हो गये थे । जो एक दिन देश के बड़े धनवानों में से थे उनके पास एक दिन पत्रों के उत्तर भेजने के लिए पैसे नहीं रहे । वे अपने मित्रों को पत्र लिख-लिख कर मेज पर रखते गये । एक दिन उनके मित्र ने जब यह देखा तो पाँच रुपया देकर पत्रों को भिजवाने का प्रबन्ध किया । कुछ दिनों में भारतेन्दुजी की निर्धनता दूर हुई । अब जब भी वे मित्र आते उनकी जेब में भारतेन्दुजी एक पाँच का नोट रख देते । एक दिन उन मित्र ने कहा “बाबूजी ! आपकी यही स्थिति रही तो मुझे आपके पास आना बन्द करना पड़ेगा ।” बाबूजी की आँखों में आंसू आ गये, वे रुँधे गले से बोले, “मित्र आपने मेरे ऊपर



उस समय जो कृपा की थी उसका ऋण तो मैं जीवन भर भी रुपये देकर नहीं चुका सकता ।”

आकर्षण से बचकर अध्ययन

नेपोलियन जब उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये अध्ययन में संलग्न था तब पड़ोस की एक स्त्री उस पर बेतरह मुग्ध थी । वह उसे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की छेड़खानी करती, पर नेपोलियन उस से मस न हुआ। वह अपने अध्ययन में दत्त-चित्त हो कर लग रहा ।

बहुत दिन बाद जब नेपोलियन अपने देश का प्रधान सेनापति बन गया तब वह छुट्टियों में अपने पूर्व परिचितों से मिलने गया । वह उस स्त्री के यहां भी पहुंचा । उसने कहा—“आपको याद होगा यहां इस कालेज में एक नेपोलियन नामक लड़का पढ़ा करता था ।” उस स्त्री ने बात काटते हुए कहा—“हां, हां एक रूखा नीरस और किताबों का कीड़ा लड़का, उसकी मुझे याद है, ऐसे बेकार आदमी की मुझसे चर्चा भी मत कीजिए महोदय !”

नेपोलियन ने हँस कर कहा—देवि ! मैं ही वह नीरस किताबों का कीड़ा नेपोलियन हूँ, आज का प्रधान सेनापति । यदि उन दिनों मैं रसिक रहा होता तो आज सेनापति बन सकना मेरे लिये सम्भव न होता ।

× × ×

सुरम्य कुसुमं दृष्ट्वा यथा सर्वं प्रसीदति ।

प्रसन्नानन पुरान् दृष्ट्वा तथा त्वं सूखमान्पुनः॥

जैसे सुन्दर फूल को देखकर लोग प्रसन्न होते हैं वैसे ही दूसरों का प्रसन्न मुख देख तुम को प्रसन्न होना चाहिये ।

दान्तस्य किमरण्येन तथा दान्तस्य भारत ।

यत्रैव निसेदूदान्त स्तदरण्यं सचाश्रमः ॥

जो संयमी है उसे वन की क्या आवश्यकता है और जो संयम रहित है उसे वनवास करने से भी क्या लाभ है ? संयमशील व्यक्ति जहाँ रहे उसके लिये वहीं वन है और वहीं आश्रम है ।

हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कण्ठस्य भूषणम् ।

कर्णस्य भूषणं शास्त्रं भूषणैः किम्प्रयोजनम्॥

दान हाथ का भूषण है, सत्य भाषण करना गले का आभूषण है, शास्त्र वचन श्रवण करना कान का भूषण है फिर अन्य जड़ भूषणों की क्या आवश्यकता है ?

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति

प्रजा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।

पराक्रमश्चाबहुभाषिता च

दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय संयम, अध्ययन करना, मितभाषण, शक्ति के अनुसार दान देना और किये हुए उपकार को मानना—ये आठ गुण पुरुष की शोभा को बढ़ाते हैं ।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।

सत्येन विधृतं सर्वं सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

सत्य वचन ही उत्तम होता है । सत्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है । सत्य बल से ही समस्त सिद्धियाँ होती हैं और सत्य से ही प्रतिष्ठा होती है ।

कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

अकर्तव्यं न कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥



जो अपना कर्त्तव्य कर्म है उसका पालन मृत्यु पर्यन्त भी करना चाहिए और जो अकर्त्तव्य कर्म है उनको मृत्यु आ जाने पर भी नहीं करना चाहिये ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

जहाँ स्त्रियों का आदर, सत्कार होता है वहाँ देवता रमण करते हैं, जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ की सम्पूर्ण क्रियायें निष्फल हो जाती हैं ।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

नशोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥

जिस कुल में स्त्रियाँ दुःख पाती हैं उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है और जिस कुल में वह सुखी रहती हैं वहाँ सदा धनादि की वृद्धि होती है ।

यं मातापितरौ बलेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥

माता-पिता जो बलेश मनुष्य की उत्पत्ति में सहन करते हैं उसका बदला सन्तान सदा चुकाती रहे तो भी चुकना कठिन है ।

स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम् ।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

जिस पुत्र के उत्पन्न होने से वंश की बड़ाई हो, वह जानो उत्पन्न हुआ, नहीं तो इस असार संसार में मरकर कौन उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् बहुत से होते हैं और बहुत से मरते हैं ।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोभि वः ।

अन्यो अन्यमभिहृतं वत्सं जातमिवाधन्या ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३।३०।१—३)

हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए । द्वेष की गन्ध भी न हो । तुम एक-दूसरे से उम्मी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे बछड़े को प्यार करती है ।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञाकारी और उनके साथ एक मन होकर रहे । पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह युक्त वाणी का ही व्यवहार करे ।

भाई-भाई के साथ और बहन-बहन के साथ द्वेष न करे ।

तुम्हें चाहिए कि एकमन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढ़ाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो ।

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।

षडेते यत्र बर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत् ॥

उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम—जिसमें ये छः गुण रहते हैं, परमेश्वर उसकी सहायता करते हैं ।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

सदाचार से ही आयु प्राप्त होती है । आचार से ही इच्छित

सन्तान की प्राप्ति होती है और आचार से ही अक्षय धन की प्राप्ति होती है । आचार ही सब अलक्षणों को दूर करने वाला है ।

**सदा प्रसन्नं मुख मिष्ठवाणी सूशीलता च स्वजनेषु सख्यम् ।
सतां प्रसंगः कुल हीन हानं चिन्हानि देहे त्रिदिवस्थितानाम्**

सदा प्रसन्न मुख रहना, प्रिय बोलना, सुशीलता, आत्मीयजनों में प्रेम-भाव, सज्जनों की संगति और नीचों की उपेक्षा ये मनुष्यों में देवताओं के से लक्षण होते हैं ।

शक्तिमानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः ।

श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो नरः ॥

जो मनुष्य धर्म से विमुख रहता है धर्म का पालन नहीं करता, वह शक्तिमान होता हुआ भी निर्बल है तथा धनवान् होता हुआ भी निर्धन है और वेद शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी मूर्ख ही रहता है ।

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

जो सदा पर-स्त्रियों को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान तथा समस्त प्राणियों को अपने ही समान देखता है, वही वास्तव में पण्डित है ।

तुगत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता

अलंघनीयता हेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥

पर्वतों में ऊँचाई होती है गहराई नहीं, समुद्र में गहराई होती है ऊँचाई नहीं, परन्तु मनस्वी पुरुषों में उक्त दोनों ही बातें होती हैं ।

शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ।

शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम् ॥

शरीर और गुण इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। यह शरीर तो थोड़े ही दिनों तक रहता है और चाहे जब एक क्षण में नष्ट हो जाता है किन्तु इसके अन्दर रहने वाले सद्गुण कल्पान्त तक ठहरते हैं।

संत कष्ट सहि आपुही, सुखि राखें जू समीप ।
 आप जरै तऊ और कौ, करै उजेरौ दीप ॥
 एक भले सबको भले, देखो सबद बिबेक ।
 जैसे सत हरिचन्द्र को, उधरे जीव अनेक ॥
 कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर ।
 समय पाय तरुवर फरै, केतिक सींचौ नीर ॥
 करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
 रसरी आवत जात तैं, सिल पर होत निसान ॥
 भले बुरे निबहें सबै, महत पुरुष के संग ।
 चन्द सर्प जल अगिन ए, बसत शंभु के अंग ॥
 तुलसी संत सुरम्य तरु, फूल फूलहिं पर हेत ।
 ये इततैं पाहन हनत, वे उतते फल देत ॥
 भवन बीच रहु विमल बनि, क्यों जाबहु वन घोर ।
 तजौ दुखद, निज कुटिल मति, सुख है चारों ओर ॥
 जड़ चेतन गुन दोष मय, विश्व कीन्ह करतार ।
 संत हंस गुन गन गहहि, परिहरि वारि विकार ॥
 ऊँचे सोई जन उठैं करै न जे अभिमान ।
 सदा विनयिता जे गहैं बाढ़ें दूब समान ॥



त्रिया लक्ष्मी गेह की त्रिया सक्ति का स्रोत ।
 जे घर तिरिया आदरहिं तिन्हिं अमित सुख होत ॥
 तुलसी साथी विपति के, विद्या विनय विवेक ॥
 साहस सुकरित सत्य ब्रत, राम भरोसे एक ।
 जब देखो तव भलेन तें, सजन भलाई होइ ।
 जारें-जारें अगर ज्यों, तजत नहीं खुसबोइ ॥
 धन थोरो इज्जत बड़ी, कह रहीम क्या बात ।
 जैसे कुल की कुलबधू, चिथड़न माह समात ॥
 लोभ सरिस अवगुण नहीं, तप नहिं सत्य समान ।
 तीर्थ नहीं मन शुद्धि सम, विद्या सम धनवान ॥

इन्हीं गुणों से मिलते-जुलते गुण अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत भगवान् राम ने नारदजी को बताये हैं । वे कहते हैं जिनमें निम्नलिखित पुण हैं वही मुझे अत्यन्त प्रिय हैं । हे नारद ! सुनिये—

षट् विकार जित अनघ अकामा ।

अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ॥

अमित बौध अनीह मित भोगी ।

सत्यसार कवि कोबिद जोगी ॥

सावधान मानद मद हीना ।

धीर धर्मगति परम प्रवीना ॥

दोहा-गुनागार संसार दुख रहित, विगत सन्देह ।

तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहूँ देहन गेह ॥

निज गुन श्रवण सुनत सकुचाहीं ।
 परगुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥
 सम सीतल नहिं त्यागहि नीती ।
 सरल सुभाव सबहि सन प्रीती ॥
 जप तप व्रत संयम अरु नेमा ।
 गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा ॥
 श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया ।
 मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
 विरति विवेक विनम विज्ञाना ।
 बोध जथारथ वेद पुराना ॥
 दंभ मान मद करहिं न काऊ ।
 भूलि न देहि कुमारग पाऊ ॥
 गावहिं सुनहिं सदा मम लीला ।
 हेतु रहित परहित रत सीला ॥

उत्तरकाण्ड में भरतजी के पूछने पर भगवान् राम का ज्ञानवान्
 में पाये जाने वाले सद्गुणों का वर्णन करना—

विषय अलंपट सील गुनाकर ।
 पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
 सम अभूतिरपु विमद विरागी ।
 लोभामरष हरष भय त्यागी ॥



कोमल चित्त दीन पर दाय्या ।
 मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
 सबहि मानप्रद आप अमानी ।
 भरत प्राण सम मम ते प्राणी ॥
 बिगत काम मम नाम परायन ।
 सांति विरति विनती मुदितायन ॥
 सीतलता सरलता मयत्री ।
 द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री ।
 सम दम नियम नीति नहि डोलहि ॥
 परुष बचन कबहूँ नहि बोलहि ॥

दोहा-निन्दा स्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज ।
 ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुन मन्दिर सुख पुंज ॥

इसी काण्ड में आगे चलकर काकभुमुण्ड जी गरुड़ को उनके द्वारा पूछे गये सप्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

पर उपकार वचन मन काया ।
 संत सहज सुभाव खग राया ॥
 संत सहहि दुख परहित लागी ।
 पर दुख हेतु असन्त अभागी ॥
 भूर्ज तरु सम सन्त कृपाला ।
 परहित नित सइ विपद बिसाला ॥

संत उदय संतत सुखकारी ।
 विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ॥
 परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा ।
 परनिन्दा सम अघ न गरीसा ॥

इसके पूर्व वालकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदासजी संतों (ज्ञानवानों) का चरित्र वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

साधु चरित सुभ चरित कपासू ।
 निरस विसद गुनमय फल जासू ॥
 जो सह दुख पर छिद्र दुरावा ।
 वंदनीय जेहि जग जस पावा ॥

अरण्यकांड के अन्तर्गत जब श्रीराम सीता, लक्ष्मण सहित अत्रि के आश्रम में गये यह उस समय का वर्णन है—

अनुसुइया के पद गहि सीता ।
 मिली बहोरि सुसील बिनीता ॥
 रिषिपतिनी मन सुख अधिकाई ।
 आसिष देइ निकट बैठाई ॥
 दिव्य बसन भूषन पहिराए ।
 जे नित नूतन अमल सुहाए ॥
 कह रिषिबधू सरस मृदु बानी ।
 नारिधर्म कछु ब्याज बखानी ॥
 मातु पिता भ्राता हितकारी ।



मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
 अमित दान भर्ता वैदेही ।
 अधम सों नारि जो सेव न तेही ॥
 धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।
 आपद काल परिखिअहिं चारी ॥
 बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना ।
 अन्ध बंधिर क्रोधो अति दीना ॥
 ऐसेहु पति कर किए अपमाना ।
 नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
 एकइ धर्म एक ब्रत नेमा ।
 कार्य बचन मन पति पद प्रेमा ॥
 बिनु श्रम नारि परमगति लहई ।
 पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
 पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई ।
 बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

यह किष्किन्धा कांड में राम सुग्रीव सिलन के समय का प्रसंग है—

जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी ।
 तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
 निज दुख गिरि सभ रज करि जाना ।
 मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥

जिन्ह कैं असि मति सहज न आई ।
 ते सठ कत हठि करत मित्ताई ॥
 कुपथ निवारि सुपन्थ चलावा ।
 गुन प्रगटै अवगुन्हि दुरावा ॥
 देत लेत मन संक न धरई ।
 बल अनुमान सदा हित करई ॥
 विपति काल कर सतगुन नेहा ।
 श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
 आगे कह मृदु बचन बनाई ।
 पाछें अनहित मन कुटिलाई ॥
 जा कर चित अहि गति सम भाई ।
 अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥
 सेवक सठ नृप कृपन कुनारी ।
 कपटी मित्र सूल सम चारी ॥

यह अयोध्याकाण्ड में राम के वन गमन के समय का प्रसंग है—

दोहा-सीतहि सासु असीस सिख दीन्ह अनेक प्रकार ।
 चली नाइ पद पदुम सिरु अति हित बारहि बार ॥

उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत यह सीता की जीवनचर्या का प्रसंग है—

पति अनुकूल सदा रह सीता ।
 सोभा खान सुसील बिनीता ॥



जद्यपि गृहं सेवक सेवकिनी ।
 बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ॥
 निज कर गृह परिचरजा करई ।
 रामचन्द्र आयुस अनुसरई ॥
 कौसल्यादि सासु गृह माहीं ।
 सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं ॥

अयोध्याकांड में निम्न प्रसंग राम के वन गमन के समय का है—

एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा ।
 सादर सासु ससुर पद पूजा ।
 जब जब मातु करिहिं सुध मोरी ।
 होइहि प्रेम बिकल मति भोरी ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत भगवान् श्रीराम से जब नगरवासियों सहित भरत मिलने गये थे उसी समय का यह प्रसंग है —

होहिं कुठायें सुबन्धु सहाए ।
 ओड़िहिं हाथ असनिहु के धाए ॥
 दोहा-सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होइ ।
 तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकबि सराहहिं सोइ ॥
 मुखिया मुखु सो चाहिए, खान पान कहूँ एक ।
 पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ॥

अयोध्याकांड में राम वन गमन के समय लक्ष्मण जी से उनकी माता कहती हैं—

तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं ।
 दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
 सकल सुकृत कर बड़ फल एहू ।
 राम सीय पद सहज सनेहू ॥
 राग रोषु ईरिषा मदु मोहू ।
 जानि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
 सकल प्रकार बिकार बिहाई ।
 मन क्रम बचन करेहु सेबकाई ॥
 तुम्ह कहूँ बन सब भाँति सुपासू ।
 सँग पितु मात राम सिय जासू ॥
 जेहि न रामु बन लहहि कलेसू ।
 सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत कैकयी के कोप-भवन और दशरथ से वर माँगने के समय का यह प्रसंग है—

सुनु जननी सोइ सुनु बड़भागी ।
 जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
 तनय मातु पितु तोषनिहारा ।
 दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

दोहा-मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर ।
 तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥

भरत प्रानप्रिय पावहिं राज्ञ ।
 बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आज्ञ ॥
 जौं न जाउं बन ऐसेहु काजा ।
 प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ॥
 सेबाहिं अरँडु कलपतरु त्यागी ।
 परिहरि अमृत लेहिं बिपु माँगी ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत जब लक्ष्मण ने बन में जाने के लिए माता सुमित्रा से आज्ञा माँगी तब माता उनसे कह रही है ।

तात तुम्हारि मातु वैदेही ।
 पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
 अवध तहां जहँ राम निवासू ।
 तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू ॥
 जौं पै सीय रामु बन जाहीं ।
 अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥
 गुरु पितु मातु बन्धु सुर साईं ।
 सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥
 रामु प्रानप्रिय जीवन जी के ।
 स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
 पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें ।
 सब मानिअहिं राम के नातें ॥

अस जियँ जानि संग बन जाहू ।

लेहू तात जग जीवन लाहू ॥

राज तिलक के दिन प्रातः सुमन्त रामचन्द्रजी को जगाने गये
उसका यह प्रसंग है—

राम सुमंत्रहि आबत देखा ।

आदरु कीन्ह पिता सम लेखा ॥

यह प्रसंग अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्रजी के जीवन
क्रम, परस्पर सम्बन्धों का परिचय कराता है—

वेद पुरानि बसिष्ठ बखानहि ।

सुनिहि राम जद्यपि सब जानहि ॥

अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं ।

देखि देखि जननीं सुख भरहीं ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत कौशल्या वन-गमन के समय राम-
चन्द्रजी से कह रही है—

जौं केवल पितु आयसु ताता ।

तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना ।

तौ कानन सत अवध समाना ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत राम वन-गमन के समय का यह
प्रसंग है—

धन्य जनमु जगतीतल तासू ।

पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥

चारि पदारथ करतल ताकें ।
 प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ॥
 आयसु पालि जनम फलु पाई ।
 ऐहउं बेगिहि होउ रजाई ॥

यह प्रसंग अयोध्याकांड के अन्तर्गत श्रीराम के विवाह के समय का है—

बधू सप्रेम गोद बैठारों ।
 बार बार हियं हरषि दुलारों ॥
 जनक राज गुन सोल बड़ाई ।
 प्रीति रीति संपदा सुहाई ॥
 बहुबिधि भूप भाट जिमि बरनी ।
 रानी सब प्रमुदित सुनि करनी ॥
 नृप सब भांति सर्वाह सनमानी ।
 कहि मृदु बचन बोलाई रानी ॥
 बधू लरिकनी पर घर आई ।
 राखेहु नयन पलक की नाई ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत राम के वन-गमन के समय कौशल्या सीता के सम्बन्ध में कह रही हैं—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई ।
 रूप रासि गुन सोल सुहाई ।
 नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई ।
 राखउं प्रान जानकिहि लाई ॥

कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली ।
 सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली ॥
 जिअनमूरि जिमि जोवत रहउं ।
 दीप बाति नहिं टारन कहऊं ॥
 जौं सिय भवन रहै कह अंबा ।
 मोहि कहूँ होइ बहुत अवलंबा ॥

यह राम वनवास के समय जानकी जी का प्रसंग है—

तब जानकी सासु पद लागी ।
 सुनिअ माय मैं परम अभागी ॥
 सेवा समय दैव वनु दीन्हा ।
 मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ॥

कालकांड के अन्तर्गत राम विवाह के अवसर पर सीता को उपदेश देते हुए स्त्रियाँ कह रही हैं—

होएहु संतत पिर्याहि पिआरी ।
 चिर अहिबात असीस हमारी ॥
 सासु ससुर गुर सेवा करेहु ।
 पति रुख लखि आयसु अनुसरेहु ॥

यह प्रसंग अयोध्याकांड के अन्तर्गत जनक और सीताजी के मिलन के समय का है—

जनक राम गुरु आयसु पाई ।
 चले अलहि सिय देखी आई ॥

लीन्हि लाइ उर जनक जानकी ।
 पाहुनि पावन प्रेम कान की ॥
 तापस बेष जनक सिय देखी ।
 भयउ पेमु परितोषु बिसेषी ॥
 पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ ।
 सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ ॥
 जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी ।
 गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत राम वनवास के समय सीताजी
 रामचन्द्रजी से कह रही हैं —

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं ।
 पिय वियोग सम दुख जग नाहीं ॥
 दोहा-प्राननाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान ।
 तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान ॥
 भोग रोग सम भूषन भारू ।
 जम जातना सरिस संसारू ॥
 प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं ।
 मो कहूँ सुखद कतहूँ कछु नाहीं ॥
 जिय बिनु देह नदी बिनु बारी ।
 तेसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे ।
 सरद बिमल बिधु बदनु निहारे ॥
 अस कहि सीय बिकल भइ भारी ।
 बचन बियोगु न सकी सँभारी ॥

उत्तरकांड के अन्तर्गत सन्तों के स्वभाव का वर्णन करते हुए शिवजी गिरिजा से कह रहे हैं—

सन्त बिटप सरिता गिरि धरनी ।
 पर हित हेतु सबन्ह कै करनी ॥
 सन्त हृदय नवनीत समाना ।
 कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ॥
 निज परिताप द्रवइ नवनीता ।
 पर दुख द्रबहि सन्त सुपुनीता ॥

दोहा-गिरिजा सन्त समागम सम न लाभ कछु आन ।
 बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहि बेद पुरान ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत रामचन्द्रजी केवट से कह रहे हैं—

सिबि दधीच हरिचन्द नरेसा ।
 सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥
 रन्तिदेव वलि भूप सुजाना ।
 धरमु धरेउ सहि संकट नाना ॥
 धरमु न दूसर सत्य समाना ।
 आगम निगम पुरान बखाना ॥

मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा ।
 तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा ॥
 संभावित कहूँ अपजस लाहू ।
 मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥

बालकांड के अन्तर्गत रामचन्द्रजी के विवाह का समाचार मिलने के अवसर का प्रसंग है—

सुनि बोले गुर अति सुखु पाई ।
 पुन्य पुरुष कहूँ महि सुख छाई ॥
 जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं ।
 जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
 तिमि सुख संपति बिनाहिं बोलाएँ ।
 धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥

यह बालकांड के अन्तर्गत श्री शिवजी द्वारा कामदेव को भस्म करने का प्रसंग है—

सौरभ पल्लव मदनु बिलोका ।
 भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ॥
 तब सिवें तीसर नयन उघारा ।
 चितदत कामु भयउ जरि छारा ॥

उत्तरकांड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्रजी भरत को सज्जनों का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

सबहि मानप्रद आपु अमानो ।
 भरत प्राण सम मम ते प्राणी ॥

बिगत काम मम नाम परायन ।
 सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥
 सीतलता सरला मयत्री ।
 द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ॥
 ए सब लच्छन बसहिं जासु उर ।
 जानेहु तात संत संतत फुर ॥
 सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं ।
 परुष बचन कबहुं नहिं बोलहिं ॥

बोहा-निंदा अस्तुति उभय सम ममता ममपद कञ्ज ।
 ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मन्दिर सुख पुञ्ज ॥

कालकांड में गोस्वामी तुलसीदासजी सन्त-साधुजनों की विनती
 कर रहे हैं—

साधु चरित शुभ चरिच कपासू ।
 निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
 जो सहि दुख परछिद्र दुरावा ।
 बंदनीय जेहि जग जस पावा ॥

॥ चौथा प्रवचन समाप्त ॥

—××—



पाँचवाँ प्रवचन



(यज्ञमय जीवन जिए)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक ॥

[अध्याय ३ श्लोक १०]

प्रजापति ने पहले यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि “इस (यज्ञ) से तुम फलो-फूलो, और यह (यज्ञ) तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं को पूरा करने वाला हो ।”

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति परमात्मा ने मनुष्यों को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया था । मनुष्य और यज्ञ जुड़वाँ भाई हैं । दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । जहाँ मनुष्यता होगी वहाँ यज्ञीय भावना अवश्य रहेगी । जो यज्ञीय भावना से रहित है वह मनुष्य आकृति का प्राणी भले ही हो उसे सच्चा मनुष्य नहीं कहा जा सकता । मनुष्य जीवन यज्ञमय जीवन होना चाहिए । इसी में उसकी मनुष्यता की सार्थकता है ।

यज्ञ और मनुष्य को साथ-साथ उत्पन्न करने के उपरान्त प्रजापति ने मनुष्य को निर्देश किया कि तुम इसे अपनाओ, इसे अपने भीतर और बाहर ओत-प्रोत करो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा । इसी से फलोगे-फूलोगे और यही तुम्हारी आकांक्षाओं को पूर्ण करेगा ।

आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये, फलने-फूलने के लिये, सुख शान्ति-मय परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिये जिस यज्ञ को ब्रह्मा जी ने एक सुनिश्चित तप बताया है उसका प्रतीक अग्निहोत्र है। हवन द्वारा सुगंधित पौष्टिक, आरोग्य-वर्धक उत्तम पदार्थों की आहुति देकर हम उन्हें वायु भूत बनाकर सम्पूर्ण प्राणियों के लिए बाँट देते हैं। इस प्रकार हम अपनी निज की कमाई को दूसरों के लिए उत्सर्ग करके अपनी उदारता का परिचय देते हैं।

अग्निहोत्र के पीछे जिस आदर्शवादिता का समावेश है वस्तुतः उसे ही यज्ञ कहते हैं। वायु शोधन आदि लाभ तो गौण है। भावनाओं का उत्कर्ष ही धर्म एवं अध्यात्म का मूल प्रयोजन है। समस्त प्रकार के कर्मकाण्ड केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किये जाते हैं। अग्नि-होत्र यज्ञ का बाह्य आवरण एवं कलेवर है। मूल-भावना तो उसके पीछे परमार्थ की है। अपनी प्रिय वस्तुएं स्ययं न खाकर अपने प्रियजनों के लिए ही नहीं वरन् उन सब प्राणियों के कल्याणार्थ होमते हैं, जिनसे किसी प्रकार का प्रतिफल पाने की आशा नहीं है।

यज्ञ मानव जीवन की सार्थकता का प्रमुख आधार है। भगवान् ने अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य को अधिक विभूतियाँ एवं सुविधाएँ दी हैं। इसके पीछे उसका प्रयोजन यही है कि उनके द्वारा वह अपने छोटे भाई-बहनों को लाभ पहुँचावे उनकी सहायता करे। पिता अपनी सम्पत्ति और कारोबार की कुंजी बड़े बेटे को देता है इसका प्रयोजन यह नहीं कि बड़ा बेटा उस सौंपी गई साधन सामग्री का स्वयं ही मनमाना लाभ उठाने लगे वरन् यह है कि उस सम्पदा से पिता के सारे परिवार को सुखी बनाने के लिये अधिकाधिक प्रयत्न करे। कोई बैंक, अपने खजानची के हाथ में नकदी रखने की जिम्मेदारी सौंपदी है तो उसका अर्थ यह नहीं कि उस खजाने के धन को वह व्यक्ति अपनी निज की इच्छाओं में ही मनमाना खर्च कर डाले। वरन् यह है कि बैंक के

स्वार्थ एवं प्रयोजनों की पूर्ति के लिए उस धन का ठीक तरह उपयोग करने की जिम्मेदारी, ईमानदारी के साथ निबाहे ।

(भगवान् ने मनुष्य के शरीर में बोलने, सोचने, करने आदि की ऐसी विशेषताएं उत्पन्न की हैं जो अन्य जीवों के शरीर में नहीं हैं । भगवान् की दी हुई इन विशेषताओं के बल-बूते पर ही वह इतने सुख साधन जुटा सकने में समर्थ हुआ है, यदि वे विशेषताएं प्राप्त न हुई होतीं तो मनुष्य को भी अन्य जीवों की तरह घटिया स्तर का अभावग्रस्त जीवनयापन करने के लिये विवश होना पड़ता । हमें ईश्वर प्रदत्त उस महान् प्रतिदान के उद्देश्य को समझना चाहिए जो उसने सृष्टि की ८४ लाख योनियों में से किसी को भी न देकर केवल मनुष्य को ही प्रदान किया है । यह विशेष उत्तराधिकार एवं उत्तरदायित्व ठीक वैसा ही है जैसे कोई सरकार अपने बड़े अफसरों या मन्त्रियों को विशेष अधिकार प्रदान करती है । उन अफसरों को ध्यान रहता है कि जो कुछ हमें मिला वह हमारे निज के लिये नहीं वरन् जनता की सुरक्षा एवं प्रगति के प्रयोजन से प्रयुक्त करने के लिये है । यदि यह प्रयोजन पूरा न करके कोई अफसर उस प्राप्त अधिकार का लाभ स्वयं ही लेने लगे तो उसे अपराधी माना जायगा और भर्त्सनापूर्वक कठोर दण्ड दिया जायगा ।)

(मनुष्य को सामान्य जीवों की अपेक्षा जो कुछ भी अधिक प्राप्त हुआ है वह केवल इसलिए है कि उसके द्वारा ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति करते रहा जाय । मनुष्य एक प्रकार से ईश्वर का प्रतिनिधि है । उसके अवतरण का उद्देश्य वही है जो ईश्वर के स्वयं के अवतरण का प्रयोजन होता है । ईश्वर को करुणानिधान, दीनबन्धु, क्षमासिन्धु, दाता, दानी, पवित्र, निर्विकार, नियामक, निष्पक्ष, न्यायकारी आदि गुणों का भाण्डागार माना जाता है । अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वह इतनी बड़ी सृष्टि का निर्माता, नियामक एवं निर्णायक बना हुआ है । भगवान् के बड़प्पन में उसकी यह विशेषताएं ही आधारभूत हैं । संसार की सुख

शान्ति, सुन्दरता, समृद्धि एवं प्रगति भी इन्हीं गुणों पर आधारित है। मनुष्य को उपलब्ध हुई विभूतियाँ इन्हीं ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में होनी चाहिये, जो व्यक्ति ईश्वर की भाँति ही उसकी सृष्टि को सुखी एवं सुन्दर बनाने में अपने अस्तित्व को सौंपते रहते हैं वे ही मनुष्य जीवन की महत्ता एवं विशेषता को समझते हैं और उन्हीं का जीवन सार्थक बनता है।

गीता में भगवान् ने अर्जुन को—अर्जुन के माध्यम से मनुष्य मात्र को एवं समस्त समाज को उद्बोधन कराते हुए आदेश दिया है कि उनका जीवन लक्ष्य एवं उद्देश्य परमार्थ होना चाहिए। शरीर यात्रा के लिये निर्वाह की भी आवश्यक व्यवस्था बनाये रहें, पर वह साधन मात्र होना चाहिये। साध्य नहीं। निर्वाह सामग्री जब लक्ष्य बन जाती है तब मनुष्य पथ-भ्रष्ट होकर नर-पशु बन जाता है और उसकी गतिविधियाँ हेय एवं निकृष्ट स्तर पर जा पहुँचती है। विवेकशील व्यक्ति वह है जो जीवन के मर्म को समझ कर अपनी गतिविधियों में परमार्थ का प्रधान रूप से समन्वय कर लेता है।

गीता में इसी बात को कई जगह कई ढंग से कहा गया है।
यथा—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(अध्याय १८ श्लोक ५)

यज्ञ, दान, तप, रूप, कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं वह करने योग्य ही हैं। यज्ञ दान और तप निस्सन्देह बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥

यज्ञ के लिए किये गये कर्म के अतिरिक्त इस संसार में और सब कर्म (स्वार्थ-कर्म) बन्धनकारक हैं । इसलिये हे अर्जुन ! स्वार्थपरता छोड़ कर परमार्थ कर्म कर ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

प्रजापति ने सृष्टि के आदि में यज्ञ भावना सहित मनुष्यों को उत्पन्न किया और उन्हें निर्देश किया कि तुम यज्ञ करो, इसी से तुम्हारी आवश्यकताएं पूर्ण होंगी ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

इस यज्ञ में तुम लोग देवताओं का पोषण करो । फलस्वरूप वे देव तुम्हारी उन्नति में सहायता करेंगे, इस प्रकार तुम दोनों एक दूसरे की सहायता करते हुए परम श्रेय को प्राप्त करो ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

यज्ञ द्वारा अभिवर्द्धित परिपोषित देवतत्व तुम्हें आवश्यक सुख साधन स्वतः ही प्रदान करेंगे । पर यदि तुम यज्ञ से विमुख हो गये और स्वार्थी ही बने रहे तो निश्चय ही चोर कहलाओगे ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुङ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञ में बचा हुआ वैभव भोगने वाला सत्पुरुष पापों से छूट जाता है पर जो अपने शरीर पोषण की चिन्ता में डूबा हुआ उसी के लिए सब कुछ करता धरता है वह पापी मानो पाप ही खाता है ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, और वह प्राणप्रद वर्षा यज्ञ से होती है। यज्ञ सत्कर्मों से उत्पन्न होता है। अर्थात् सत्कर्मों का ही ही दूसरा नाम यज्ञ है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

परमात्मा से सद्ज्ञान उत्पन्न होता है। सद्ज्ञान से सत्कर्म उत्पन्न होते हैं। इसलिये यज्ञ रूप सत्कर्मों में परमेश्वर को ही प्रतिष्ठित मानना चाहिये।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवतिः ॥

यज्ञ में जीवन-विकास और जीवन-विकास का यज्ञ कार्यों में उपयोग इस प्रवर्तित सृष्टि-चक्र के अनुसार जो नहीं बरतता और इन्द्रिय सुखों में लगा हुआ है वह व्यक्ति पाप पूर्ण जीवन व्यर्थ ही जीता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

रस परमात्मा का इस संसार के रचने और अनेक कार्य करने में कोई लाभ, स्वार्थ या प्रयोजन नहीं पर वह प्राणियों का कल्याण इस लिए करता है कि वे भी वैसा ही करते रहें।

यज्ञशिष्टामृतभुमो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥



यज्ञ से बचे हुए अमृत को खाने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ रहित पुरुष का तो यह लोक भी नहीं है, तब हे अर्जुन ! दूसरा तो कहाँ होगा।

उपरोक्त श्लोकों में गीताकार ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है कि मानव-जीवन का उद्देश्य यज्ञमय भावनाओं के साथ अपनी गति-विधियों का निर्माण करना है। इसी मार्ग का अवलम्बन करके प्रगति, समृद्धि एवं शान्ति के पथ पर अग्रसर हो सकना सम्भव है। मानव-जाति का अब तक का इतिहास यही बताता है कि उसकी प्रगति एक दूसरे के लिये सहयोग, प्रेम एवं त्याग की भावना के प्रदीप्त रहने के कारण ही हो सकती है। यदि कोई किसी के लिये कुछ त्याग न करता, सब अपनी ही आपा-धापी में लगे रहते तो हर एक को अपना कुँआ खोदकर आप पानी पीना पड़ता और इस प्रकार सभी घाटे में रहते।

पारिवारिक प्रगति को ही लीजिए। माता-पिता के त्याग के फलस्वरूप ही बच्चों की शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक प्रगति होती है। यदि अभिभावक बालकों के लिये कष्ट न सहे, उनकी सुख-सुविधा के साधन न जुटावे तो बेचारों को पौष्टिक भोजन, मँहगी शिक्षा, बीमारी में चिकित्सा विवाह-शादी की व्यवस्था, उचित आजीविका आदि सुविधाएँ कैसे मिलें? छोटा बालक तो सर्वथा असहाय होता है, बिना अभिभावकों की सहायता के जीवित तक नहीं रह सकता। उसका विकास सर्वथा माता-पिता की उदारता पर अवलम्बित होता है। मनुष्य का निर्माण ही इस ढङ्ग से हुआ है कि उसके जीवन का विकास दूसरों की उदारता एवं सहायता पर ही निर्भर है। यह एक शृङ्खला है जिसे चालू ही रखा जाना चाहिये। महिलाओं के गृहस्थ संचालन में, शिशुओं के पोषण में पति एवं परिवार की आवश्यकता होती है। पशुओं की भाँति मानव-नारी अकेले अपने बलबूते, बिना किसी की सहायता के, अपने बच्चों को ठीक रख नहीं पाल सकती। इसी प्रकार वृद्धावस्था में, रुग्णावस्था में

दूसरों की सहायता के बिना मनुष्य को कितनी कठिनाई उठानी पड़ सकती है, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं ।

मनुष्य की छोटी-छोटी आवश्यक एवं उपयोगी वस्तुएँ तब बनती एवं मिलती हैं जब उसमें लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का श्रम एवं मस्तिष्क लगा होता है । एक छोटी-सी दियासलाई को ही लीजिए उसके बनाने में कितने मनुष्यों का योगदान रहा है उसकी तर्निक कल्पना तो कीजिये । जिस डिब्बी में दियासलाई रखी है उस डिब्बी को बनाने, लकड़ी, कागज, स्याही, गन्धक, पोटास, फास्फारिस, सरेस आदि वस्तुएँ लगी हैं । इनमें से प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ लगी हुई हैं, उन फैक्टरियों में जो मशीनें लगी हैं उन्हें बनाने के लिये और फैक्टरियाँ लगी होगी । उनके लिये लोहा खोदने में, कितने लोगों का श्रम लगा होगा, फिर उन खोदने वालों के लिए औजार बनाने में कितनों को काम करना पड़ा होगा । फिर उन वस्तुओं के उत्पादन होने से लेकर हमारे हाथ में आने तक कितनों बाहनों पर चढ़ना-उतरना पड़ा होगा । उन बाहनों के निर्माण एवं संचालन में कितने लोग लगे होंगे । पेड़ उगाने से लेकर उसे काटने और फैक्टरी तक पहुँचाने में और वहाँ दियासलाई बनकर हम तक आने में अगणित व्यक्तियों के श्रम एवं ज्ञान की आवश्यकता पड़ी होगी तब कहीं वह दियासलाई हमारे उपयोग में आने की स्थिति में पहुँची होगी । इसी प्रकार भोजन, वस्त्र, पुस्तक, निवास, सवारी, चिट्ठी-पत्री, आजीविका, मनोरंजन आदि दैनिक जीवन के साधारण कामों में अनेकों व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा होती है और फिर वे व्यक्ति भी अनेकों अन्य व्यक्तियों की सहायता से इस योग्य बन पाते हैं कि हमारे लिये सहायक सिद्ध हो सकें । इस तथ्य पर गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जाति की रचना ही इस प्रकार हुई है कि उसका अस्तित्व परस्पर उदार सहयोग पर ही निर्भर रह सकता है ।

यह सहयोग परस्पर बन्द हो जाय तो हर व्यक्ति आदिम युग के बन्दरों की तरह रहने के लिए विवश होना पड़े। आगरा जिले में भेड़ियों की माँद में एक मनुष्य का बच्चा शिकारियों ने पकड़ा था। भेड़िये इसे उठा ले गये थे पर उनने उसे मारने की बजाय पाल लिया। यह बालक बिल्कुल भेड़ियों की तरह बोलता, खाता, चलता और रहता था। मनुष्यों में पाई जाने वाली एक भी आदत उसमें न थी। यह बालक अभी भी लखनऊ के अस्पताल में है। बहुत दिन के प्रयत्न के बाद कुछ थोड़ी-सी आदतें मनुष्यों जैसी उसे सिखाई जा सकी हैं। इससे प्रकट है कि मानव बुद्धिमान् प्रगतिशील गुणवान् तो हो सकता है पर यह सब सम्भव तभी है जब उसे दूसरों का उदार सहयोग मिले। जब तक यह सहयोग शृङ्खला ठीक तरह चलती रहती है तब तक व्यक्ति एवं समाज का विकास क्रम एवं स्नेह सद्भाव ठीक तरह बना रहता है और प्रगति का रथ ठीक प्रकार आगे बढ़ता रहता है, पर इससे व्यवधान उपस्थित होता है तो सारी शृङ्खला अस्त व्यस्त हो जाती है। न व्यक्ति की प्रगति होती है और न समाज में शान्ति स्थिर रहती है।

समस्त सृष्टि चक्र ही परमार्थ के उपर चल रहा है बीज जब अपने आपको मिट्टी में मिला देता है तभी विशाल वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है। माता अपने शरीर का रस रक्त, मज्जा आदि पदार्थ सन्तान के निर्माण में लगाती है कष्ट सहती है तभी बालक का जन्म होता है। वृक्ष मधुर फलों से युक्त होकर भी उनका स्वयं सेवन नहीं करके वरन् दूसरों के लिये त्याग कर देते हैं। नदी अपनी लम्बी यात्रा में अनेकों की प्यास बुझाती, धरती की छाती को शीतल करती, वृक्ष पेड़, पौधे जीवों को नव-जीवन देने के लिए बहती है। फूल ओर मोती माला की शोभा बढ़ने के लिये अपने आपको बिधवाते हैं।

संग्रही और स्वार्थी जीवन सदा क्षुब्ध ही देखा जाता है। तृष्णाएँ कभी किसी की शान्त नहीं होती। एक की पूर्ति होते ही दूसरी उठ

खड़ी होती हैं। इनकी पूर्ति में और भी दूने मनोयोग के साथ लगना पड़ता है। यह लगन इतनी प्रबल हो जाती है कि सारा समय उसी की पूर्ति में लगाना पड़ता है। जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ करने के लिए न तो समय बचता है और न अभिरुचि। फिर जो वस्तुएँ संग्रह करली गई हैं ये एक प्रकार का नशामद एवं अहङ्कार पैदा करता है जिनसे मनुष्य के स्वभाव में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारी व्यक्ति अपने दर्प को बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के ठाठ-बाट बनाते हैं ताकि दूसरे लोग उन्हें श्रीमन्त समझें। अहङ्कारी लोग दूसरों को अकारण सताते हैं ताकि दूसरे लोग उन्हें बड़ा बनवान या आतंकवादी समझें। अपनी मिथ्या प्रशंसा करते रहने की उन्हें आदत पड़ जाती है। नाना प्रकार के व्यसन घेरे लेते हैं और विषय विलासों को आसानी से प्राप्त कर लेने की सुविधा के कारण वे पतित जीवन बिताने लगते हैं।

(लालची और स्वार्थी व्यक्ति कुछ वस्तुएँ अवश्य जुटा लेते हैं देखने में वे अमीर जैसे जरूर लगते हैं पर भीतर ही भीतर वे खोखले बन जाते हैं। इन्हें इतने संघर्षों का सामना करना पड़ता है कि आंतरिक दृष्टि से ये एक प्रकार टूट ही जाते हैं। सम्पत्ति का संग्रह देखकर अनेक लोग उस पर दाव घात लगाते हैं। उसे उचित या अनुचित रीति से अपहरण करने की चेष्टा करते हैं। उसे रोकने के लिये जो संघर्ष करना पड़ता है उसमें ईर्ष्या, द्वेष, विरोध का सामना करना पड़ता है। कई बार तो इसी प्रश्न को लेकर ऐसे कठिन संघर्ष आरम्भ हो जाते हैं जिनमें मनुष्य को अपना सब कुछ होम देना पड़ता है। लालची व्यक्ति भले ही अपने संग्रह की सफलता के कारण कुछ थोड़ी-सी शारीरिक सुविधायें प्राप्त करले, भले ही मिथ्या अहङ्कार की पूर्ति करले पर वस्तुतः वह बहुत घाटे में रहता है। जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए समय और अभिरुचि शेष न रहने के कारण उसे मानव-जीवन को निरर्थक ही गँवा कर खाली

हाथ चला जाना पड़ता है। यह सुर दुर्लभ मनुष्य शरीर ऐसे ही खेल-खिलवाड़ में व्यतीत हो जाय, इससे बढ़ कर दुर्भाग्य की ओर कोई बात हो नहीं सकती।)

(गीता ने यज्ञमय जीवन बिताने की प्रेरणा देकर मनुष्य मात्र को यह सन्देश दिया है कि वह लालची और स्वार्थी न बने, वासनाओं की आग में न जले और तृष्णाओं की मृग मरीचिका में भटकते-भटकते आत्महत्या पर उतारू न हो। इस जंजाल में लाभ का बहकावा तो है पर वस्तुतः हानि ही हानि लगती है। बुद्धिमत्ता और दूर-दर्शिता इस बात में है कि जीवन क्रम में पवित्रता और परमार्थ का समावेश करते हुए सद्गुणों की, सत्कर्मों की, सद्भावनाओं की, सत्प्रवृत्तियों की दैवी सम्पदा संग्रह की जाय और उससे अपना यह लोक एवं परलोक सुख-शान्तिमय बनाया जाय।)

(यज्ञ का अर्थ है त्याग। अग्निहोत्र की यज्ञ इसीलिये कहते हैं कि उसमें त्याग करना पड़ता है। अपनी श्रम उपजित बहुमूल्य वस्तुओं को लोक-कल्याण के लिये होम करना पड़ता है। यज्ञमय जीवन उसे कहते हैं जिसमें मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं को गौण मानते हुए अपने परिवार समाज के लिये अधिकाधिक सुख-सुविधाएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। अपने लिये संयम एवं त्याग की दूमरों के लिये उदारता एवं सेवा की भावना अपनाकर जो जीवन-क्रम अपनाया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं। वे सब सत्कर्म यज्ञ कहे जा सकते हैं जिनमें लोकहित की भावना से प्रेरित होकर किसी व्यक्ति ने अपने उचित अधिकारों को भी दूसरों की सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए समर्पित कर दिया हो। इस तरह गतिविधियाँ अपनाने में जब लोग परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं, एक दूसरे से अधिक आदर्शवादी, सदाचारी और परमार्थी बनने की होड़ लगाते हैं तो उसका परिणाम व्यक्ति और समाज की समृद्धि के रूप में सामने आता है। सतयुग ऐसी ही परिस्थितियों को कहते हैं। मानवीय शक्तियों



का रचनात्मक दिशा-में उपयोग इसी प्रकार सम्भव होता है और प्रगति की आधार शिला ऐसे ही वातावरण में रखी जाती है ।

इसके विपरीत जब एक दूसरे से अधिक स्वार्थी बनते हैं, परस्पर ईर्ष्या, द्वेष की आग में जलते हुए एक दूसरे को नीचा दिखाने एवं प्रति-शोध लेने में लगे रहते हैं तो मानवीय शक्तियों का दुरुपयोग होता रहता है । इसका प्रतिफल विघटन एवं विनाशात्मक ही होता है । व्यक्ति भी घाटे में रहता है और समाज भी । ऐसी आपा-धापी और जलन-कुढ़न की, द्वेष दुर्भाव की परिस्थितियों में दुःख दारिद्र्य ही पनपते हैं और कलियुग जैसी नारकीय परिस्थितियाँ सामने आ खड़ी होती हैं । इसमें हानि, अधःपतन एवं सर्वनाश की सम्भावनाएँ ही बढ़ती चलती हैं । स्वार्थमय प्रवृत्तियों के बढ़ने से टकराव अवश्यभावी है । स्वार्थों की पूर्ति तभी सम्भव है जब दूसरों का शोषण किया जाय । जिसका शोषण किया जायगा वह अप्रसन्न होगा ही और यह अप्रसन्नता किसी न किसी प्रकार टकराव उत्पन्न करेगी ही और इस टकराव का प्रतिफल अवांछनीय कष्टकर परिस्थितियों में ही उत्पन्न होता है । इससे कष्ट और अभाव शोक और सन्ताप, दुःख और दरिद्र ही बढ़ता है । यह मनुष्य की विवेक-शीतला पर निर्भर है कि वह स्वार्थी जीवन का तनिक-सा लोभ और लाभ देखकर अपना एवं दूसरों का भविष्य अन्धकारमय बनावे अथवा त्यागमय प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर अपने आत्म-सन्तोष एवं दूसरों के कल्याण का पथ प्रशस्त करें । मार्ग दोनों ही सामने है, अपनी-अपनी श्रेष्ठता एवं निकृष्टता के आधार पर दोनों में से किसी को भी चुन सकते हैं ।

गीता का स्पष्ट परामर्श यह है कि प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति यज्ञीय जीवन जीने की गतिविधि अपनावे क्योंकि उससे उसे आत्म सन्तोष तो मिलेगा ही जीवन-लक्ष्य की पूर्ति का अवसर तो रहेगा ही, साथ ही अपने भौतिक विकास की सम्भानाएँ भी स्वार्थी जीवन की अपेक्षा कहीं



अधिक बढ़ी-चढ़ी रहेंगी । उदार, सच्चरित्र एवं आदर्शवादी व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से तत्काल कोई घाटा भले ही रह जाय पर अन्ततः वह स्वार्थियों और दुर्जनों की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ रहता है । सज्जन के प्रति सभी का सद्भाव रहता है । सद्भाव से प्रेरित होकर वे उसका सहयोग करते हैं । दूसरों की श्रद्धा एवं सद्भावना पाकर प्रगति की संभावनाएँ अनेक गुनी बढ़ जाती हैं । बेईमान और स्वार्थी लोग आरम्भ में थोड़े दिन लाभ कमाते हैं, पर जब उनका भंडाफोड़ हो जाता है तो लोग घृणा करने लगते हैं और असहयोग का रूख अपनाते हैं ऐसी दशा में उनका लाभ घाटे के रूप में बदल जाता है । उसके विपरीत जिनके प्रति जन-साधारण के मन में श्रद्धा होती है, उन्हें सहयोग देते हैं और उस सहयोग के बल पर कोई भी व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे बढ़ता चला जाता है ।)

(यज्ञीय जीवन जीने से अन्तरिक सद्गुण दिन-दिन बढ़ते हैं । इन गुणों के आधार पर ही लोग ऊँचे उठे और आगे बढ़े हैं । संसार का प्रत्येक भहापुरुष जिन सत्कर्मों के कारण विख्यात हुआ है उनकी सफलता जन सहयोग पर भी निर्भर रहती है और यह स्पष्ट है कि चिरस्थायी जन सहयोग केवल सद्गुणी सज्जनों को ही मिलता है सज्जनों को प्राप्त होने वाला सम्मान अपना मूल्य माँगता है और वह है यज्ञमय जीवन । जो इस मूल्य को चुका सके उनसे आत्म-सन्तोष पाया और आत्म-कल्याण का लाभ उठाया, किन्तु जो इसमें हिच-किचाते रहे, अपने दोष, दुर्गुणों और स्वार्थ, संकीर्णताओं को छोड़ न सके उन्हें लोक का मूल्य मिला और न परलोक का आनन्द । इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भगवान् ने अर्जुन को और अर्जुन के बहाने जन-साधारण को कहा कि उनका स्पष्ट निर्देश यही है कि हर व्यक्ति यज्ञीय जीवन जिए और सच्ची, सुख-शान्ति का प्रगति एवम् समृद्धि का रसास्वादन करे ।)



धर्म—रक्षा के लिए प्राण-दान

दधीचि का अस्थि दान

शक्तिशाली वृत्रासुर किसी भी तरह नहीं मारा जा सका, उसके त्रास से सभी देवता भयभीत थे। आखिर ब्रह्माजी ने बताया कि किसी तपस्वी की अस्थियों के वज्र से ही वृत्रासुर मारा जा सकता है। उस समय महर्षि दधीचि तपस्वियों में प्रसिद्ध थे। इन्द्र अन्य देवताओं के साथ दधीचि के आश्रम पर गये और साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए विनम्रता के साथ अपना मन्तव्य उन्हें कह सुनाया। इन्द्र ने यद्यपि महर्षि की तपस्या से द्वेष करके पहले उन्हें सताया था लेकिन महामना दधीचि को उसका ख्याल तक भी न था। उन्होंने कहा कि “परमार्थ के लिए, देवत्व की रक्षा के लिए मेरा यह नश्वर शरीर काम आता है तो इसे सहर्ष ले जाओ।” और महर्षि ने योगबल से अपना शरीर छोड़ दिया। उससे वज्र बनाया गया और महापराक्रमी दुर्दान्त राक्षस वृत्रासुर को मारा गया। सन्त, महात्मा, ऋषि-मुनियों का जीवन दूसरों के हितार्थ ही होता है।

परहित के लिए आत्मत्याग

राजकुमार जीमूत वाहन समुद्र तट पर सैर कर रहे थे। रास्ते में एक बहुत बड़ा हड्डियों का ढेर मिला। पूछने पर मित्रावासु ने बताया, राजकुमार ! यहाँ गरुड़ प्रतिदिन एक नाग का भक्षण करता है। निर्दोष नागों को सताने का समाचार सुनकर राजकुमार बड़े दुःखी हुए और उन्हें बचाने का प्रण कर लिया। उस दिन नाग शंखचूड़ की बारी थी। राजकुमार नाग के आने के पहले ही शंखचूड़ का रूप बना कर बध स्थल पर जा उपस्थित हुए। गरुड़ ने चोंच से राजकुमार का शरीर घायल कर दिया। इसी बीच शंखचूड़ वहाँ जा पहुँचा। यह दृश्य देखकर दूर से ही चिल्लाया ऐ गरुड़ ! तुमने यह क्या किया निर्दोष राजकुमार की हत्या

कर दी। गरुड़ इस अनुपम त्याग से दुखित हो गये, अपने आपको धिक्कारने लगे और उस दिन से नागों को सताना बन्द कर दिया। दूसरों के दुःख निवारणार्थ अपने आपको उत्सर्ग करने वाले मर कर भी अमर हो जाते हैं। वस्तुतः ऐसे ही लोग मानवता के प्रकाश स्तम्भ हैं, संवत्स मनुष्य को सुख-शान्ति की छाँह देने वाले होते हैं।

पुरोहित का कर्त्तव्य पालन

विजय दशमी के दिन महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह दोनों शिकार के लिये जंगल गये। एक सुअर दिखाई दिया। दोनों ने साथ-साथ लक्ष्य पर निशाना चलाया। दोनों तीर शूकर को लगे। अब इस पर झगड़ा होगया कि इसे किसने मारा है। विवाद इतना बढ़ा कि दोनों भाइयों ने तलवारें निकाल लीं। राज पुरोहित ने देखा कि राजवंश का अन्त होना चाहता है। उनकी सदाशयता इसे स्वीकार न कर सकी। दोनों भाइयों के बीच में आकर वे खड़े हो गये। तलवारें खुल चुकी थीं दोनों का ही प्रहार पुरोहित पर हुआ वे टुकड़े-टुकड़े होकर भूमि पर गिर पड़े। इस दृश्य को देखकर दोनों भाई सकपका गये और राजवंश मिटने से बच गया।

ब्राह्मण का आदर्श मानवता को विसङ्गठित होने से बचाने में, समाज में फैले अविवेकपूर्ण कृत्यों को रोकने के लिये अपने आपको मिटा देना ही है। जो समाज में त्याग, परमार्थ, धर्म आदि के आदर्शों की ज्योति को प्रज्ज्वालित रखता है अपने जीवन का स्नेह जला कर अपने को मिटा देता है वही सच्चा ब्राह्मण है, सच्चा पुरोहित है।

हाड़ी रानी का अपूर्व त्याग

सरदार चूड़ावत का विवाह हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे। पत्नी जैसी रूपवती थी वैसी गुणवती भी। उन दिनों औरंगजेब के अत्याचारों का प्रतिरोध करने के लिये राजपूतों को युद्ध के लिये आए दिन तैयार रहना पड़ता था। ऐसी ही एक चुनौती फिर सामने आई।

चूड़ावत को युद्ध का मोर्चा सम्हालने के लिए जाना पड़ा। एक ओर कर्त्तव्य की पुकार थी तो दूसरी ओर नव-विवाहिता पत्नी का आकर्षण। सरदार का मन दोनों ओर झोलने लगा युद्ध में जाय या नहीं, पत्नी को छोड़े या नहीं और इस तरह द्विविधा में पड़े सरदार चूड़ावत कोई निर्णय न कर पाये। उन्हें चिन्तातुर देखकर रानी ने पूछा तो सरदार ने अपनी अन्तरव्यथा कह सुनाई। हाड़ी रानी गम्भीर हो गई। उसने सोचा “यदि मेरे आकर्षण से पति अपने कर्त्तव्यपथ से विचलित होते हैं तो मेरा न रहना ही देश और धर्म के लिए हितकर सिद्ध होगा। मुझे अपना बलदान करके पति की द्विविधा मिटा देनी चाहिये जिससे वे एकाग्रचित्त अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें।”

रानी ने बड़े वेग से एक हाथ में तलवार और दूसरे में अपने बाल पकड़ कर वार किया और उसका मुण्ड सरदार की गोद में उछलने लगा। यह सब बिजली की तरह ऐसे हुआ कि सरदार सम्हल भी न पाये। कर्त्तव्य पथ से विचलित न होने देने के लिये जो स्त्रियाँ आत्मबल से भरी होती हैं उनके पतियों द्वारा कायरता अपनाना सम्भव नहीं होता, चूड़ावत की द्विविधा अब मिट चुकी थी। वे घोड़े पर सवार हो कर युद्ध-क्षेत्र की ओर बढ़े।

श्रद्धा और त्याग

सिखों के नौवें गुरु श्री तेगबहादुर को औरङ्गजेब ने दिल्ली बुला कर मरवा डाला था और उनकी लाश को नगर के एक चौराहे पर डलवा कर घोषणा कर दी कि जो कोई इसका अन्तिम संस्कार करने का प्रयत्न करेगा उसे भी प्राणदण्ड की सजा दी जायेगी। जब यह खबर गुरु तेगबहादुर के पुत्र गुरु गोविन्दसिंह जी के पास पहुँची तो वे उनकी लाश को प्राप्त करने दिल्ली की तरफ चले। उस समय उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। जब वे दिल्ली के निकट पहुँचे तो उनको एक गरीब गाड़ी वाला सिख मिला। उसने गुरुजी से कहा कि आपका दिल्ली

जाना षडे भय की बात है, और झुजेब कभी आपको नहीं छोड़ेगा। इसलिये आप इसी जगह गुप्त रूप से ठहरै रहें, हम आपके पिता के शव को यहीं ला देंगे। यह कहकर वह अपने बेटे को साथ लेकर दिल्ली पहुंचा। उस समय तक गुरु तेगबहादुर का शव काफी गल सड़ गया था और उसमें से बड़ी बदबू आने लगी थी। इससे वहाँ पहरा देने वाले सिपाही भी दूर हट कर बैठने लगे थे। वे गाड़ी वाले बाप बेटे जब वहाँ पहुँचे तो बाप ने बेटे से कहा—गुरुजी के शव को हटाने से पहले हम दोनों में से एक को प्राण त्याग करना पड़ेगा क्योंकि यदि पहरा देने वाले सिपाहियों की निगाह पड़ने पर उन्हें शव दिखलाई न देगा तो वे अवश्य ढूँढ़ने लगेंगे। तुम अभी जबान, ताकतवर हो और इस शव को उठा कर ले जा सकते हो। इसलिये मेरा मरना ही उचित है। जब तक बेटा कोई उत्तर दे बुढ़े ने अपनी कृपाण छाती में मार ली और वहीं गिर गया। बेटा ने गुरुजी के शव को हटा कर उनके स्थान पर अपने बाप के शव को लिटा कर ढक दिया। इसके बाद उसने गुरुजी के शव को कन्धे पर डाल लिया और उसे निर्विघ्न गुरु गोविन्दसिंह के पास पहुंचा दिया।

देशद्रोही पति का अन्त

देवगिरी के राजा रामदेव पर अलाउद्दीन ने चढ़ाई की लेकिन बादशाह की करारी हार हुई। अलाउद्दीन वापिस लौट रहा था कि उसे एक देशद्रोही मिल गया। रामदेव का सरदार कृष्णराव बादशाह से जा मिला और सारा भेद बता दिया। अलाउद्दीन ने भी उसे राजा बना देने का वचन दिया। बादशाह ने पुनः देवगिरी पर चढ़ाई की। रामदेव के सैनिक युद्ध की तैयारी में लग रहे थे किन्तु कृष्णराव जासूसी में लगा हुआ था।

वीरमती कृष्णराव की पत्नी थी, उसको यह सारा वृत्तान्त जब मालूम हुआ तो वह बड़ी व्यथित हुई और उसने देशद्रोही पति की छाती में छुरा भोंक दिया। मरते हुए कृष्णराव ने कहा—“मैं देशद्रोही

था किन्तु तुम्हारा पति भी था ।" वीरमती ने बड़े सन्तोष के साथ कहा एक देशद्रोही की पत्नी कहलाने के बजाय आजीवन विधवा रहना अधिक सौभाग्यशाली होगा । फिर भी वीरमती ने अपना भी अन्त कर लिया और वह पति की लाश के साथ जल कर सती हो गई ।

— . ० : —

परमार्थ में मानव-जीवन की सार्थकता

देवता बड़े या असुर ?

एक बार देवता और असुरों में इस बात को लेकर झगड़ा हो गया कि दोनों में से कौन बड़ा है ? निर्णय के लिये दोनों पक्ष ब्रह्माजी के पास पहुंचे । ब्रह्माजी ने इसके लिए एक परीक्षा की कसौटी सामने रख दी । उन्होंने दोनों को दो पंक्तियों में बिठाया और भोजन के लिए स्वादिष्ट पदार्थ परोसवा दिए । जब खाने का समय आया तो प्रजापति ने कुछ ऐसा विचार किया कि उन सभी के हाथ कोहनियों पर से मुड़ना बन्द हो गए । भोजन करने में दोनों के लिए ही कठिनाई थी । दैत्यों को अपना ही स्वार्थ सूझता था इसलिए वे मुठ्ठी में भरकर ऊपर ले जाते और वहां से मुँह में छोड़ते । इस तरह बहुत कम ही मुँह में पहुंचा, शेष नाक, आँख आदि में गिरा और इधर-उधर फैला, अन्त में उन्हें भूखा रहना पड़ा । पर देवताओं ने उदारता और परस्पर सह-योग की नीति अपनाकर एक दूसरे को मुख में घास देने की विधि अपनाई । एक ने अपने हाथ से दूसरे को भोजन कराया । फलस्वरूप सभी का पेट भर गया । ब्रह्माजी ने कहा—स्वार्थ की संकीर्णताओं में बँधा हुआ मनुष्य ओछा एवं छोटा कहलाता है और घाटे में भी रहता है । इसके विपरीत जो उदार एवं सेवाभावी होते हैं वे लाभ में भी रहते हैं और श्रेष्ठ भी कहलाते हैं ।

युधिष्ठिर द्वारा यातनाग्रस्त लोगों का छुटकारा

सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा के सम्बन्ध में महाभारत के समय तनिक-सी झूठ बोली थी जिसके कारण उन्हें कुछ समय के लिए नरक में जाना पड़ा। जब उन्होंने चारों ओर यातना पाते हुए जीवों को देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपने साथ चल रहे दूत से पूछा तो बताया गया 'ये जीव अपने पापों का फल भुगत रहे हैं।' युधिष्ठिर ने उनके उद्धार का उपाय पूछा तो बताया गया 'यदि वे अपने संपूर्ण पुण्यों का बान कर दें तो सब नर्क से छूट जायें। धर्म पुत्र इस पर राजी हो गये और यातना भोगने वाले सभी जीव छोड़ दिए गये। अकेले युधिष्ठिर ही वहाँ बच रहे। उनकी इस उदारता और पर दुःख कातरता पर इन्द्र ने स्वयं उनका अभिवादन किया और स्वर्ग को ले गये।

दूसरों के हित कल्याण के लिये मोक्ष स्वर्ग को ठुकरा देने वाले महामानव ही इस धरती पर धर्म के अवतार होते हैं। दूसरों को क्लेश दुःखों में कष्ट पाते हुए देखकर भी जो अपने लिए मोक्ष, स्वर्ग आदि की कामना से ग्रस्त होकर उनकी प्राप्ति के लिए लगे रहते हैं वे मानवीय आदर्शों से बहुत पिछड़े होते हैं।

लोक सेवक की तो भगवान् भी भक्ति करते हैं

एक दिन महर्षि नारद मृत्युलोक में भ्रमण करने आये। वे एक नगर के पास से गुजर रहे थे कि परोपकारी सुश्रुत ने उन्हें पहचान लिया और उन्हें प्रणाम करते हुए पूछा "देवर्षि यह पोथी-पत्रा लेकर आज कैसे पधारे?" नारद बोले "राजन् ! यह वह बही है जिसमें भगवान् की भक्ति करने वालों के नाम अङ्कित हैं।" सुश्रुत ने नारदजी से बही लेकर देखी तो उसमें कहीं भी उसका नाम नहीं था। इससे वे दुःखी न हुए और अपने जन-सेवा के कार्यों में लग गये। कुछ दिन बाद नारद जी अपनी वीणा पर हरिगुणगान गाते हुए उधर निकले। उनके हाथ में फिर एक छोटी पुस्तक थी। सुश्रुत ने पूछा इसमें क्या लिखा है ?

नारदजी ने कहा—“इनमें उन लोगों के नाम लिखे हैं जिनकी भक्ति भगवान् की स्वयं करनी पड़ती है।” नारदजी के हाथ से बही लेकर सुश्रुत ने देखी तो उनका नाम सबसे ऊपर लिखा हुआ था।” नारदजी के चले जाने पर सुश्रुत फिर से नित्य की तरह जन-सेवा के कार्यों में लग गया। जो परहित में, समाज की सेवा में, जनता जनार्दन के लिये रात-दिन अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान अपमान की चिन्ता किए बिना लगे रहते हैं वे सचमुच भगवान् के प्रियपात्रों में से होते हैं। पर जो व्यक्ति भगवान् की सेवा-पूजा पाठ में दिन-रात लगे रहकर भी जनता जनार्दन की सेवा नहीं करते प्रायः सभी के दुःख-दर्द में काम नहीं आते वे भगवान् से दूर ही होते हैं।

निस्पृह त्याग की शक्ति

एक बार मद्रि देश में भयङ्कर अकाल पड़ा, हजारों लोग और पशु-पक्षी भोजन और पानी के अभाव में तड़प-तड़प कर मरने लगे। तीन देवदूत उस देश में भ्रमण करने को निकले। साथ तीनों एक पेड़ के नीचे खड़े होकर परस्पर बातचीत करने लगे और एक दूसरे से पूछने लगे कि ऐसे विकट समय में जो लोग उदारता दिखा रहे हों, उनकी चर्चा की जाय। एक देवदूत बोला—“भाई मैंने एक सेठ को सदावर्त बांटते देखा।” दूसरा बोला—“एक धनिक ने अपने जीवन निर्वाह की सामग्री रखकर शेष अभावग्रस्तों को बाँट दी।” तीसरे ने अपना समाचार सुनाया “भाई, मैंने इनसे भी अधिक त्यागी व्यक्ति देखा। उसे बड़ी कठिनाई से थोड़ा अन्न मिला। उसने उससे भोजन तैयार किया। जब वह खाने को बैठा तो उसने देखा कि उसका पड़ोसी भूख से मूर्छित हो मरने की तैयारी में था। उसने न खाने का निश्चय किया और सारा भोजन, पानी उस पड़ोसी को खिलाकर उसे मौत से बचा लिया।” यह चर्चा पासही खड़ा दुर्भिक्ष-राक्षस सुन रहा था। उसने मन-ही-मन विचार किया जहाँ ऐसे त्यागी, परोपकारी निवास करें वहाँ मैं नहीं ठहर सकता

और उसी दिन से अकाल दूर हो गया, पानी बरसा, फसलें लहलहाई, पेड़-पौधे हरे-भरे हो उठे ।

युधिष्ठिर के यज्ञ की अपूर्णता

महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ समाप्त होने पर एक अद्भुत नेवला जिसका आधा शरीर सोने का था यज्ञभूमि में लोट लगाने लगा । कुछ ही समय बाद वह रुदन करके कहने लगा कि यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ ।” पाण्डवों सहित सभी उपस्थित लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ । पूछने पर नेवला ने बताया “कुछ समय पूर्व अमुक देश में भयङ्कर अकाल पड़ा । मनुष्य भूख के मारे तड़प-तड़प कर मरने लगे । एक ब्राह्मण परिवार कई दिनों से भूखा था । एक दिन कहीं से कुछ अन्न उन्हें मिला । ब्राह्मणी ने उसकी चार रोटी बनाई । उस ब्राह्मण का यह नियम था कि भोजन से पूर्व कोई भूखा होता तो उसे भोजन कराकर स्वयं खाता उस दिन भी उसने आवाज दी कि जो हमसे अधिक भूखा हो उसका अधिकार इस भोजन पर है आये वह अपना भाग ग्रहण करे, तो एक चाण्डाल जो भूख से तड़प रहा था आ गया । ब्राह्मण ने अपने हिस्से की एक रोटी उसे सौंप दी, उससे भी तृप्त न होने पर क्रमशः पत्नी और बालक-बालिका ने भी अपने-अपने हिस्से उसे दे दिये । जब वह चाण्डाल भोजन कर चुका और उसने पानी पीकर हाथ धोये तो उससे धरती पर कुछ पानी पड़ गया । मैं उधर होकर निकला तो उस गीली जमीन पर लेट गया । मेरा आधा शरीर ही सम्पर्क में आया जिससे उतना ही स्वर्णमय बन गया । मैंने सोचा था कि शेष आधा शरीर युधिष्ठिर के यज्ञ में स्वर्णमय बन जायगा । लेकिन यहां ऐसा नहीं हुआ इसीलिये यह यज्ञ मेरे ख्याल से पूर्ण नहीं हुआ ।”

पाण्डवों सहित सभी लोगों ने यह कथा सुनी तो बड़ा आश्चर्य किया और उनका अभिमान नष्ट हुआ । पास ही खड़े श्रीकृष्ण ने समझाया “राज्यकोष से पर्याप्त धन खर्च कर राजसूय यज्ञ की पूर्णता नहीं

होती । अपने हित का भी ध्यान न रखकर परार्थ में सर्वस्व लुटा देने की निस्पृह भावना ही यज्ञीय कृत्यों की सफलता को परिचायक है ।" उस ब्राह्मण और युधिष्ठिर के यज्ञ में यही अन्तर था ।

दानवीर कर्ण की दानशीलता

एक प्रकार के अलौकिक कुण्डल और कवच कर्ण के साथ जन्म से ही आए थे । ये इतने प्रभावशाली थे कि इनके रहते हुए कोई भी कर्ण को मारने में समर्थ नहीं था । एक दिन कर्ण सो रहे थे । उन्होंने स्वप्न में एक ब्राह्मण को देखा जो कह रहा था 'कर्ण मैं तुम्हारा पिता सूर्य हूँ । आज तुमसे कोई कुण्डल और कवच माँगने आये तो उसे मत देना अन्यथा तुम्हारी अपराजेयता नष्ट हो जायगी, तुम मार दिए जाओगे ।' कर्ण की नींद खुली स्वप्न पर विचार किया । विचारों की उलझन के बाद उन्होंने तय किया कि नाशवान् जीवन के लिये मैं अपने सङ्कल्प को, दानधर्म को नहीं छोड़ूँगा और माँगने पर वे कुण्डल कवच कर्ण ने याचक साधु बेशधारी कृष्ण को दे दिए । कर्ण ने अपनी दान-वीरता पर कलङ्क नहीं आने दिया जो आज भी अजर-अमर है ।

महान ध्येय के लिए, उत्कृष्ट आदर्श के लिए विचारशील मनुष्य अपने भौतिक लाभ की भी परवाह नहीं करते । आवश्यकता पड़ने पर धर्म के लिये अपना जीवन भी बलिदान करना पड़े तो वे पीछे नहीं हटते ।

हरिश्चन्द्र का सत्य प्रेम

परीक्षा की कसौटी पर खरा उतरने पर ही मनुष्य का धर्म, सत्य, सदाचार परिपक्व माना जाता है । विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र को परीक्षा की कसौटी पर कसने का निश्चय किया । हरिश्चन्द्र ने कठिनाइयों का जीवन स्वीकार किया, राज्य छोड़ा, सुख वैभव छोड़े और एक दिन अपनी पत्नी और प्यारे पुत्र का भी साथ छूट गया । यह उनके जीवन की कठोरतम परीक्षा थी । जब हरिश्चन्द्र एक चाण्डाल के नौकर के रूप

में श्मशान घाट पर पहरा लगा रहे थे, इसी बीच तारा उनकी स्त्री साँप के काटने से मृत पुत्र को लेकर आई थी जलाने के लिए। लेकिन कर्त्तव्य-पथ के अडिग राही हरिश्चन्द्र ने अपने भावों को रोककर उसे बिना टैक्स चुकाये शव को जलाने की आज्ञा न दी। अन्ततोगत्वा रानी ने जो एक वैश्य के यहाँ दासी का काम करती थी अपनी साड़ी में से अर्द्ध वस्त्र फाड़कर टैक्स चुकाया और तब बालक का दाह संस्कार हुआ। इतनी कठिन और हृदयद्रावक परिस्थितियों के होते हुए भी हरिश्चन्द्र ने अपने कर्त्तव्य-पालन और सत्यनिष्ठा में कुछ कमी नहीं आने दी और इसका परिणाम यह है कि वे आज भी अजर-अमर हैं अपनी कीर्ति गाथा के रूप में।

अक्षय यज्ञ

एक ब्राह्मण ने चार यज्ञ किये पर अन्तिम समय उसकी अवस्था बड़ी दयनीय हो गई। वह धर्मराज के पास अपना एक यज्ञ फल बेचने चल दिया। रास्ते में एक जगह वह भोजन करने बैठा, उसी जगह कई दिन का भूखा एक सन्त पड़ा था, ब्राह्मण ने आधा भोजन उसे दे दिया। पर इससे उसकी सन्तुष्टि नहीं हुई। इस पर ब्राह्मण ने उसे सारा भोजन खिला दिया और धर्मराज के पास चल दिया। धर्मराज ने पूछा तुम्हारे चार यज्ञ और एक अक्षय यज्ञ जमा हैं, इनमें से कौन सा यज्ञफल बेचते हो? ब्राह्मण पाँचवे यज्ञ की बात सुनकर आश्चर्यचकित हुआ। जब धर्मराज ने उसे बताया कि स्वयं कष्ट सहकर दूसरों की सहायता करना यज्ञ नहीं वरन् अक्षय यज्ञ है तब ब्राह्मण ने शेष जीवन को परोपकार में लगाने का निश्चय कर लिया। वस्तुतः पिछड़े हुए, भटके हुए और दुखियों की सहायता करना, गिरे हुए को उठाना, सबसे बड़ा यज्ञकार्य है। परमार्थ और परोपकार की भावना से किए गए शुभ कार्य ही यज्ञ कहलाते हैं।





विश्वहित के लिये आत्मत्याग

उपकारी की सहायता

अपने पूर्वजों की सद्गति एवं प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्न करना युवक भागीरथ ने अपना कर्त्तव्य समझा। सूखी हुई मरु भूमि को हरी-भरी करने के लिए, अनेक प्राणियों को सुख-सुविधा इकट्ठी करने के लिए भी गङ्गा को पृथ्वी पर लाने की आवश्यकता थी। इस महान प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को ठुकरा कर भागीरथ जी कठोर तप करने लगे।

गंगा प्रसन्न हुई और धरती पर आने के लिये तैयार हो गई। स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरने समय किसी आधार की आवश्यकता थी। शङ्कर जी भागीरथ के उद्देश्य से प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी जटाओं में गंगा को धारण करने की सहायता करके भागीरथ का अभीष्ट मनोरथ पूरा कर दिया।

प्रह्लाद का दान

इन्द्र का पुण्य क्षीण हो चला तो वे चिन्तित होकर गुरु बृहस्पति के पास पहुंचे और ऐसा उपाय पूछा जिससे पुण्य क्षीण न हो। देवगुरु ने उन्हें राजर्षि प्रह्लाद के पास भेजा। यही प्रश्न इन्द्र ने राजर्षि से भी किया। प्रह्लाद ने कहा शील ही सारे वैभव का मूल है। चरित्र से वैभव नष्ट नहीं होता। इन्द्र संतुष्ट हो गये। अतिथि सत्कारवश प्रह्लाद पूछ बैठे मेरे योग्य कोई सेवा बताइये। लालची इन्द्र उनका शील ही माँग बैठे। उदारतावश राजर्षि ने अपना शील दे दिया तो उसी समय तीन और शक्तियाँ राजर्षि के शरीर से बाहर निकलीं और बोलीं हमारा नाम सत्य; धर्म और वैभव है, हम वहीं रहते हैं जहाँ शील रहता है। प्रह्लाद ने दुःख नहीं माना और फिर से शील संग्रह में लग गये।

भावनापूरण दान का महत्त्व

महाराज कुशक ने जयतीर्थ का पुनरुद्धार कार्य शुरू करवाया।

नगर के धनिकोंने उसमें काफी दान देकर स्वेच्छया-सहयोग दिया । नगर की एक मजदूरिन ने जिसके पास उस दिन केवल आठ पैसे थे सबके सब दान में दे दिए । दाताओं के नाम का स्मृति स्तम्भ तीर्थ के मुख्य द्वार पर लगाया तो सभी ने उस मजदूरिन का नाम सबसे ऊपर की पंक्ति में पढ़कर आश्चर्य प्रकट किया । कई क्षुद्रमना लोगों के आपत्ति प्रकट करने पर महाराज कुशक ने बताया “अन्य सभी दाताओं ने तो अपनी सम्पत्ति का एक अङ्ग ही दान किया है लेकिन उस मजदूरिन ने तो अपनी समस्त कमाई ही दान में दे दी थी, इसीलिये उसका नाम सबसे ऊपर है ।”

दान और त्यागि आदि की महत्ता उसके प्रति भावना पर निर्भर करती है । भौतिक मूल्य पर नहीं । जहाँ उक्त मजदूरिन की-सी भावना होती है वहाँ ही यज्ञीय कृत्य पूरे हुए समझने चाहिये ।

कणाद की उदारता और आतिथ्य प्रेम

महर्षि कणाद खेतों में उपेक्षित छोड़ दिये जाने वाले अनाज को बीनकर उससे अपना जीवन निर्वाह करते थे और अपना समस्त जीवन ज्ञान, साधना में लगाये रखते थे । एक दिन महर्षि दुर्वासा कणाद की परीक्षा लेने के विचार से ठीक भोजन के समय उनके यहाँ चले गये और सारा भोजन खा गये । यही क्रम कई दिन चलता रहा । लेकिन महर्षि कणाद की अतिथि सेवा की भावना में तनिक भी अन्तर नहीं आया । उनकी इस उदारता से दुर्वासा बड़े प्रसन्न हुए और अपने तप की बहुत बड़ी शक्ति उन्हें दी जिसके कारण कणाद स्वर्ग के अधिकारी बने । महाराज इन्द्र उन्हें लेने आये लेकिन जहाँ तप, त्याग और परमार्थ न किया जा सके ऐसे जीवन को महर्षि ने अस्वीकार कर दिया और धरती पर सेवा, साधना, तपश्चर्या का जीवन बिताना ही श्रेयस्कर समझा ।

परोपकारी विद्यासागर जी

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जितने एक महान विद्वान् थे उतने ही वे परोपकारी और जनसेवी भी थे । विद्वता और बड़प्पन का आदर्श ही

जनसेवा होता है। जब वे इन्स्पेक्टर आफ स्कूल के पद पर ५००) वेतन पाते थे तब भी आर्थिक समस्याओं से घिरे ही रहते थे। इसका कारण फिजूलखर्ची नहीं अपितु अभावग्रस्त दीन-दुःखियों की सहायता में उदारता से खर्च करना था। एक बार ब्राह्मण के कर्जदाता ने उसका मकान कुर्क करने के लिये तैयारी की। विद्यासागर जी को उसकी दुखी गिरी हुई हालत का पता चला तो २४००) ६० स्वयं के पास से सरकारी खजाने में जमा करा आये और ब्राह्मण की विपदा दूर हुई। विद्यासागर जी ने अपना नाम तक भी प्रकट न होने दिया। बेंगला के प्रसिद्ध विद्वान् माइकेल मधुसूदन दत्त को विदेशों में बड़ी धनराशि भेज कर मदद की। कई जगह स्कूल, औषधालय खुलवाये और उनके खर्च के लिये अपनी आय का बहुत बड़ा हिस्सा वे स्वयं खर्च करते थे। एक ओर आज के तथाकथित धनीमानी वैधानिक और अवैधानिक तरीकों से धन अर्जित कर अपने सुखोपभोग की सामग्रियाँ इकट्ठी करने में ही जीवन लगा देते हैं वहाँ श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का व्यक्तित्व देश के लिए गौरव की बात है। यदि विद्वान्, उच्च पदस्थ लोग उनके जीवन का अनुकरण करें तो देश कुछ ही वर्षों में उन्नति के उच्च सोपान पर स्थित हो जाय।

श्री अरविन्द घोष का त्याग

स्वराज्य आन्दोलन के समय देश के नेताओं ने राजकीय शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार किया लेकिन राष्ट्रीय विद्यालय को चलाने के लिये योग्य संचालक की नियुक्ति का प्रश्न था क्यों कि उनके पास इतना धन नहीं था। राष्ट्रीय विद्यालय के संचालक का ७५) ६० मासिक वेतन पर विद्यापन किया। किन्तु सभी को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बड़ौदा कालेज के अध्यक्ष श्री अरविन्द घोष ने जिन्हें उस समय साढ़े सातसौ रुपया वेतन तथा अनेक सुविधायें मिलती थीं अपनी नौकरी छोड़ कर राष्ट्रीय विद्यालय के लिये आवेदन किया है। श्री अरविन्द ने विद्यालय

का संचालन अपने हाथ में लिया और फिर देश के बड़े-बड़े नेताओं का उदय उसी कालेज से हुआ ।

जहाँ लोग राष्ट्र, समाज हितों की परवाह न करके अपने स्वार्थ, अपने ही लाभ को महत्त्व देते हैं । वे राष्ट्र और समाज के साथ-साथ भी अहित करते हैं । राष्ट्र के, समाज के हित में ही व्यक्ति का विकास निहित है । अस्तु प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी स्वार्थों की अपेक्षा राष्ट्रीय सामाजिक हितों पर अधिक ध्यान देना चाहिये ।

आत्मा की भूख कैसे शान्त होती है ?

स्वामी विवेकानन्द उन दिनों अमेरिका प्रवास में थे । वे अपना भोजन अधिकतर स्वयं ही पकाते थे । एक दिन उन्होंने अपना भोजन बनाकर तैयार किया, इतने में ही कुछ भूखे बालक उधर आ निकले । स्वामीजी ने सारा भोजन उन बालकों को बाँट दिया और इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । पास ही एक अमेरिकन महिला खड़ी थी उसने पूछा स्वामी जी आपने बिना कुछ खाये ही सारा भोजन इन बालकों में क्यों बाँट दिया ? वे बोले “माता जी पेट की भूख से बड़ी होती है आत्मा की भूख और आत्मा तृप्त होने पर जीवन की समस्त श्रुधाएँ एक बार ही शान्त हो जाती हैं । मैंने अपनी वास्तविक भूख शान्त करने के लिए ही भोजन बच्चों में बाँट दिया ।”

अंग्रेज डाक्टर का जातीय प्रेम

उस समय भारत में बादशाह शाहजहाँ का शासन था । बादशाह की लड़की बीमार पड़ी, संयोग से उन दिनों व्यापारियों के साथ ब्रिटेन से एक डाक्टर भी आया हुआ था, उसे बादशाह की लड़की के लिये बुलाया गया । डाक्टर ने उसका भली प्रकार इलाज कर दिया और वह चगी हो गई । इस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने उस डाक्टर से इच्छा-नुसार घन मांगने के लिये कहा तो उसने कहा “जहाँपनाह मेरे देश से होने वाले व्यापार पर आप चुङ्गी हटा दें ।” शर्त पूरी की गई तो

अंग्रेजों ने अपने यहाँ से वस्तुएं लाकर काफी मुनाफे पर भारत में बेचना शुरू किया। उक्त डाक्टर की ही देन थीं कि अंग्रेज भारत में आये, व्यापार किया और यहाँ बस गये और एक दिन यहां के शासक बन बैठे। अपने देश, समाज के लिये उक्त डाक्टर का त्याग सभी देशवासियों के लिये एक महान आदर्श की प्रेरणा देता है।

वचन का पालन

दरभंगा में एक शङ्कर मिश्र नामक विद्वान हो गये हैं। वे छोटे थे तब उनकी माँ को दूध नहीं उतरता था तो धाय रखनी पड़ी। दाई ने माता के समान प्रेम से बालक को अपना दूध पिलाया। शङ्कर मिश्र की माता दाई से कहा करती थी कि बच्चा जो पहली कमाई लावेगा सो तेरी होगी।

बालक बड़ा होने पर किशोर अवस्था में ही संस्कृत का उद्भट विद्वान हो गया। राजा ने उसकी प्रशंसा सुनकर दरबार में बुलाया और उसकी काव्य रचना पर प्रसन्न होकर अत्यन्त मूल्यवान हार उपहार में दिया।

शङ्कर मिश्र हार लेकर अपनी माता के पास पहुँचे। माता ने उसे तुरन्त ही दाई को दे दिया। दाई ने उसका मूल्य जंचवाया तो वह लाखों रुपये का था। इतनी कीमती चीज लेकर वह क्या करती? लौटाने आई। पर शङ्कर मिश्र और उसकी माता अपने वचन से लौटने को तैयार न हुए। पहली कमाई के लिये जब दाई को वचन दिया जा चुका था तो फिर उसे पलटने में उनका गौरव जाता था।

बहुत दिन देने लौटाने का झंझट पड़ा रहा। अन्त में दाई ने उस धन से एक बड़ा तालाब बनवा दिया जो दरभंगा में दाई का तालाब नाम से अब भी मौजूद है।

वचन का पालन करने वाले शंकर मिश्र और परिश्रम के बिना धन को न छूने वाली दाई दोनों ही प्रशंसनीय हैं।

असमर्थ की सामर्थ्य

सर्व सम्पन्न श्रावस्ती नगरी में भयङ्कर अकाल पड़ा, पशु-पक्षी, नर-नारी खाद्य के अभाव में कौड़ों की तरह मरने लगे। सारी नगरी भरघट-सी दिखाई दे रही थी। महात्मा बुद्ध ने यह देखा तो बड़े दुःखी हुए। उन्होंने श्रावस्ती के धनीमानी व्यक्तियों को बुलाया और ऐसे भीषण समय में देश की सहायता के लिए कहा, किन्तु किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सब उठ-उठकर चले गये। धनवानों को तो अपने भण्डार भरे रखने थे स्वयं के लिए, मानवता के लिए खर्च करना उन्हें अपभ्यय लगता था। लोग कहीं जबरन उनसे खाद्य सामग्री न छीन लें इस भय से दर-वाजे बन्द करके बैठ गये। महात्मा बुद्ध काफी निराश हुए। इतने में ही एक कुलीन घर की लड़की आई और बोली “महात्मन् ! आज से मैं श्रावस्ती नगरी के अकाल पीड़ितों की सेवा की प्रतिज्ञा करती हूँ, सबका भोजन जुटाने के लिये मैं प्रयत्न करूँगी।” लोग एक छोटी सी बालिका के मुँह से ऐसी बात सुनकर दंग रह गये। कई मजाक भी करने लगे। “बेटा सुप्रिया ! इतने बड़े राज्य का, नगर का भरण-पोषण कैसे करोगी ? तुम्हारे घर वाले तो कुछ देंगे भी नहीं”—महात्मा बुद्ध ने पूछा।

महाराज ! मुझे घरवालों के देने न देने की चिन्ता नहीं है। मैं घर-घर भिक्षा माँगूंगी, नगर-नगर जाकर लोगों से पीड़ितों की सहायता के लिए, मानवता के लिए मैं भौख माँगूंगी, घर-घर घूमूँगी। महाराज ! आप आशीर्वाद दें।” सुप्रिया ने कहा। महात्मा बुद्ध को एक आशा की चिनगारी नजर आई। बालिका के संकल्प से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया।

बालिका घर-घर घूमकर श्रृंघातों के लिए अन्न माँगने लगी। जिनके पास था वे मना न कर सके। देखते-देखते इतना अन्न जमा होने लगा कि भूख से प्राण त्यागने वालों की आसानी से जीवन रक्षा होने लगी।

तथागत ने शिष्यों को बुलाकर कहा— “संसार में सत्य बहुत है, धर्म बहुत है, पर उसका उद्बोधन करने वाले नहीं हैं। सुप्रिया ने घर-घर जाकर धर्म का उद्बोधन किया और लोगों की धर्म-बुद्धि को जगाया तो आज सहज ही एक बड़ी कठिनाई हल होगई। तुम भी इसी मार्ग को अपनाना, ऐसा ही आचरण करना।”

— × × —

लोक कल्याण के लिये धन दान

सर्वस्व दानी वाजिश्रवा

महामनीषी वाजिश्रवा ने सर्व मेघ यज्ञ किया और जो कुछ उनके पास था वह सब जन कल्याण के लिये दान कर दिया। उनके एक मात्र पुत्र नचिकेता ने इच्छा प्रकट की कि मुझे भी सत्कर्मों के लिये दान कर दिया जाय। वाजिश्रवा को पुत्र की यह परमार्थ प्रियता बहुत पसन्द आई। उन्होंने यमाचार्य को अपना पुत्र दान कर दिया ताकि वह सुयोग्य बनकर धर्म की अधिक सेवा कर सके। आचार्य यम ने नचिकेता को ब्रह्मविद्या सिखाई, और उसे लोकहित के मंगलमय कार्यों में लगा दिया।

अशोक का त्याग

कलिंग विजय के उपरान्त धन मान से परिपूर्ण राजा अशोक ने सोचा कि वैभव का लाभ उसके सग्रह, स्वामित्व में नहीं वरन् उसके सदुपयोग में है। अन्त में उसने अपनी सारी राज-शक्ति को धर्म प्रचार के लिये लगा देने का निश्चय किया। उसने उस समय के उपयुक्त सुधार-आन्दोलन बौद्ध-धर्म की सामयिक उपयोगिता को समझा और उसको अग्रगामी बनाने के लिये अपना सर्वस्व दान कर देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अनेकों बौद्ध-मठ बनाने और सहस्रों धर्म प्रचारकों का व्यय अपने जिम्मे लेकर उन्हें भारत के कौने-कौने और एशिया के समस्त



देशों में भेजा। अशोक का विशाल राज्य कोष इसी प्रयोजन में लगा फल स्वरूप आज बौद्ध-धर्म संसार में अनेक देशों में विद्यमान है। जन-संख्या की दृष्टि से प्रथम ईसाई, द्वितीय मुसलमान और तृतीय नम्बर पर बौद्ध हैं। हिन्दुओं की जनसंख्या चौथे नम्बर पर हैं। इतने बड़े धर्म प्रचार के मूल में अशोक की उदारता ही प्रधान कारण बनी। उसने अपनी पुत्री तक को धर्म प्रचार के लिए लंका आदि देशों में भेजा था।

सेठ जमनालाल बजाज

वर्धा के सेठ जमनालाल बजाज ने स्वतन्त्रता आन्दोलन की उपयोगिता समझ कर उसके सचालक महात्मा गान्धी के चरणों में अपने आपको समर्पित किया और कहा कि मुझे भी आप अपना पाँचवा बेटा समझें बापू ने उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये अर्बे व्यवस्था सँभालने का आदेश दिया जिसे उन्होंने आजीवन बड़ी खूबी से निबाहा। अपनी निज की आय एवं सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग वे महात्मा गान्धी का आश्रम खर्च चलाने तथा अन्य राष्ट्रीय कार्यों के लिये खर्च करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने देश भर के धनिक वर्ग से सम्पर्क स्थापित करके राष्ट्रीय कांग्रेस के हर साल के लाखों रूपयों के खर्च की पूर्ति का जिम्मा अपने ऊपर लिया। सेठ जमनालाल की उदारता और परमार्थ प्रियता सदा स्थायी रहेगा।

राजा महेन्द्र प्रताप

राजा महेन्द्र प्रताप मथुरा जिले से मुरसान राज्य के राजा थे। उनसे सोचा धन वैभव होने का उपयोग यह नहीं कि कोई व्यक्ति अपने ठाट-बाट और ऐश-आराम में ही उसे खर्च करे। मनुष्य की महानता इसमें है कि वह ईश्वर द्वारा दी हुई विशेष सुविधाओं को विशेष रूप से जन-कल्याण के कार्यों में लगा दे। राजा महेन्द्र प्रताप ने घोषणा की कि उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसके नाम करण के लिये महामना मालवीय जी बुलाये गये। पुत्र का प्रयोजन बताते हुए राजा साहब

ने कहा कि जो श्रेष्ठ परम्पराओं से चलाकर कुल को कीर्तिवान बनाये वही पुत्र है। मैं एक ऐसा विद्यालय स्थापित करना चाहता हूँ जहाँ से देश के लिये मर मिटने वाले कार्यकर्ता निकलें। उन्होंने अपने निज खर्च के लिये थोड़ी-सी सम्पत्ति रखकर शेष अपना सारा राजकाश विद्यालय को दिया। उसका नाम 'प्रेम महाविद्यालय' रखा गया।

वृन्दावन में स्थापित प्रेम महा विद्यालय ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण योग दिया। चुने हुए देशभक्त उसमें अध्यापन करते थे। आज के हाजस्थान के राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द, उत्तर प्रदेश के मू० पू० शिक्षा मन्त्री आचार्य जुगल किशोर, ग्राज के पार्लियामेण्ट सदस्य प्रो० कृष्णचन्द्र जैसे देशभक्त प्रेम महा विद्यालय में अध्यापक का काम करते थे। स्वतन्त्रता संग्राम में अधिकांश अध्यापक और छात्र जेल गये। सरकार ने विद्यालय को जप्त किया, जो स्वराज्य के बाद वापिस किया गया।

राजा महेन्द्र प्रताप की उदारता एवं त्याग भावना प्रत्येक धनी-मानी के लिए एक चुनौती के रूप में विद्यमान रहेगी।

भामाशाह

राणा प्रताप जब जंगलों में रहकर भारतीय संग्राम की लड़ाई चला रहे थे तब एक समय ऐसा भी आया कि राणा के पास पैसा न रहा और वे सेना रख सकने की स्थिति में न रहे। निराशा उन्हें घेरने लगी और लड़ाई बन्द कर देने की बात सोचने लगे। उन दिनों के सुप्रसिद्ध धनी सेठ भामाशाह को इन परिस्थितियों का पता चला। वे राणा के पास जंगल में पहुँचे और उन्होंने अपनी करोड़ों की सम्पत्ति उनके चरणों पर अर्पित करते हुए कहा कि इसे धर्म-युद्ध के प्रयोजन में खर्च करके मेरी कमाई को धन्य बनाइये। उस धन से राणा ने पुनः सेना एकत्रित की और आक्रमणकारियों के भगाने का धर्म युद्ध पुनः आरम्भ कर दिया।

वर्मा के भारतीय

सुभाषचन्द्र बोस जब आजाद हिन्द फौज का रांभठन करके भारत

की स्वतंत्रता के लिये अंग्रेजों से मोर्चा खड़ा कर रहे थे तब विदेशों में रहने वाले भारतीय देश भक्तों ने उनकी उत्साह वर्धक सहायता की। वर्मा के भारतीयों ने उनके शरीर के बराबर सोना तोल कर दिया तथा पैसे की कमी से उस महान कार्य को रुकने का अवसर न आने दिया।

दाता की नम्रता

रहीमजी आखें नीची किये हुये भिक्षुओं को दान बाँट रहे थे यह देखकर गंग कवि बोले—

ऐसी कहाँ नवाबज़ू, देनी सीखे देन ।
ज्यों-ज्यों कर ऊपर चढ़े, त्यों-त्यों नीचे नैन ॥

रहीम ने उत्तर दिया—

देने वाला और है, जो देता दिन रैन ।
लोग भरम सुझ पर करें, या सों नीचे नैन ॥

दान देकर अहङ्कार न करने वाले रहीम का नम्र उत्तर सुनकर सारी सभा उनकी प्रशंसा करने लगी। दान-पुण्य करने में, परमार्थमय यज्ञादि शुभ कृत्यों में निस्पृहता, निरहंकारिता रखने पर ही उनकी सफलता समझी जानी चाहिए। अहङ्कारयुक्त भावनाओं, मान बढ़ाई, प्रतिष्ठा के लिए किए जाने वाले कार्य मूलतः निष्फल ही समझे जाते हैं।

पुत्र-वधू द्वारा श्वसुर को बोध

एक धनिक व्यक्ति बड़ा कंजूस था। घर पर कोई भिक्षुक माँगने आता तो उसे कुछ भी नहीं देता था। घर की स्त्रियों को भी उसने ऐसी हिदायत कर रखी थी। एक दिन एक अपंग व्यक्ति घर पर कुछ भोजन माँगने आया। नव-विवाहिता पुत्र-वधू जो किसी उदार घर से आई थी, उसने कहा—भैया, इस घर में देने को कुछ नहीं है। भिक्षुक ने पूछा—



आप लोग खाते क्या हैं ? बधू ने कहा — जो पिछला बासी-बुसा पड़ा है उसी से गुजर करते हैं । भिक्षुक ने पूछा—जब बासी-बुसा समाप्त हो जायगा तब क्या खावेंगे ? बधू ने कहा — तब हम भी तुम्हारी तरह भीख माँगेंगे । भिक्षुक निराश होकर चला गया ।

यह वार्तालाप वह सेठ छत पर खड़ा सुन रहा था । उसे नाराजी हुई और पुत्र-बधू से पूछा—घर में कुछ भी न होने और बासी-बुसा खाने और भविष्य में भीख माँगने की बात कह कर दूसरों में बदनामी क्यों की ?

पुत्र-बधू ने नम्रतापूर्वक कहा—हम लोग जो पूर्व जन्मों में धर्म कमाकर लाये हैं उसी का प्रतिफल अब सुख-सम्पत्ति के रूप में भोग रहे हैं । अब हम लोगों ने त्याग, परमार्थ की परम्परा बन्द कर दी है इस-लिये पिछली कमाई चुकते ही हमें भी उस भिक्षुक की तरह ही दरिद्रता के दुःख देखने पड़ेंगे ।

धनिक की आँख खुल गई और वह अपने धन का एक बड़ा अंश परमार्थ कार्यों में लगाने लगा ।

त्याग और त्यागियों की परम्परा

(पिछले दिनों जिन्होंने भारतीय जनता को नव-जागरण का मन्त्र सुनाया उन युग पुरुषों में अधिकांश वे थे जिन्होंने अपने नेतृत्व की योग्यता अपने त्याग बलिदान की कसौटी पर खरे सिद्ध होकर प्रमाणित की । सस्ती नेतागिरी के लिये कितने बकवादी और घर्त लोग सामने आते रहते हैं पर जनता का हृदय जीतने और उसे कुछ करने के लिये तैयार वे ही कर पाते हैं जिनने अपने व्यक्तिगत जीवन में कुछ त्याग, बलिदान प्रस्तुत किया होता है । सस्ती नेतागिरी कुछ ही दिन में मुरझा जाती है, जबकि त्यागी और बलिदानी लोक सेवक अपने जीवन काल में ही नहीं मरने के बाद भी नई पीढ़ी को महान् कार्य करने एवं सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देते रहते हैं ।)



(लोकमान्य तिलक ने अपना सारा जीवन राष्ट्रीय जागरण के लिये लगाया । कठोर कारावास सह कर वर्मा की मांडला जेल में बन्द रहे । महात्मा गांधी ने वैरिष्टरी पर लात मार कर गरीब साधु की तरह गुजर करने का व्रत लिया और अन्याय से सङ्घर्ष करते हुए अफ्रीका में तथा भारत में अपार कष्ट सहे । गोपालकृष्ण गोखले आजीवन राष्ट्रोत्थान के कार्यों में लगे रहे, अपने उज्ज्वल चरित्र एवं उच्च विचारों से महात्मा गाँधी जैसे व्यक्तियों को वे आगे बढ़ाकर लाये । सर्वेण्ट आफ इण्डिया सोसायटी संख्या स्थापित कर सैकड़ों राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता स्वतन्त्रता एवं सामाजिक पुनरुत्थान के लिये दिये)

(पंजाब केशरी लाला लाजपतराय जी ने देश को स्वतन्त्र कराने में अपनी बलि दे दी गोखले की तरह उन्होंने भी जन-जागरण के लिये कार्यकर्त्ता जुटाने और उनके लिये खर्च की व्यवस्था करने के लिए पीपुल्स आफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना की । राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री, मोहनलाल गौतम जैसे देशभक्त उसी सोसायटी की देन हैं । लालाजी ने देश निकाले का दण्ड भुगता और अन्त में साइमन कमीशन के विरोध में जुलूस निकालने पर पुलिस की लाठियाँ खाकर शहीद होगये । >

(बंगाल के राष्ट्रीय नेता चित्तरंजनदास उच्च कोटि के वकील थे । उस जमाने में उनकी फीस एक हजार रुपया रोज थी । क्रान्तिकारी आन्दोलन उन दिनों बंगाल में जोरों से चल रहा था । श्री चित्तरंजनदास ने उनके मुकदमे बिना फीस लड़े । अपनी आमदनी को ठुकराकर वे स्वराज्य आन्दोलन की सफलता के लिये अपना तन-मन-धन पूरी श्रद्धा के साथ समर्पित करते रहे । भूतपूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू का त्याग और कर्त्तव्य प्रसिद्ध है । उन्होंने अपनी ऊँची वकालत को लात मार दी और लोक कल्याण के लिये एक सच्चे सन्त की तरह आजीवन कार्य करते रहे । राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की प्रतिभा और योग्यता किसी भी

उच्चकोटि के बैरिस्टर से कम न थी, पर उन्होंने लोक-सेवा के लिये अपने आपको समर्पित किया और लोभ, लाभ की बात मन में से पूर्ण तया हटाकर उन्होंने राष्ट्र के कल्याण के लिये अपना सर्वस्व होम दिया। गरीबों की तरह रहे पर स्वाभिमानपूर्ण जिये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में वे प्रमुख थे। उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों से समाज को जो लाभ पहुँचा उसे कभी भुलाया न जा सकेगा।

(यह तो पिछले दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिये त्याग, बलिदान करने वाले थोड़े से व्यक्तियों के नाम हैं। बड़े लोगों में से सुभाषचन्द्र बोस, सेनगुप्त, सरोजिनी नायडू, महामना मालवीय आदि सैकड़ों नेता और हजारों-लाखों राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता एवं सामान्य नागरिक हैं, जिन्होंने राष्ट्र के माथे पर लगे हुए परतन्त्रता के कलंक को धोने के लिये एक से एक बढ़कर त्याग बलिदान किये। इसी का प्रतिफल था कि अंग्रेजों जैसे शक्तिशाली एवं चतुर राजनीतिज्ञों के चंगुल में से भारत ने मुक्ति पाई। जब कभी जिस किसी ने सत्य प्रयोजन के लिये त्याग, बलिदान करने का साहस किया है तब उस व्यक्ति को अपना जीवन सार्थक बना लेने का अवसर मिला है और संसार के अन्य लोगों ने उनके जलते जीवन से प्रकाश प्राप्त किया है।)

(यही यज्ञीय भावना है। मानव जीवन को यज्ञमय होना चाहिए। जो अपने लिये ही कमाता है आप ही खाता है जिसकी योग्यता, प्रतिभा, विद्या एवं सम्पदा से सहकर्मों की अभिवृद्धि नहीं होती, पिछड़ों को आगे बढ़ने की प्रेरणा नहीं मिलती, संसार में धर्म और सदाचार के बढ़ाने में योग नहीं मिलती, उस व्यक्ति का जीवन निरर्थक है। अपना पेट तो पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी पालते रहते हैं। यदि इसी सीमा तक मनुष्य अपनी संकल्पना बनाये रहा तो यही समझना चाहिये कि उसने मानव शरीर की अद्भुत रचना पर किये गये ईश्वरीय प्रयत्न को निष्फल कर दिया।)

परोप करणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।

नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे-पदे ॥

जिन मनुष्यों के हृदय में सदा परोपकार करने की इच्छा बनी रहा करती है, उनकी विपत्तियां अपने आप नष्ट हो जाया करती हैं और पग-पग पर सम्पत्ति प्राप्त होती रहती है ।

न कामयेऽहं गतिमोश्वरात्परा—

मष्टद्वियुक्तामपुनर्मवं ना ।

आत्ति प्रपद्येऽखिल देहभाजा,

मन्तःस्थितो येन भवन्त्य दुःखाः ॥

परम भक्त रन्तिदेव ने कहा—मैं भगवान् से अष्टसिद्ध युक्त उच्च गति या मोक्ष कुछ भी नहीं चाहता । मैं तो प्रभु से यही चाहता हूँ कि सभी व्यथित प्राणियों के दुःख मेरे ऊपर आ जावें और वे सब दुःख रहित हो जावें ।

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

यह अति संक्षेप से मनुष्य के लिये धर्म का उपदेश किया है कि परोपकार ही पुण्य के लिये होता है तथा दूसरों को दुःख देना, पीड़ा देना यह पाप होता है, यही संक्षेप है विस्तार से क्या लाभ ?

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया ह्यर्जितं शुभम् ।

तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ।

यह सब कुछ करते हुए मैंने जो कुछ भी पुण्य कर्म किया हो उसके शुभ फल में मैं यही चाहता हूँ कि समस्त प्राणियों के दुःख मिटें ।

यशो रक्षन्ति न प्राणान् पापाद् विभ्यति न द्विषः ।

अन्विष्यन्त्यर्थिनो नार्थान् निसर्गोऽयं महात्मनाम् ॥

महान् आत्मा वाले पुरुषों का यह स्वभाव ही होता है कि वे सदा यज्ञ की रक्षा किया करते हैं प्राणों की नहीं, पाप कर्म से डरते हैं शत्रु से नहीं, याचकों को ढूँढ़ते हैं धन की खोज नहीं करते हैं ।

अनाथं कृपणं दीनं रोगार्त्तं वृद्धमेव च ।

नातुकम्पन्ति ये मूढास्ते वै निरयगामिनः ॥

जो मनुष्य अनाथ पर, कृपण पर, दीन पर, रोगी पर, दुःखी पर तथा वृद्धजन पर मूढ़ता का त्याग करके दया नहीं करता वह नरक-गामी होती है ।

सत्येन तपसाक्षान्त्या दानेनाध्ययनेन च ।

ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सत्य का पालन करते हैं, तपस्वी हैं और क्षमा, दान तथा अध्ययनादि के द्वारा धर्माचरण में ही लगे हैं वे सज्जन स्वर्ग में जाते हैं ।

स जीवति य एवैको बहुभिश्चोपजीव्यते ।

जीवन्तो मृतकास्त्वन्ये पुरुषाः स्वोदरम्भराः ॥

जीवित पुरुष वही माना जाता है जो अपने साथ और भी बहुत से मनुष्यों को पालता है, जिसको अन्य पुरुष भी जिलाना चाहे । किन्तु जो मनुष्य केवल अपने ही पेट भरने के लिये जीते हैं वह जीवित होते हुए भी मरे हुए हैं ।

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः ।

करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः ॥

जिनका मुख प्रसाद (प्रसन्नता) का स्थान है, जिनके हृदय में दया है, जिनकी वाणी मानो अमृत की वर्षा करती है, जो परोपकार में रत हैं, ऐसे पुरुष किसके वन्दनीय नहीं हैं ?

मर जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज ।
 परमारथ के कारने, मोहि न आवे लाज ॥
 कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय ।
 आप ठग्याँ सुख उपजै, और ठग्यां दुख होय ॥
 तरुवर सरवर सन्तजन, चौथे बरसे मेह ।
 परमारथ के कारणे, चारों धारें देह ॥
 तन पवित्र सेवा किये, धन पवित्र दिये दान ।
 मन पवित्र हरि भजनसे, इस विधि हो कल्याण ॥
 तुलसी या संसार में, तीन वस्तु हैं सार ।
 सत्संगति हरि भजन इक, निसदिन पर उपकार ॥
 अग्नि धर्म है दहन ज्यों, भीगा जल का धर्म ।
 परहित जीवन मरण त्यों, नर का निर्मल कर्म ॥
 चंदन तरु को यदपि विधि, फल और फूल न दीन ।
 तजत अहो निज तन करन, औरन ताप विहीन ॥
 रामायण में कहा गया है कि—

परहित लागि तजै जो देही ।
 संतत संत प्रसंसहि तेही ॥

उत्तरकाण्ड में भरतजी के पूछने पर श्रीराम उन्हें उपदेश देते हुए कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहि भाई ।
 पर पीड़ा सम नहि अधमाई ॥
 नर सरीर धर जे पर पीरा ।
 करहि ते सहहि महा भव भीरा ॥

इसी प्रकार बालकाण्ड में भी कपास और साधु के चरित्र की जो उपमा दी गई है उससे सिद्ध होता है कि संसार में यश की प्राप्ति उसी को होती है, जिसने परार्थ अपना सर्वस्व निछावर कर दिया हो ।
 यथा—

साधु चरित सुभ चरित कपासू ।
 निरस विसद गुनमय फल जासू ॥
 सो सहि दुख परछिद्र दुरावा ।
 वंदनीय जेहि जग जस पावा ॥

सुन्दरकाण्ड के अन्तर्गत निम्नांकित दोहे द्वारा विभीषण जी इन तीनों दुर्गुणों को त्याग कर अपने भाई को भगवान् राम के भजन की प्रेरणा देते हैं । यथा—

दोहा-काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ ! नरक के पंथ ।
 सब परिहर रघुवीरहि, भजहु भर्जाहि जे संत ॥

जब तक छल का परित्याग नहीं कर देगा—तब तक उसे आपकी भक्ति नहीं मिल सकती । यथा—

दोहा-करम वचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार ।
 तब लगि सुख सपनेहु नहीं, किएँ कोटि उपचार ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत माँ सुमित्रा लक्ष्मण को उपदेश देती हुई कहती हैं कि—

राग द्वेष इरषा मद मोह ।
जनि सपनेहु इनके बस होऊ ॥
सकल प्रकार विकार विहाई ।
मन क्रम वचन करेहु सेवकाई ॥

अयोध्या से रीछ, बानरों को विदा करते समय भगवान् राम उनकी उदारता तथा सत्कार्यों में सहायता करने के लिये उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—

तब रघुपति सब सखा बोलाए ।
आइ सबन्हि सादर सिरु नाए ॥
परुम प्रीति समीप बैठारे ।
भगत सुखद मृदु बचन उचारे ॥
तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई ।
मुख पर केहि बिधि करौ बड़ाई ॥
ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे ।
मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥
अनुज राज सम्पति वंदेही ।
देह गेह परिवार सनेही ॥
सब मम प्रिय नहि तुम्हहि समाना ।
मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥

सब कें प्रिय सेवक यह रीती ।
 मोरें अधिक दास पर प्रीती ॥
 बोहा-अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम ।
 सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम ॥

भगवान् को केवल निर्मल हृदय व्यक्ति ही प्रिय है—

जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई ।
 मोरें सनमुख आव कि सोई ॥
 निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
 मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

सदाचारी, पवित्र जीवन व्यक्ति को भगवान् के समान ही बताते हुए कहा गया है कि—

नारि नयन सर जाहि न लागा ।
 घोर क्रोध तम निसि सो जागा ॥
 लोभ पांस जेहि गर न बंधाया ।
 सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥

रीछ, बानरों के सत्प्रयत्नों के लिये अपनी सद्भावना प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।
 भए समर सागर कहैं बेरे ॥
 मम हित लागि जन्म इन्ह हारे ।
 भरतहु ते मोहि अधिक पियारे ॥

उच्च चरित्र वाले व्यक्तियों का भजन स्वयं भगवान् करते हैं—

भरत सरिस को राम सनेही ।

जगु जप राम रामु जप जेही ॥

कबीर के दोहे भी ऐसे ही हैं जिनमें बताया गया है कि ईश्वरीय उद्देश्यों के लिये काम करने वालों की उपासना स्वयं भगवान् करते हैं ।

दोहा-कबीर मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर ।

पीछे लागे हरि फिरत, कहत कबीर-कबीर ॥

कबीर माला ना जपें, जिन्हा कहौ न राम ।

सुमिरन मेरा हरि करें, मैं पाउं विश्राम ॥

हनुमान जी के सत्प्रयत्नों के प्रति भगवान् ने अपनी कृतज्ञता किन शब्दों में प्रकट की है देखिये—

नाथ पवनसुत कीन्ह जो करनी ।

सहसहुँ मुख न जाहि सो बरनी ॥

पवनतनय के चरित सुहाए ।

जामवंत रघुपतिहि सुनाए ॥

सुनु कपि तोहि समान उपकारी ।

नहि कोउ सुरनर मुनि तनुधारी ॥

प्रति उपकार करौं का तोरा ।

सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥

सुनु सुत तोहि उरन मैं नाहीं ।

देखेउं कर बिचार मन माहीं ॥

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता ।
 लोचन नीर पुलक अति गाता ॥
 कपि उठाइ प्रभु हृदयें लगावा ।
 कर गहि परम निकट बैठावा ॥
 अब बिलंबु केहि कारन कीजे ।
 तुरत कपिन्ह कहूँ आयसु दीजे ॥

दोहा-कपिपति बेगि बोलाए, आए जूथप जूथ ।
 नाना बरनत अतुल बल, बानर भालु बरूथ ॥

॥ पाँचवा प्रवचन समाप्त ॥

--X X--



चैठा प्रवचन



(ज्ञान और विवेक की आवश्यकता)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(प्रथमः अध्यायः ४ श्लोक ३८)

निस्सन्देह इस संसार में ज्ञान के सदृश्य पवित्र
अन्य कुछ भी नहीं है । प्रयत्न में संलग्न व्यक्ति सम-
यानुसार उसे सहज ही अपने में पा लेता है ।

(इस संसार में श्रेष्ठ वस्तुएं अनेक हैं । एक से एक उत्तम पदार्थ
यहां विद्यमान हैं । पर सबसे श्रेष्ठ, सबसे महत्त्वपूर्ण, सबसे पवित्र यदि
कोई वस्तु है तो वह 'ज्ञान' है । ज्ञान की विशेषता ही नर-पशु को नर-
नारायण की स्थिति तक पहुँचाने में समर्थ होती है । यह मंगलमय ज्ञान
किसी की कृपा से मिलता हाँ सो बात भी नहीं, थोड़ी-सी अभिरुचि
और प्रयत्नशीलता होने से ही ज्ञान-वृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है
और गई-गुजरी परिस्थितियों में पड़ा हुआ व्यक्ति ज्ञान सम्पदा से सम्पन्न
होने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ने लगता है ।

ज्ञान, बल और धन यह तीन ही विभूतियाँ इस संसार में मानी
गई हैं । इन्हें प्राप्त करने के लिये क्रमबद्ध प्रयत्न करने की दृष्टि से ही
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का विशिष्ट कार्यक्रम बनाया गया था । इन तीनों



में ज्ञान का पहला स्थान है। इसी से ब्राह्मण की अधिक श्रेष्ठ माना गया है। शारीरिक एवं आर्थिक उन्नति होने पर भी यदि ज्ञान बल दुर्बल हो तो आशाजनक परिणाम न होंगे। इसके विपरीत ज्ञानवान व्यक्ति शारीरिक एवं आर्थिक कठिनाइयों का हल निकाल लेगा और रुकी हुई प्रगति को गतिशील बनाने का मार्ग ढूँढ़ लेगा।

ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) शिक्षा (२) विद्या। शिक्षा से तात्पर्य है पढ़ना, लिखना, स्कूली ज्ञान, लौकिक प्रगति के आधार एवं स्वरूप की जानकारी। ज्ञान का अर्थ है भावनात्मक स्तर को इस प्रकार उपयुक्त बनाना जिससे व्यक्ति तथा समाज की आन्तरिक सुख-शान्ति अधुष्य रह सके। दोनों ही प्रकार का ज्ञान आवश्यक है। दोनों के लिये ही साथ-साथ प्रयत्न चलते रहना चाहिए।

(अक्षर ज्ञान की आवश्यकता सबसे प्रथम है। शिक्षा न हो, कुछ पढ़ना-लिखना न आता हो तो स्वाध्याय, सत्साहित्य का रसास्वादन कर सकना और विश्व के श्रेष्ठतम, आधुनिक एवं पुरातन मनीषियों के साथ घर बैठे सम्पर्क बना सकने का लाभ ही न मिलेगा। बिना पढ़ा व्यक्ति संगति के प्रभाव से किन्हीं एक-दो विषयों में अपने विशेष प्रयत्न के बल पर कुछ सीख-समझ सकता है। पर मानसिक विकास की समग्रता इतने से ही सम्भव नहीं हो सकती। आज के विकसित युग में मनुष्य को अनेक दिशाओं में, अनेक प्रकार की जानकारीयाँ अभीष्ट हैं। अब निजी जानकारी से ही काम नहीं चल सकता। जो जितना कम जानकार है वह उतना ही पिछड़ा पड़ा रहता है। अपनी निज की तथा सम्बन्धित समाज की समस्याओं को ठीक तरह समझ सकने के लिए मनुष्य को बहुत पढ़ना, सुनना और समझना पड़ता है। यह कार्य शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिए शिक्षा को व्यक्ति के मानसिक विकास का अनिवार्य अङ्ग माना गया है। यह प्राथमिक आवश्यकता है जिसकी पूर्ति न होने तक मनुष्य को अज्ञानी ही बना रहना पड़ता है। बेचारा

अज्ञानी वस्तुतः एक दयनीय जीव है। मनुष्य योनि में जन्म लेकर भी वह बौद्धिक स्तर पर पशु ही कहा जा सकता है।)

(प्रयत्न यह होना चाहिए कि नव-निर्माण की इस पुण्य बेला में शिक्षा प्रसार के लिए व्यापक अन्दोलन एवं अभियान आरम्भ किया जाय। छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए सरकार भी थोड़ा काम कर रही है। उससे पढ़ने वाले बालकों की संख्या बढ़ी है, पर अपने समाज की जनसंख्या को देखते हुए उन प्रयासों को नगण्य ही कहना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा तक तो शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क होनी ही चाहिए। देश में एक भी बालक या बालिका ऐसी नहीं रहनी चाहिये जिसकी शिक्षा माध्यमिक स्तर से कम हो। इतनी सुविधा जुटाने में सरकार को सम्भवतः अभी बहुत दिन लगेंगे। फिर बालकों के शिक्षित होकर सामाजिक उत्तरदायित्व सँभालने तक की लम्बी अवधि से लिये प्रतीक्षा में ठहरा नहीं जा सकता। संसार जितनी तेजी से आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए अपनी जनता को अज्ञानग्रस्त, उपेक्षित पड़ा रहने दें और सरकार जब अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगी तब उसके द्वारा पढ़कर निकलने वाले लड़के बड़े होकर समाज के नव-निर्माण का लक्ष्य पूरा करेंगे—यह प्रतीक्षा बहुत लम्बी है। तब तक दुनियाँ बहुत आगे बढ़ चुकी होगी और हम काफी पीछे पिछड़ चुके होंगे।)

(बालकों की शिक्षा के लिए जो प्रयत्न चल रहे हैं वे तो चलने ही चाहिए। चलने ही नहीं चाहिए वरन् उनमें चौगुनी-सौगुनी अभिवृद्धि होनी चाहिए। क्योंकि वास्तविक निर्धनता ज्ञान की कमी ही मानी जाती है। रोटी की कमी सामयिक निर्धनता है, बुद्धिमान रोटी की समस्या हल कर ही लेता है। पर यदि रोटी का ही बाहुल्य रहे, ज्ञान की कमी बनी रहे तो उस स्थिति में शान्तिपूर्वक उन रोटियों को खाना भी सम्भव न होगा। अस्तु, अन्य कठिनाइयाँ उठा कर भी हमें अपनी शिक्षा वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। शिक्षा कैसी होवे यह प्रश्न अलग

है। निस्सन्देह नौकरियों के उद्देश्य लेकर चलने वाली पढ़ाई को निरर्थक माना जाना चाहिये, उससे दास मनोवृत्ति के, आराम पसन्द, बाबू बनने वाले लड़कों की संख्या बढ़ती और बेकारी फैलती है। पढ़े-लिखों की बेकारी कितनी खतरनाक होती है उसे समय रहते समझ लिया जाना चाहिए और शिक्षा के नाम पर चल रहे मखोल में सुधार होना चाहिये। स्वायलम्बी, समर्थ, सद्गुणी, सुसंस्कृत और विचारशील नागरिक उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। नौकरी दूसरी बात होनी चाहिये और पढ़ाई दूसरी। हर पढ़ने वाला नौकरी ही प्राप्त करे जब तक यह उद्देश्य शिक्षा के साथ जुड़ा रहेगा तब तक उससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती रहेगी। राष्ट्र के कर्णधारों को शिक्षा पद्धति में इस प्रकार का सुधार करना ही होना। विचारशीलता आज नहीं तो कल उन्हें उसके लिये विवश ही कर देगी।

(जो, हो, हमें शिक्षा का प्रसार तो करना ही है। देश की भौतिक समृद्धि की दृष्टि से भी और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से भी। बच्चों की पढ़ाई ठीक होती रहे इसके लिये हर अभिभावक को समझाना होगा कि वे अपने बच्चे और बालिकाओं को पढ़ाने की आवश्यकता समझें। रोटी खिलाते हैं, कपड़े पहनाते हैं, प्यार करते हैं, ब्याह-शादी करते हैं तो उन्हीं में एक और अनिवार्य आवश्यकता उन्हें पढ़ाने की भी जोड़ दें। जो अभिभावक अपने बालकों को शिक्षा की सुविधा नहीं जुटाते, वे उन्हें जन्म देने के बाद कन्धे पर आये एक नितान्त आवश्यक कर्तव्य की उपेक्षा करने का पाप करते हैं। भूखे पेट रहकर भी उन्हें अपने बालकों को शिक्षा के साधन जुटाने चाहिये। यह भावना उन प्रत्येक वयस्क, नर-नारियों में भरी जानी चाहिये जो बच्चे उत्पन्न कर रहे हैं या करने वाले हैं। गाँव-गाँव, गली-मली, मुहल्ले-मुहल्ले स्कूलों की स्थापना की जानी चाहिये और उसके साथ गैर सरकारी स्तर पर भी साधन जुटाये जाने चाहिये।

किन्तु काम इतने से भी नहीं चलेगा । जो लोग स्कूल में जाने की परिस्थितियों में नहीं रहे उन नर-नारियों की शिक्षा के लिए सर्वत्र पाठशालाएं, प्रौढ़ पाठशालाएं चलनी चाहिये । इस प्रकार के कार्य को देव-मन्दिर बनाने जैसा धर्म कार्य माना जाना चाहिये और जो लोग शिक्षा देने या दिलाने को समय अथवा धन दें, उन्हें देवपूजा या धर्म कृत्य के लिये दान-पुण्य करने वालों से अधिक श्रेष्ठ समझा जाना चाहिये । मनुष्य के आत्मा में रहने वाले भगवान् की यदि हम शिक्षा रूपी पूजा सामग्री से अर्चना करते हैं तो निस्सन्देह अक्षत, नैवेद्य, धूप, दीप प्राप्त करने की अपेक्षा वे कहीं अधिक प्रसन्न होंगे । हर शिक्षित व्यक्ति अपने घर की महिलाओं को, बच्चों को, बूढ़ों को नौकरानियों व पड़ोसियों को पढ़ाने का प्रयत्न करें । इसके लिए समय या धन दे तो ही वह ज्ञान ऋण से उन्मृण होने का अपना नैतिक कर्त्तव्य पूरा करेगा । छोटे बच्चों की पढ़ाई तक ही सीमित नहीं रहा जा सकता है । आवश्यकता यह भी है कि प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को शिक्षित बनाने के लिये व्यापक रूप से संघ बद्ध होकर प्रयत्न किया जाय । अभी हमारे देश में केवल २३ फीसदी शिक्षा हो पाई है । ७७ फीसदी निरक्षरों का यह देश जब तक साक्षर न बनेगा तब तक प्रगति का महत्त्व, स्वरूप और आधार भी न समझ सकेगा । ऐसी दशा में किसी ठोस कार्य की भी सम्भावना न रहेगी ।

गीता की प्रेरणा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान की पवित्रता एवं उपयोगिता को समझे और समझ कर उन्हें हृदयंगम करने के लिए कटिबद्ध हो । गीता ज्ञान का ग्रन्थ है । उसमें संसार को सर्वश्रेष्ठ वस्तु ज्ञान को ही बताया है और हर भावनाशील व्यक्ति को सन्देश दिया है कि वह अपने व्यक्तिगत ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये तथा दूसरों को ज्ञानवान बनाने के लिये शक्तिभर प्रयत्न करें । अपने साधन जितने भी हों उसे मानव जाति को अधिक ज्ञानवान बनाने में लगावें । परमार्थ का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप यह एक ही है कि बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े और उजड़े लोग

उपयोगी बिचारणा एवं प्रेरणा प्राप्त कर सकने की स्थिति में पहुँच कर अपने को मनुष्य श्रेणी में गिने जाने योग्य बना सकें। सस्ती पूजा-पत्री का महत्त्व उसके सस्तेपन के आधार पर स्वल्प ही होता है। ज्ञान आराधना द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने की ओर तपश्चर्या करनी पड़ती है, उसका प्रभाव भी उसी अनुपात से अधिक उत्तम एवं प्रभावशाली होता है।

पुस्तकालयों की स्थापना, घर-घर सद्ज्ञान पहुँचाने का प्रबन्ध करना, साक्षरों को 'प्रशिक्षित' बनाने को पुण्य प्रयास माना जाता है। साक्षर बनने से ज्ञान प्राप्ति का मार्ग खुलता है। पर उसका वास्तविक प्रयोजन तभी सिद्ध होता है जब आक्षर व्यक्ति जीवनोत्कर्ष की समस्याओं को समझने तथा उन्हें सुलझाने का प्रयास करें। यह कार्य विचारोत्तेजक सत्साहित्य के पढ़ने में पूर्ण होता है। दुर्भाग्य से इस प्रकार की अभिरुचि आज के तथाकथित शिक्षितों को भी नहीं है। स्कूल छोड़ने के बाद आम-तौर से पढ़ना बन्द हो जाता है। काम-धन्धों में प्रयुक्त होने वाली पढ़ाई मात्र हाथ रह जाती है। जो इसके अतिरिक्त पढ़ते हैं उसमें मनोरञ्जन, बिलासिता, कीतूहल की पुस्तकें या पत्रिकाएँ ही प्रधान होती हैं। जीवन-निर्वाह एवम् समाज-निर्माण जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की आवश्यकता एवं उपयोगिता ही अभी लोगों ने नहीं समझी है। ऐसी दशा में वे सत्साहित्य पढ़ेंगे ही कैसे? इस अभिरुचि को जगाया जाना चाहिये तार्किक शिक्षा की सार्थकता सिद्ध हो सके। जगह-जगह ऐसे पुस्तकालय खूलने चाहिये जिनमें विशुद्ध रूप से निर्माणात्मक साहित्य हो और उसे शिक्षितों तक पहुँचाने और उनकी अभिरुचि को परमार्जित करने के प्रयत्न चलते रहें।

ऐसे सत्प्रयत्नों को गीता में बुद्धियोग कहा गया है। ज्ञान साधना में निरन्तर संलग्न रहने वाले व्यक्ति बुद्धि-योगी हैं। इस मार्ग में प्रीति-पूर्वक लगे हुए व्यक्ति वास्तव में अपनी इस तपश्चर्या द्वारा भगवान् का भजन ही करते हैं और ईश्वर प्रदत्त बुद्धियोग द्वारा मनुष्य भगवान् को

ही प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वर की सर्व प्रिय आराधना उनके संसार को अधिक ज्ञायवान बनाने की ही हो सकती है।

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥**

(अध्याय १० श्लोक १०)

निरन्तर प्रीतिपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक मुझ ईश्वर को भजने वाले लोगों को मैं “बुद्धियोग” की प्रेरणा देता हूँ और वे इसी के सहारे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

परमेश्वर जिन पर भी प्रसन्न होते हैं उन्हें वे अधिक विचार-शील, सद्भावना सम्पन्न और ज्ञान-परायण बनाते हैं तथा बुद्धियोग में संलग्न होने की प्रेरणा देते हैं। संसार में सद्ज्ञान का प्रसार उनका मुख्य काम बन जाता है। प्राचीन काल से लेकर अब तक के समस्त सच्चे ईश्वर भक्त, ऋषि, मुनि आजीवन इसी कार्य में लगे रहे हैं। गुरुकुल चलाने में, सद्ग्रन्थों का प्रणयन करने में, यज्ञ आयोजनों में, कथा, प्रवचन कहने में, संस्कार और पर्वों की व्यवस्था में संलग्न रह कर वे संसार को ज्ञानवान बनाने के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं। प्रत्येक ईश्वर भक्त को सदा से यही करना पड़ा है। वह चुप बैठ ही नहीं सकता। संसार में अज्ञान ग्रस्त प्राणियों को देखकर उसकी अन्तरात्मा में करुणा की अजस्र धारा बहे बिना रह ही नहीं सकती। ईश्वर प्रदत्त बुद्धियोग की प्रेरणा को वह तिरस्कृत कर ही नहीं सकता। अतएव उसे अपनी परिस्थितियों के अनुसार मानव-जाति की अधिक ज्ञानवान बनाने के लिये अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करना ही पड़ता है।

साक्षरता की उपयोगिता इस बात में है कि इसके द्वारा जीवनोत्कर्ष के लिए उपयोगी एवं आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया जाय। वह पढ़ा, सुना और समझा जाय जिससे जीवन-निर्माण एवं समाज-निर्माण में सहायता मिलती है। यह शिक्षा को विद्या में परिणत करने की भूमिका

है। पढ़ना-लिखना यदि रोटी कमाने या सऊर-सलीका सीखने तक ही सीमित रह जाय तो उसे पढ़ाई मात्र कहा जायगा। पर जब वह पढ़ाई आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता को उपलब्ध करने में सहायक बनती है तब उसे विद्या कहा जाने लगता है। विद्या ही आत्म-कल्याण का एक प्रधान साधन है। गायत्री महामन्त्र के द्वारा हम उस विद्या की—
ऋतम्भरा प्रज्ञा की ही आराधना करते हैं।)

(विद्यावान् व्यक्ति को विवेकशील बनना पड़ता है। उसकी वृत्ति हंस की तरह नीर-क्षीर-विवेक की बन जाती है। इस संसारमें अगणित प्रकार की विचारधाराएँ बिद्यमान हैं, लोग अगणित प्रकार की गतिविधियाँ अपनाये हुए हैं। लोग क्या कहते, क्या सोचते और क्या करते हैं इससे वह तनिक भी प्रभावित नहीं होता वरन् अपनी मौलिक आस्था का अवलंबन करके वही सोचता है जो सोचना चाहिए, वही करता है जो करना चाहिए। उसमें विद्या की प्राप्ति के कारण इतना साहस एवं आत्मबल तो उत्पन्न हो ही जाता है कि सारी दुनियाँ एक ओर भले ही बनी रहे पर वह अकेला सत्य के मार्ग पर अविचल चट्टान की तरह सुदृढ़ खड़ा रहे।)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(अध्याय २ श्लोक ६६)

“जो सब भूतों के लिए रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें सब भूत (प्राणी) जागते हैं मुनियों के लिए रात है।”

आमतौर से इस दुनियाँ में रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी और अवि-वेकी ही भरे पड़े हैं। जो कुछ चलता आ रहा है उसे ही चलते रहने देना चाहते हैं। उनमें न अविवेक को छोड़ने का साहस होता है और न विवेक को अपनाने की हिम्मत होती है। मन ही मन भले बुरे को जानते तो हैं पर आत्मबल और सद्ज्ञान की कमी के कारण भेड़िया घसान के अङ्ग बने हुए जिन्दगी के दिन पूरे करते रहते हैं। वे न कोई

बुराई छोड़ पाते हैं और न अच्छाई ग्रहण कर सकते हैं। अधिकांश लोग इसी प्रकार के हैं। इन्हीं के साथ चलना, इन्हीं के स्वर में स्वर मिलाना, विवेकवान से, विद्यावान से बन नहीं पड़ता। इसलिए उसे विवश होकर दूसरा रास्ता अपनाना पड़ता है—जो सर्वसाधारण से भिन्न होता है। जैसी आदर्शविहीन जिन्दगी साधारण लोग बिताते हैं, जैसे घटिया स्तर से लोग सोचते हैं वह उससे बन नहीं पड़ती। उसे अपना अलग रास्ता बनाना पड़ता है। वैसी दशा में उसकी गतिविधियाँ दूसरों से भिन्न ही रहती हैं। लोग उसे मूर्ख समझते हैं, वह लोगों को मूर्ख समझता है।

इतने पर भी सराहना इस बात की है कि इस भिन्नता के बीच में वह दुर्भाव एवम् संघर्ष पैदा नहीं होने देता। स्वयं अपने मार्ग पर हढ़ रहता है, दूसरों को उसी रास्ते पर चलने की प्रेरणा देता है पर जो उसकी बात नहीं मानते उनसे शत्रुता मोल नहीं लेता। ज्ञान की प्रौढ़ अवस्था यही है। सच्चे ज्ञानी का स्तर और आचरण यही होता है। वह दूसरों से प्रभावित होता नहीं वरन् दूसरों को अपनी सत्यनिष्ठा एवं विवेकशीलता से प्रभावित करता है।

मानव-समाज को ज्ञान के उसी स्तर पर पहुँचाना गीताकार का उद्देश्य है। भगवान् अर्जुन को इसी स्तर पर उठा ले गये थे। भारतीय समाज को सच्चा ज्ञानी बनाना है। ज्ञानी ही भगवान् के सबसे अधिक प्रिय हैं। भगवान् के परमप्रिय बनने के लिए हमें ज्ञानयोग अपनाना ही पड़ेगा। उस स्थिति में आज जिस मूढ़ता ने, कुण्ठा ने, अज्ञान ने, अविवेक ने, आलस्य ने, अवसाद ने हमें ग्रसित कर रखा है, उससे छुटकारा पाना ही पड़ेगा। नव-निर्माण की बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजन यही है कि हर व्यक्ति विवेकवान बने, विवेक को सर्वोपरि माने, जो विवेक-सम्मत हो उसे ही स्वीकार करे। इतना यदि हम कर पावें तो गीता का उद्देश्य पूर्ण हो, समाज की अभिनव रचना सम्भव हो और ज्ञानयोग का उद्देश्य भी पूर्ण हो।

—:ॐ:—

ज्ञान प्रसार की ऋषि परम्परा

ऋषियों की परम्परा ज्ञान-साधना की रही है। आज हमारे सामने ज्ञान का जो अथाह भण्डार सुरक्षित है वह उन्हीं की देन है। व्यास, वशिष्ठ, भारद्वाज, गौतम, कपिल, जैमिनी, पतंजलि आदि ऋषियों ने न केवल ज्ञान की साधना और खोज की वरन् सीमित सादा जीवन बिता कर ज्ञान के प्रसार के लिए भी कार्य किया।

महर्षि चरक, सुश्रुत ने आयुर्वेद के क्षेत्र में बहुत-सी खोज और अनुसंधान करके मानव-समाज को रोग-मुक्त एवं स्वस्थ बनाने की दिशा में बहुत बड़ा काम किया।

देवर्षि नारद स्वयं न केवल एक भक्त और ज्ञानी व्यक्ति ही थे वरन् उनका ज्ञान-प्रसार और लोगों को सत्प्रेरणायें देने का काम और भी महत्त्वपूर्ण था। वे सदैव कीर्तन, भजन गाते हुए लोगों में सद्बिचार और सद्ज्ञान का प्रचार करते रहे। उन्होंने कई गिरे हुएों को उठाया, पापियों को शुभ मार्ग में लगाया, अधिकारी पात्रों को ज्ञान की दीक्षा देकर आत्म-विकास की ओर अग्रसर किया।

महर्षि कणाद के बारे में प्रसिद्ध है कि वे खेतों में उपेक्षित छोड़ दिए जाने वाले अन्न के दानों को बीन कर उनसे अपने परिवार का जीवन-निर्वाह करते थे और अपना अधिकांश समय ज्ञान-साधना में लगाते थे। वे चाहते तो धन अर्जन करके सुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे किन्तु वे अधिकाधिक समय अपनी ज्ञानोपासना में लगाना चाहते थे। स्वयं ज्ञानवान बनना और दूसरों को ज्ञानवान बनाना उन्हें संसार में सर्वश्रेष्ठ सत्कार्य प्रतीत हुआ। इसलिए जीवन की आवश्यकताओं को कम महत्त्व देकर महर्षि कणाद ने संसार को ज्ञान का एक बहुत बड़ा कोष प्रदान किया।

महर्षि पिप्पल इसी तरह पीपल वृक्ष के छोटे-छोटे फलों से जीवन-निर्वाह करते थे। इन्होंने अमूल्य मानव-जीवन को केवल जीवन-



निर्वाह के लिए ही लगाना श्रेयस्कर न समझा। उनके सामने ज्ञान-साधना का महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था जिसके लिए उक्त मार्ग अपनाया।

शुकदेव जन्म से ही ज्ञान की खोज में निकल गये थे। वे सांसारिक प्रलोभनों में नहीं आये और जीवनोद्देश्य की पूर्ति में नितान्त आवश्यक आत्म-ज्ञान की खोज में जुटे रहे। आजोवन त्यागी-अपरिग्रही रह कर शुकदेवजी ने ज्ञान की साधना की। इन्हीं ने महाराजा परीक्षित को भागवत की कथा सुनाई थी। राजा जनक से जो ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था उसे सारी मानव-जाति में वितरित किया।

महामनीषी चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री थे। उन्हीं के प्रयत्नों से मौर्य साम्राज्य का विस्तार हुआ, लेकिन यह सब कुछ करते हुए भी चाणक्य ने अपने विद्या - प्रेम को नहीं छोड़ा वरन् राजकीय वातावरण से दूर एक कुटिया में रह कर चाणक्य ज्ञान की साधना करते थे। चन्द्रगुप्त ने उनके लिए अच्छे भवन और सुख सुविधायुक्त साधन जुटाये लेकिन उन्हें स्वीकार न करते हुए चाणक्य अपनी कुटिया में सरस्वती की आराधना किया करते। इसीसे अध्ययन और अध्यापन दोनों ही कार्य चाणक्य के जीवन के अभिन्न अंग थे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र के रूप में चाणक्य की बहुत बड़ी देन उनकी ज्ञान-साधना का ही परिणाम है।

प्रत्येक ऋषि के आश्रम में एक गुरुकुल रहता था। वे तपश्चर्या के साथ-साथ ज्ञानोपासना को भी अपना परम पवित्र एवं अनिबायं धर्म-कर्त्तव्य मानते थे। उन दिनों देश भर की सारी शिक्षा व्यवस्था ऋषियों, ब्राह्मणों और सन्तों के जिम्मे ही थी। वे छोटे बड़े अगणित विद्यालय चलाते थे। नालंदा और तक्षशिला जैसे विश्व-विद्यालय उन्हीं के प्रयत्नों से इतने विकसित हुए थे कि सारे संसार के छात्र उनमें विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आया करते थे और यहाँ की संस्कृति को समस्त विश्व में फैलाया करते थे।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी ने न केवल तपस्या ही की वरन् ज्ञान की बहुत बड़ी साधना भी की थी। उनके आत्म-तेज और विद्वता दोनों के समक्ष विजातियों को अपनी हार माननी पड़ती थी। उनके शास्त्रार्थ विजय से पता चलता है कि वे कितने विद्वान् थे। प्राचीन ग्रन्थों का उन्होंने बड़ा सरल और विद्वतापूर्ण भाष्य किया और स्वयम् नई रचनायें भी कीं। बहुत छोटी उम्र में ही उन्होंने समस्त शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था।

गोस्वामी तुलसीदास विरचित रामचरित मानस विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जो नीति, धर्म, जीवन शास्त्र की महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं से भरा हुआ है। सन्त कबीर, नानक, सूर, मीरा आदि के पदों में जीवन शिक्षा का बहुत बड़ा सार भरा है। सन्त तुलसीदास ने तो घर से निकलने के बाद बहुत समय तक अध्ययन चिन्तन, मनन में लगाया था। सूरदास ने भक्ति-भावना से सूखे और नीरस हृदयों को सरस बनाने के लिए सूर सागर की रचना की, उनके पदों का भक्ति साहित्य में बड़ा स्थान है।

सन्त एकनाथ, सन्त ज्ञानेश्वर, चैतन्य महाप्रभु, समर्थ रामदास आदि न केवल सन्त और साधु ही थे वरन् परम ज्ञानी, विचारक और विद्वान् भी थे। सन्त एकनाथ ने भागवत की अभूतपूर्व टीका की है। ज्ञानेश्वरी की ज्ञानेश्वरी गीता और, तुकाराम के अभङ्ग प्रसिद्ध है। चैतन्य महाप्रभु न्याय, धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे। समर्थ गुरु रामदास का दासबोध आज भी महाराष्ट्र में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इन सन्तों ने भक्ति के प्रसार के साथ-साथ ज्ञान का भी बहुत प्रसार किया।

— — —



कठिनाइयों में विद्याभ्यास

विद्या प्राप्ति के लिए कई बार सुविधायें नहीं होती, साधनों की कमी रहती है तथा शारीरिक, मानसिक परिस्थितियाँ बाधा उपस्थित करती हैं। किन्तु यदि ज्ञान प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हो जाय तो मनुष्य प्रत्येक स्थिति में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवसर प्राप्त कर सकता है। सन्त विनोबा भावे सत्तर से ऊपर आयु हो जाने पर भी भू-दान आन्दोलन में दिन रात जुटे रहते हैं साथ ही संसार की सबसे कठिन चीनी भाषा का अध्ययन भी करते हैं। वे अपने व्यस्त कार्यक्रम के बीच भी संसार की दस प्रमुख भाषाएँ अच्छी तरह पढ़ चुके हैं और आगे और भी बहुत पढ़ने के लिए प्रयत्नशील हैं।

विद्योत्तमा और कालिदास

पुराने समय में विद्योत्तमा नाम की एक बहुत बड़ी विद्वान स्त्री थी। उसने यह घोषणा कर दी कि जो उसे शास्त्रार्थ में हरा देगा उसी के साथ वह विवाह करेगी। बड़े-बड़े पण्डित आये लेकिन विद्योत्तमा के समक्ष वे भी न ठहर सके। पण्डितों ने इसे अपना अपमान समझा और इसका बदला लेने के लिए एक मूर्ख से विद्योत्तमा की शादी कराने का षड्यन्त्र रचा। वे सबसे अधिक मूर्ख की खोज में लगे। काफी भाग-दौड़ के पश्चात् जंगल में एक काला-कलूटा व्यक्ति मिला जो जिस ढाल पर बैठा हुआ था उसी को काट रहा था। पण्डितों ने कुछ पूछ-ताछ की लेकिन वह कुछ न बोला और उसे सबसे बड़ा मूर्ख समझकर पण्डितों ने अपना षड्यन्त्र का आधार बनाया। पण्डितों ने मूर्खराज को सारी बात समझा दी और वे उसे विद्योत्तमा के पास ले जाकर बोले—“ये हमारे गुरुजी हैं मौन रहते हैं आपके प्रश्नों का उत्तर संकेतों में देंगे।” विद्योत्तमा ने स्वीकार करके संकेतों में प्रश्न पूछना शुरू किया। उसने एक अँगुली उठाई इस पर मूर्खराज ने दो। प्रश्न था

परमात्मा एक है लेकिन मूर्ख ने सोचा यह मेरी एक आँख फोड़ना चाहती है तो मैं दोनों फोड़ दूँगा, इसलिए दो अँगुलियाँ उठाई। लेकिन पण्डितों ने इन संकेतों की व्याख्या करते हुए बताया, आत्मा और परमात्मा दो हैं। इसी तरह विद्योत्तमा ने पञ्चेन्द्रियों के बारे में पाँच अँगुलियाँ दिखा कर प्रश्न किया। उसने समझा यह मेरे थप्पड़ लगाना चाहती है तो घूँसा दिखा दिया। पण्डितों ने व्याख्या करते हुए कहा कि गुरुजी पाँचों इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में किये हुए हैं। इसी तरह कई संकेतों का प्रतिपादन पण्डित बड़े अच्छे ढङ्ग से करते रहे। विद्योत्तमा ने उस महामूर्ख को अपना पति स्वीकार कर लिया। प्रथम मिलन के दिन जब विद्योत्तमा को उसकी मूर्खता का पता लगा तो बड़ी दुःखी हुई और उसे धक्का देकर मकान से निकाल दिया। गिरने से ऐसी चोट लगी कि उसकी स्मृति जाग पड़ी। मूर्खराज घर से चला गया और अपनी ज्ञानवृद्धि में लग गया। अन्त में वही महामूर्ख अपने अध्ययन से कालान्तर में महा-कवि कालिदास के रूप में प्रकट हुआ और अपनी विद्वत्ता की साधना पूरी करके वह फिर विद्योत्तमा से मिला।

महा वैयाकरण वोपदेव

वोपदेव का मन पढ़ने में नहीं लगता था, उसकी स्मरण शक्ति अच्छी न थी। पाठशाला में अध्यापकों और सहपाठियों का उन्हें उपहास सहना पड़ता था। घर पर इसी कारण प्रतारणा होती थी। बच्चा निराश हो चला। उसने सोचा पढ़ने से क्या लाभ? कोई दूसरा काम करेंगे।

पाठशाला छोड़कर वोपदेव निकल पड़ा। इधर-उधर भटकते-भटकते बहुत दिन हो गये। एक दिन वह ग्राम के निकट कुँए के किनारे बैठा अपनी दुरवस्था पर विचार करने लगा। अपनी समस्या का हल ढूँढ़ने लगा।

सोचते समय उसकी निगाह सामने वाले पत्थर पर गई। पानी खींचते समय रस्सी की जो घिसट पड़ी थी उससे पत्थर पर गहरी

लकीरें बन गई थीं। वोपदेव सोचने लगा इतना कठोर पत्थर यदि कोमल रस्सी की बार-बार रगड़ पड़ने पर घिस सकता है तो मेरी मोटी बुद्धि निरन्तर प्रयत्न और अभ्यास करने से विद्याध्ययन के योग्य क्यों नहीं बन सकती ?

बालकने अपना साहस बटोरा और पुनः पाठशाला में जा पहुँचा। अबकी बार उसने पूरे मन और दूने परिश्रम से पढ़ना आरम्भ कर दिया। प्रयत्न ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करली मन्दबुद्धि छात्र मेधावी स्नातक बनकर निकला।

महा वैयाकरण वोपदेव को कौन नहीं जानता। आरम्भ में वह महा मन्दबुद्धि था। इस मूढमति छात्र ने साहस से, पुरुषार्थ से काम लिया तो प्रतिकूलताएं अनुकूल बन गई वोपदेव की गाथा हर छात्र के लिए विचारणीय है और अनुकरणीय भी।

वरधराज से वरदराज

एक लड़का लहुत ही मन्दबुद्धि था। उसे पढ़ना-लिखना कुछ न आता था। बहुत दिन पाठशाला में रहते हुए भी उसे कुछ न आया तो लड़कों ने उसकी मूर्खता के अनुरूप उसे वरधराज अर्थात् बैलों का राजा कहना शुरू कर दिया। घर बाहर सब जगह उसका अपमान ही होता।

एक दिन वह लड़का बहुत दुःखी होकर पाठशाला से बल दिया और इधर-उधर मारा-मारा फिरने लगा। वह एक कुँए के पास पहुँचा और देखा कि किनारे पर रखे जगत के पत्थर पर रस्सी खिंचने की रगड़ से निशान बन गये हैं। लड़के को सूझा कि जब इतना कठोर पत्थर रस्सी की लगातार रगड़ से घिस सकता है तो क्या मेरी मोटी बुद्धि लगातार परिश्रम करने से न घिसेगी ? वह फिर पाठशाला लौट आया और पूरी तत्परता और उत्साह के साथ पढ़ना आरम्भ कर दिया, उसे सफलता मिली। व्याकरण शास्त्र का वह उद्भट विद्वान् हुआ। लघु

सिद्धान्त कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके नाम में थोड़ा सुधार किया गया—बरधराज की जगह फिर उसे 'वरदराज' कहा जाने लगा।

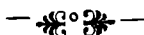
स्वामी रामतीर्थ द्वारा संस्कृत की पढाई

एकबार का जिक्र है कि स्वामी रामतीर्थ को बेदान्त की विवेचना करते देखकर एक संस्कृत के विद्वान् ने ताना मारते हुऐ कहा कि जब आप संस्कृत नहीं जानते तब आपको धर्म शास्त्रों की विवेचना करने का क्या अधिकार है ? बात उन्हें चुभ गई और उसी दिन से उन्होंने संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों में उन्होंने संस्कृत में इतनी विद्वत्ता प्राप्त करली कि वेदों का भाष्य करने की तैयारी करने लगे।

श्री रानाडे का नाई गुरु

बम्बई हाईकोर्ट के जज गोविन्द रानाडे को बङ्गला भाषा सीखनी थी पर समय का अभाव था। अध्यापक ढूँढ़ने की कठिनाई थी। अतः उन्होंने प्रतिदिन एक बङ्गलाभाषी नाई से हजामत बनवाने की व्यवस्था करली। जितनी देर हजामत बनती जज साहब उससे बँगला सीखते रहते। एक दिन उनकी धर्मपत्नी ने कहा लोग आपको ऐसा करते देखेंगे तो आपका सम्मान घटेगा। रानाडे हँसते हुये बोले दत्तात्रेय ने तो पशु-पक्षियों तक को गुरु बनाया था मैंने नाई गुरु बना लिया तो इसमें असम्मान की कौन-सी बात रही ?

कोई मन्दबुद्धि व्यक्ति भी यदि मनोयोग एवं तत्परता पूर्व अध्ययन आरम्भ करे तो वह भी उस समय में विद्वान् बन सकता है यह निश्चित है। लोग आलस और अनुत्साह के कारण ही ज्ञान धन से वंचित रह जाते हैं और बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े हुए और मानसिक दृष्टि से दरिद्र बने रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए कालिदास, वोपदेव, वरदराज के उदाहरण बहुत प्रेरणाप्रद हैं।



ज्ञान-प्रसार के कुछ पुण्य-प्रयास

आचार्य शंकर द्वारा मात्रमोह मुक्ति

सन्यास के पूर्व माता की आज्ञा प्राप्त करने के लिये जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने बड़ी अनुनय-विनय की पर माँ ने एक न सुनी । बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ममता का त्याग आवश्यक है अतः अब उन्हें एक दूसरा उपाय सूझा । एक दिन नदीमें स्नान कर रहेथे । किनारे माता बैठी पुत्र का स्नान करना देख रही थी । शंकराचार्य जल में कूद कर चिल्लाने लगे, कोई मुझे बचाओ, मगर ने पकड़ लिया है । माँ इससे घबड़ा उठी, कोई भी पास जाने को तैयार न था । जगद्गुरु ने माता को पुकारा माँ मुझे बचाना चाहती है तो मुझे शंकर को सौंप दे वही मेरी रक्षा कर सकते हैं । मरने से तो बेटे का संन्यासी होना अच्छा है यह सोचकर माता ने बेटे को शङ्कर की भेंट दे दिया । शङ्कराचार्य धीरे-धीरे बाहर निकल आये । अब उनके आगे कोई बाधा न थी । संसार के कल्याण को शंकराचार्य ने माता के मोह के अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझा और भारत के कौने-कौने में घूमकर उन्होंने सद्ज्ञान का अलख जगाया ।

रामानुज द्वारा रुढ़ि खण्डन

गुरु शठकोपाचार्य ने शिष्य रामानुज को ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी । पर साथ ही यह भी कहा कि इसे किसी को बताना मत । नहीं तो नरक में जाना पड़ेगा ।

अगले दिन से रामानुज विद्या का सार्वजनिक प्रचार करने लगे । उनसे कहा यदि इस ज्ञान को प्राप्त कर सब लोग अपना कल्याण पथ प्रशस्त करते हैं तो बताने का पाप करके नरक में जाने का मुझे तनिक भी भय नहीं ।

शठकोपाचार्य ने जब रामानुज की उदार कठिनाइयों का विवरण सुना तो क्षुब्ध नहीं वरन् प्रसन्न ही हुए ।

अध्यापक गोखले

उस समय जब गोपाल कृष्ण गोखले ने बी० ए० की परीक्षा उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण की, देश में शिक्षा का बड़ा अभाव था । फिर इतनी उँची शिक्षा प्राप्त किसी भी युवक के लिये बड़े से बड़ा सरकारी भोहदा मिल सकना कोई कठिन बात न थी ।

जीवन में आर्थिक उन्नति का अवसर होने पर भी गोपालकृष्ण गोखले उसके प्रलोभन में नहीं फँसे । उन्होंने अपनी शिक्षा का उद्देश्य जनहित ही माना । अतः जहाँ वे ऊँचे सरकारी पद पर पहुँच कर हजारों रुपये वेतन और बहुत-सा सम्मान प्राप्त कर सकते थे । वहाँ उन्होंने देश की शिक्षा दूर करने के मन्तव्य से “दक्षिणी शिक्षा समिति” की आजीवन सदस्यता स्वीकार की । यह समिति अपने कार्यकर्त्ताओं को केवल ३५) मासिक भत्ता ही दिया करती थी । गोखले उन ३५) रुपये में अपना और परिवार का निर्वाह करते हुये समिति के फर्गुसन में राजनीति, अर्थशास्त्र और इतिहास पढ़ाया करते थे । बाद में लोक-मान्य तिलक के त्याग पत्र दे देने पर उन्हें गणित भी पढ़ानी पड़ती थी ।

स्वामी राम द्वारा विद्या का उपयोग

अभावों के बीच रहते हुये भी स्वामी रामतीर्थ ने एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । उनकी प्रतिभा देखकर कालेज के प्रिंसिपल ने आई० सी० एस० में जाने के लिये परामर्श और सिफारिश कर देने का वचन दिया । स्वामी राम ने उस समय की उच्चतम सरकारी नौकरी का प्रलोभन ठुकराते हुये कहा “इस कठिनाई से प्राप्त की हुई विद्या को मैं कोड़ी मोल में बेचना नहीं चाहता, इसका उपयोग तो मानव जाति की सेवा में ही करूँगा ।

ज्ञान-वृद्धि के पुण्यप्रयास

पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने जहाँ स्वराज्य आन्दोलन के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया वहाँ उन्होंने भारतीय जनमा के

बौद्धिक, शिक्षा स्तर को ऊँचा उठाने के लिये भी बहुत बड़ा काम किया था। स्वयं एक प्रभावशाली वक्ता और विचारक थे। हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना करके देश में एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा संस्थान खड़ा किया जिसमें आज भी देश और विदेश के छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लोगों को भी उन्होंने विद्या के प्रसार कार्य में लगाया।

महात्मा हंसराज पंजाब के प्रसिद्ध जनसेवी नेता थे। उन्होंने समाज में धार्मिक एवं बौद्धिक शिक्षण का बहुत बड़ा काम किया। उन्होंने सर्व प्रथम डी० ए० बी० कालेज की स्थापना की जिसके अनुसार पंजाब भर में अनेकों स्कूल, कालेज, पाठशालायें स्थापित की गईं। ज्वालापुर का गुरुकुल तथा वानप्रस्थाश्रम उन्हीं के सत्परिश्रम का फल है।

महात्मा हंसराज अपने विद्यार्थी जीवन में अपना अधिकांश समय अनपढ़ों की चिठियाँ लिखने में लगाया करते। एक दिन उनकी माता ने कहा तुम्हें अपनी पढ़ाई का भी कुछ ध्यान है। या योंही दूसरों की बेगार में समय बर्बाद करते रहोगे? हंसराज ने उत्तर दिया, माताजी जिस पढ़ाई से दूसरों का हित न होता हो ऐसी शिक्षा से क्या लाभ?

राजा महेन्द्रप्रताप बड़े देश-भक्त माने जाते हैं। उन्होंने स्वाधीनता के लिये बड़े-बड़े काम किये लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था प्रेम महाविद्यालय की स्थापना करके जन-शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ा अभाव पूरा करना। इस संस्था के माध्यम से बहुत बड़े-बड़े जनसेवी कार्यकर्त्ताओं का प्रादुर्भाव हुआ।

आचार्य नरेन्द्र देव स्वयं एक बड़े विद्वान, कुशल जननेता, लोकसेवी पुरुष थे। लेकिन इससे भी बढ़कर उन्होंने जनशिक्षा के लिए बहुत काम किया। काशी विद्यापीठ की स्थापना अन्य अनेक विद्वानों एवम् साधन सम्पन्न लोगों के सहयोग से करके उन्होंने जनशिक्षा के लिये एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आज भी उक्त शिक्षा संस्थान भारत के महत्त्वपूर्ण संस्थानों में से है।

स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल काँगड़ी जैसे विश्वविद्यालय की स्थापना की। इस शिक्षा संस्था द्वारा भारतीय धर्म एवं संस्कृति की सेवा करने वाले सहस्रों छात्र निकले और उन्होंने राष्ट्रीय स्तरको ऊँचा उठाने में सराहनीय योगदान दिया।

श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर की गणना विश्व कवियों में की जाती है। वे स्वयं एक ऋषि और दृष्टा थे। साहित्य साधना के द्वारा उन्होंने मानव जाति की बहुत बड़ी सेवा की थी। ज्ञानोपासना तक ही अपना कार्य सीमित न रखकर श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने विश्व-भारती संस्था की स्थापना करके कलाकार, विद्वान्, होनहार प्रतिभाओं को आगे बढ़ाने के लिये एक बहुत बड़ा काम किया। उक्त संस्था आज भी भारत में एक महत्वपूर्ण शिक्षा संस्थान है। रवीन्द्र को गीताञ्जलि पर विश्व प्रसिद्ध नोबुल प्राइज मिला था जिसकी रकम को उन्होंने अपने उपयोग में न लेकर संस्था में लगा दिया। रवीन्द्र साहित्य के ही साधक नहीं थे वरन् सरस्वती पुत्र थे, एक कलाकार और कवि भी थे। उन्होंने कला-साहित्य ज्ञान-साधना को जनसेवा का माध्यम बनाया।

आदर्श कथावाचक पद्मनाभ

“ज्ञान दान का प्रतिफल धन के रूपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये। निस्वार्थ शिक्षण का ही प्रभाव जन मानस पर पड़ता है।”

यह शास्त्र वचन गरीब पद्मनाभ ने सुनकर विचार किया और विचार करके उसे कार्यान्वित करने की ठानी।

पद्मनाभ कथा कहते थे। कथा में जो धन चढ़ाया जाता था उसी से अपनी गुजर करते। पर जब उनके अन्तःकरण ने यह मान लिया कि ज्ञान दान का प्रतिफल स्वीकार नहीं करना चाहिये तो उन्हें एक सच्चे विचारक की तरह उस लक्ष्य को कोई रूप में लाना ही था।

उन्होंने आजीवन हरि कथा कहकर जन-मानस में भक्ति भावना जागृत करने का अपना क्रम यथावत जारी रखा। पर गुजारे के लिये

लकड़ी काटकर बेचने का धन्धा अपना लिया । लकड़हारे की कथा जनता को भी अधिक हृदयग्राही बनी और कथावाचक का भी कल्याण हुआ ।

पुरुषार्थी ज्ञान दानी

जिन दिनों पंजाब भर में उर्दू और फारसी का जोर था, हिन्दी की ओर किसी का ध्यान भी न था उन दिनों गो० गणेशदत्तजी ने हिन्दी प्रचार व्रत लिया कि वे नियमित रूप से लोगों को हिन्दी पढ़ावेंगे । यह काम बड़ा कठिन था, कोई पढ़ने को तैयार न होता था । निदान उन्होंने एक कनस्तर हाथ में लेकर लायलपुर के सारे शहर में स्वयं यह मुनादी की कि “जो भाई हिन्दी पढ़ना चाहें निःशुल्क हिन्दी पढ़ाई जायगी ।” मुश्किल से कुछ छात्र मिले तो उनको पढ़ाने के लिये जगह का प्रबन्ध न हुआ । इस पर उन्होंने एक खुले स्थान पर बैठकर मिट्टी के तेल की कुप्पी के प्रकाश में अपनी हिन्दी पाठशाला आरम्भ कर दी । उनकी यह पाठशाला कुछ समय बाद हाईस्कूल बन गई । इतना ही नहीं गोस्वामी जी ने भारत विभाजन होने से पूर्व पंजाब में ६० डिग्री कालेज, १५० इण्टर कालेज, १०० कन्या पाठशालाएँ, १०० मिडिल स्कूल और ४ ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित किये जो सन् ४७ तक बड़ी शान से चल रहे थे ।

लाला देवराज ने कन्या महाविद्यालय की स्थापना की और बालिकाओं के शिक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया । महर्षि कर्वे द्वारा स्थापित महिला सस्थाओं ने नारी शिक्षा को आगे बढ़ाने में बहुत काम किया । हाथरस का कन्या गुरुकुल माता लक्ष्मी देवी के अपने पुरुषार्थ का फल है ।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माध्यम से हिन्दी प्रचार एवं विद्या वृद्धि के लिए बहुत बड़ा काम किया । इस प्रकार के महापुरुषों की बहुत बड़ी संख्या है जिनने मनुष्य के वास्तविक कल्याण के माध्यम ‘ज्ञान’ को अधिकाधिक व्यापक बनाने के लिये शक्ति भर प्रयत्न किया । ऐसे सभी लोग अभिनन्दनीय हैं ।



अनेक लेखक, कवि पत्रकार, वक्ता, गायक जन-साधारण का मानसिक स्तर विकसित करने के लिये जो कार्य करते रहे हैं उसका मूल्य कम नहीं जन-जागरण का महान् प्रयोजन ज्ञान साधना से ही सम्भव होता है और उसी के आधार पर कोई व्यक्ति या राष्ट्र सुविकसित होता है।



ज्ञान साधना और उसके साधक

भगवान् बुद्ध

राजपुत्र मिद्धार्थ ने अर्द्ध रात्रि में अपने घर का त्याग किया और जीवन तथा जगत का तत्त्वज्ञान जानने के लिए वन का आश्रम लिया। वहाँ उन्होंने कई वर्षों तक घोर तप और ज्ञान-साधना की। तत्पश्चात् उन्हें एक दिन समाधिस्थिति में ज्ञान प्राप्त हुआ और वे आजीवन लोगों को उस ज्ञान का प्रसाद बाँटने में ही लगे रहे। बौद्ध धर्म का विस्तार भगवान् बुद्ध के प्रचार कार्य का ही परिणाम है। हजारों भिक्षु-भिक्षुणियों के द्वारा उन्होंने मानव समाज में धर्म, ज्ञान, प्रसार तथा संगठन आदि का कार्य किया। गिरे हुएों को उठाया। अंगुलिमाल से लेकर अम्बा-पाली तक अनेकों पतितों को उन्होंने ज्ञान का अमृत पिला कर ऊँचा उठाया। वाममार्गी अनाचार का अन्धकार हटाकर उन्होंने भारत ही नहीं विदेशों तक में सद्ज्ञान का प्रकाश पहुँचाया।

दत्तात्रय के चौबीस गुरु

परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रय का दर्शन पाकर राजा यदु ने अपने को धन्य माना और विनयावनत होकर पूछा—“धृष्टता क्षमा करें तो एक जिज्ञासा उपस्थित करूँ” अवधूत ने कहा—‘राजन् ! जो कहना हो निःसंकोच होकर कहो।’



यदु ने पूछा, “आपके शरीर, वाणी और भावनाओं से प्रचण्ड तेज ठपक रहा है। इसे सिद्धावस्था को पहुँचाने वाला ज्ञान आपको जिन सद्गुरु द्वारा मिला हो उनका परिचय मुझे देने का अनुग्रह कीजिए।”

अवधूत ने कहा—“राजन् ! सद्गुरु किसी व्यक्ति विशेष को नहीं मनुष्य के शुणगाही दृष्टिकोण को कहते हैं। विचारशील लोग सामान्य वस्तुओं और घटनाओं से भी शिक्षा-ग्रहण करते और अपने जीवन में धारण करते हैं अतएव उनका विवेक बढ़ता जाता है। यह विवेक ही सिद्धियों का मूल कारण है। अविवेकी लोग तो ब्रह्मा के समान गुरु को पाकर भी कुछ लाभ नहीं उठा पाते। दूसरा कोई किसी का हित साधन नहीं करता, उद्धार तो अपनी आत्मा के प्रयत्न से ही हो सकता है।”

“सो हे नर-नायक ! मेरे अनेक गुरु हैं। जिनसे भी मैंने ज्ञान और विवेक ग्रहण किया है उन सभी को गुरु मानता हूँ। पर उनमें २४ गुरु प्रधान हैं।”

राजा यदु ने जिज्ञासापूर्वक कहा—“उन सद्गुरुओं का वर्णन करें तो मैं अपने भाग्य को बहुत सराहूँगा।”

दत्तात्रेय अवधूत बोले—“हे राजन् ! पृथ्वी, वायु, गगन, जल, यम, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंगा, मधुमक्खी, भौंरा, हाथी, हिरन, पिंगला वेश्या, कौआ, बालक, स्त्री, लुहार, सर्प मकड़ी और भृङ्ग यही मेरे चौबीस गुरु हैं।”

उत्सुकतापूर्वक अधिक जानने की इच्छा करने वाले राजा यदु का समाधान करने की दृष्टि से विद्यानी अवधूत ने और भी कहा—हे पृथ्वीपति ! धूल, शीत, वर्षा को धैर्यपूर्वक सहन करने वाली, लोगों द्वारा मलमूत्र त्यागने और पदाघात करने जैसी अभद्रता करने पर भी क्रोध न करने वाली, अपनी, कक्षा और मर्यादा पर निरन्तर नियत गति से घूमने वाली पृथ्वी को मैंने गुरु माना और उसके इन सद्गुणों को सीखा।

अचल होकर न बैठना, निरन्तर गतिशील रहना, संतप्तों को साम्त्वना देना, गन्ध को वहन करना पर स्वयं निर्लिप्त रहना, यह विशेषता मैंने पवन में पाई और उन्हें सीखकर उसे गुरु माना ।

अनन्त और विशाल होते भी, अनेक ब्रह्माण्डों को अपनी गोदी में भरे रहने वाले, ऐश्वर्यवान् रहते हुए भी रंच भर अभिमान न करने वाले आकाश का यह गुण मुझे बहुत प्रिय लगा । वही बात स्वयं भी आचरण में लाने का प्रयत्न आरम्भ करते हुए मैंने उसे अपना गुरु वरण किया ।

सबको शुद्ध बनाना, सदा सरल और तरल रहना, आतप को शीतलता में परिणत करना, वृक्ष, वनस्पतियों तक को जीवनदान करना, समुद्र का पुत्र हुए भी घर-घर आत्मदान के लिये जा पहुंचना—इतनी अनुकरणीय महानतायें जल में देखीं तो उसे गुरु मानना ही उचित समझा ।

अभिवृद्धि पर नियन्त्रण करके सन्तुलन स्थिर रखना, अनुपयोगी को हटा देना, मोह के बन्धनों से छुड़ाना, और थके हुआओं को अपनी गोद में विश्राम देने के आवश्यक कार्य में संलग्न यम को देखा तो उन्हें भी गुरु बना लिया ।

निरन्तर प्रकाशवान् रहने वाली, ऊष्मा को आजीवन बनाये रखने वाली, दबाव पड़ने पर भी अपनी लपटें ऊर्ध्वमुख ही रखने वाली, बहुत प्रयास करके भी संग्रह से दूर रहने वाली स्पर्श करने वाले को अपना ही रूप बना लेने वाली, समीप रहने वालों को भी प्रभावित करते रहने वाली, अग्नि मुझे आदर्श लगी, अतएव उसे गुरु वरण कर लिया ।

अपने पास प्रकाश न होने पर सूर्य से याचना कर पृथ्वी को चाँदनी का दान देते रहते वाला परमार्थी चन्द्रमा मुझे सराहनीय लोक-सेवक लगा । विपत्ति में सारी कलाएँ क्षीण हो जानै पर भी निराश होकर न बैठना और फिर आगे बढ़ने के साहस को बार-बार करते रहना

धैर्यवान् चन्द्रमा का श्रेष्ठ गुण कितना उपयोगी है यह देखकर मैंने उसे गुरु बनाया ।

नियत समय पर अपना नियत कार्य अविचल भाव से निरन्तर करते रहना, स्वयं प्रकाशित होना और दूसरों को प्रकाशित करना, सूर्य का यह सद्गुण इसी योग्य था कि उन्हें गुरु माना जाय ।

पेड़ के नीचे बिछे हुए जाल में पड़े दाने देखकर लालची कबूतर आलस्यवश अन्यत्र न गया और उतावली में बिना कुछ सोचे-विचारे ललचा गया और जाल में फँसकर अपने प्राण गँवा बैठा । यह देखकर मुझे ज्ञान उपजा कि लोभ से, अविवेक से पतन होता है । जिससे यह मूल्यवान शिक्षा मिली वह कबूतर भी मेरा गुरु ही तो है ।

शीत ऋतु में अङ्ग जकड़ जाते और वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध रहने के कारण भूखा अजगर मिट्टी खाकर काम चला रहा था और धैर्यपूर्वक दुर्दिन को सहन कर रहा था । उसकी इस सहनशीलता ने मुझे अपना अनुयायी और शिष्य बना लिया ।

नदियों द्वारा निरन्तर असीम जल की प्राप्ति होते रहने पर भी अपनी मर्यादा से आगे बढ़ने वाला, रत्न-राशि के भाण्डागारों का अधिपति होने पर भी न इतराने वाला स्वयं खारी होने पर भी बादलों को मधुर जल दान करते रहने वाला समुद्र मेरे लिये इतना शिक्षण कर रहा था तो उसे गुरु कैसे न मानता ?

लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्राणों की परवा न करके अग्रसर होने वाला पतङ्गा जब दीपक की लौ पर जलने लगा तो आदर्श के प्रति उसकी अविचल निष्ठा ने मुझे बहुत प्रभावित किया । जलते पतङ्गों को जब मैंने गुरु माना तो उसकी आत्मा ने कहा—नश्वर जीवन को महत्त्व न देते हुए सच्चे आस्थावान को आदर्श के लिये त्याग करने को उद्यत रहना चाहिए ।

पुष्पों का मधुरस सञ्चय करके दूसरों के लिये समर्पण करने की

जीवन साधना में लगी हुई मक्खी संसार को सिखा रही थी कि मनुष्य स्वार्थी नहीं परमार्थी बने। मैंने उसका सन्देश सुना और शिष्य भाव से ग्रहण कर लिया। इन उपदेशदात्री देवियों को गुरु ही तो मुझे मानना चाहिए था।

राग में आसक्त भौंरा अपना जीवन-मरण न सोचकर कमल पुष्प पर ही बैठा रहा, रात को हाथी ने वह फूल खाया तो भौंरा भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। राग में आसक्त प्राणी किस प्रकार अपने प्राण गँवाता है यह शिक्षा अपने गुरु भौंरा से मैंने सीखी और गाँठ बाँधली

कामातुर हाथी मायावी हथिनियों द्वारा प्रपंच में फँसाकर बन्धन में बाँध दिया गया और फिर आजीवन त्रास भोगता रहा, यह देखकर मैंने वासना के दुष्परिणामों को समझा और उस अविवेकी प्राणी को भी अपना गुरु माना।

कानों के विषय में आसक्त मृग को बधिकों के द्वारा पकड़े जाते और जिह्वा की लोलुप मछली को मछुए के जाल में तड़फते देखा तो सोचा कि इन्द्रियालिप्सा के क्षणिक आकर्षण में जीव का कितना बड़ा अहित होता है। इससे बचे रहना ही बुद्धिमानी है। इस प्रकार ये प्राणी भी मेरे गुरु ही ठहरे।

पिंगला वेश्या जब तक युवा रही तब तक उसके अनेक ग्राहक रहे। वृद्ध होते ही वे सब साथ छोड़ गये। रोग और दारिद्र्य ने उसे घेर लिया। लोक में निन्दा और परलोक में दुर्गति देखकर मैंने सोचा कि समय चूक जाने पर पछताना ही शेष रह जाता है, सो समय रहते वे सत्कर्म करने चाहिये जिनसे पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े। यह दुखियारी पिंगला, जिसने अपना और दूसरों का जीवन पतित बनाया, सद्-गृहस्थ का आनन्द और पतिव्रत धर्म द्वारा परलोक साधन का व्यवहार गँवा कर बहुत पछता रही थी। उस पश्चात्ताप से दूसरों को सावधानी का सन्देश देने वाली पिंगला भी मेरे गुरु पद पर प्रतिष्ठित हुई।



काक-पक्षी किसी पर विश्वास न करके और घूर्तता की नीति अपनाकर घाटे में ही रहा। उसे सब का तिरस्कार मिला और अभक्ष खाकर सन्तोष करना पड़ा। यह देखकर मैंने जाना कि घूर्तता और स्वार्थपरता की नीति अन्ततः हानिकारक ही होती है। यह सिखाने वाला कौआ भी नेरा गुरु ही है।

राग-द्वेष, चिन्ता, काम, लोभ, क्रोध आदि दुर्गुण से रहित जीव कितना कोमल, सौम्य और सुन्दर लगता है, कितना सुखी और शान्त रहता है। उसका प्रत्यक्ष दर्शन मुझे अबोध बालक में हुआ और वैसा ही बनने के लिए बच्चे को अपना आदर्श माना तथा उसे गुरु कहा।

एक स्त्री चूड़ियाँ पहने धान कूट रही थी। चूड़ियाँ आपस में खड़कती थीं। स्त्री चाहती थी कि उसके घर आए मेहमानों को इसका पता न चले। इसीलिए उसने हाथों की और चूड़ियाँ उतार दीं। एक-एक ही रहने दी तो उनका खड़कना भी बन्द हो गया। इस दृश्य को देख कर मैंने सोचा अनेक कामनाओं के रहते मन में संघर्ष उठते रहते है। पर यदि एक ही लक्ष्य नियत कर लिया जाय तो सभी उद्वेग शान्त हो जायें। जिस स्त्री से यह प्रेरणा मिली उसे भी मैं गुरु ही मानता हूँ।

लुहार अपनी भट्टी में लोहे के टूटे-फूटे टुकड़े गरम करके हथौड़े की चोट से कई तरह के औजार, उपकरण बना रहा था। उसे देखकर समझ में आया कि निरुपयोगी और कठोर प्रतीत होने वाले मनुष्य भी यदि अपने को तपाने और चोट सहने की तैयारी कर लें तो उपयोगी उपकरण बन सकते हैं। लुहार की क्रिया को देखा और उससे जो निष्कर्ष निकला वह गुरु दीक्षा जैसी प्रेरणा ही थी।

सर्प दूसरों को त्रास देता है और प्रत्युत्तर में सब ओर से त्रास पाता है। यह शिक्षा देने वाला वह दुर्बुद्धिग्रस्त प्राणी यही बताता है कि उद्वेग, क्रोधी, आक्रामक और आततायी होना किसी के लिये भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। यह शिक्षा शिरोधार्य करके सर्प को भी मैंने अपना पथ-प्रदर्शक ही गिन लिया।

मकड़ी अपने पेट में से रस निकाल कर उससे जाला बुन रही थी और जब चाहती थी उसे मुँह में समेट कर फिर पेट में निगल लेती थी। मुझे सूझा कि अपनी दुनियाँ हर मनुष्य अपनी भावना के अनुरूप ही गढ़ता है और यदि चाहे तो पुराने को समेट कर पेट में रख लेना और नया वातावरण बना लेना भी उसके लिए सम्भव और सरल हो सकता है। मकड़ी अपनी क्रिया द्वारा मनुष्यों का महत्त्वपूर्ण पथ-प्रदर्शन करती है। यह देखा तो गुरु भाव से मैंने उसे प्रणाम किया।

भृङ्ग कीड़ा एक झींगुर को पकड़ कर लाया और अपनी भुन-भुनाहट से प्रभावित कर उसे अपने समान बना लिया। यह दृश्य देख कर मैंने सोचा एकाग्रता और तन्मयता की अर्चना द्वारा मनुष्य अपना शारीरिक और मानसिक काया-कल्प कर डालने में भी सफल हो सकता है। इस प्रकार भृङ्ग भी मेरा गुरु ही ठहरा।

चौबीस गुरुओं का वृत्तान्त सुनाकर अवधूत दत्तात्रय ने राजा यदु से कहा—गुरु बनाने का उद्देश्य जीवन का प्रगति पथ पर अग्रसर करने वाला प्रकाश प्राप्त करना ही तो है वह कार्य अपनी गुणग्राहक विवेक बुद्धि के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए सर्व प्रथम गुरु है विवेक और उसके पश्चात् अन्य सब ज्ञान-प्राप्ति का आधार बनते हैं।

चौबीस गुरुओं का वर्णन महा नेजस्वी अवधूत के मुख से सुनकर राजा को बड़ा सन्तोष हुआ और उसने अपने को कृतकृत्य माना।

कच का संजीवन विद्या प्राप्त करना

देवता युद्ध में जिन असुरों को मारते उन्हें ही शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्या से जिन्दा कर लेते। इससे देवताओं की संख्या दिनों-दिन कम होने लगी। बहुत सोच-बिचार के बाद शुक्राचार्य जी से संजीवनी विद्या सीखने की बात तय हुई, लेकिन असुरों के बीच रह कर सीखने की हिम्मत कौन करे। अन्ततः कच ने यह साहस किया और वह शुक्राचार्य जी के पास जाकर विद्या ग्रहण करने लगा। वहाँ उसे असुर



सहपाठियों के घोर विरोध का सामना करना पड़ा, कई बार उसे बड़े कष्ट देकर मार डाला गया लेकिन शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या से उसे जीवित कर लिया। सब तरह के कष्ट सह कर भी कच ने हिम्मत नहीं हारी और उसने अपनी शिक्षा पूर्ण की।

कैयट की ज्ञान साधना

व्याकरण महाभाष्य पर टीका लिखने वाले कैयट एक असाधारण व्यक्ति थे। ईश्वर आराधना, स्वाध्याय, चिन्तन में अधिकांश समय लगने के कारण घरेलू खर्च में बड़ी कठिनाई आती थी। उनकी पत्नी मूँज की रस्सियाँ बनाया करती थीं इससे जो आमदनी होती थी उसी से उनका गुजारा चलता था। यह खबर राजा के पास पहुँची तो वे स्वयं जा कर बोले “भगवन् ! हमारी सेवा स्वीकार कीजिये, प्रजा कष्ट उठाती है तो उसका अपराध राजा को लगता है।” कैयट ने कहा “राजन् ! आत्म-निर्भरता ही मनुष्य की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। मैं तो कहूँगा तुम और महारानीजी भी अपनी ही कमाई खाकर प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में काम किया करो।” इस उत्तर से राजा बड़ा प्रभावित हुआ और अपने श्रम की कमाई से जीवनयापन करने लगा।

ज्ञानी अष्टावक्र

राजा जनक जन-पथ से गुजर रहे थे। उनके सैनिक मार्ग में चल रहे लोगों को एक ओर हटाते जा रहे थे। कुछ दूर मार्ग में उन्हें टेढ़े-मेढ़े शरीर का एक व्यक्ति मिला उससे भी मार्ग में से हटने को कहा गया। लेकिन वह बोला “यह जन मार्ग है यहाँ सभी को चलने का अधिकार है। यदि राजा इतने लम्बे-चौड़े मार्ग से नहीं गुजर सकता तो किसी अन्य रास्ते होकर चला जाय।” सैनिकों ने हड़ता भरे शब्दों को सुनकर राजा से शिकायत की। महाराज जनक ने सोचा कि जिसमें स्वाभिमान और मानवीय गरिमा का इतना तेज है वह अवश्य कोई महान् व्यक्ति होगा और राजा नम्रतापूर्वक उनके पास गया। अपनी

सूक्ष्म बुद्धि से राजा ने उक्त व्यक्ति की गरिमा को समझ लिया और उसे सादर अपना राज गुरु बनाया, जिन्हें लोग अष्टावक्र के नाम से जानते हैं ।

विद्या-प्रेमी राजा भोज

राजा भोज का विद्या प्रेम प्रसिद्ध है । वे स्वयं ही विद्वान् न थे वरन् विद्वानों की मदद करने, उनको सन्मान और प्रतिष्ठा देने के लिए सदैव प्रयत्न करते रहे । उनके दरबार में नवरत्नों की सभा थी जो अपने-अपने विषय में चोटी के विद्वान् थे । विद्वानों को प्रोत्साहित करने के लिए भोज ने पुरस्कार रखा था और हर वर्ष इस तरह का कार्य क्रम चलता था । नई रचना पर सर्वोच्च विद्वान् को एक बड़ा पुरस्कार दिया जाता था । राजा भोज ने अपने राज्य में जगह-जगह पाठशालायें भी स्थापित की थीं ।

तपोधन को इन्द्र का उपदेश

एक ब्राह्मण बालक तपोधन यौवनावस्था में ही घर-बार छोड़कर जंगल में तप करने के लिए चले गये । उन्होंने वहाँ बहुत से कष्ट सहें लेकिन अपनी तप-साधना से विलग नहीं हुए । एक दिन वे नदी किनारे साधना में लीन थे । इन्द्र एक ब्राह्मण का भेष धारण करके वहाँ आये और नदी में रेत के ढेले फेंकने लगे । तपोधन ने पूछा—“वृद्ध ब्राह्मण ! आप यह क्या कर रहे हैं ? इन्द्र ने जबाब दिया “नदी में पुल बांध रहा हूँ ।” तपोधन हंसे और बोले केवल मिट्टी डालने से ही कैसे पुल बँधेगा ? इसके लिए पत्थर, चूना, लकड़ियाँ भी तो चाहिए । अब इन्द्र ने प्रकट होकर कहा “तपोधन ! ज्ञान के बिना केवल तप से आत्म विकास करने की बात सोचना नदी में रेत के ढेलों से पुल बांधना है ।” और वे अदृश्य हो गये । तपोधन को अपनी भूल मालुम हुई और वे ज्ञान प्राप्ति में लग गये । जीवन क्षेत्र में ज्ञान के बिना मनुष्य के प्रयास प्रायः निष्फल हो जाते हैं ।

सद्ग्रन्थों की रक्षार्थ आत्म-बलिदान

दो हजार वर्ष पूर्व चीन का एक विद्वान् 'हुए-न सांग' भारतीय दर्शन शास्त्र पढ़ने नालंदा विश्वविद्यालय में आया। कितने ही वर्ष पढ़ने के बाद चीन लौटने को तैयार हुआ। उसने यहाँ के कितने ही धर्म ग्रंथ भी साथ लिये। उसे सिन्धु नदी के मुहाने तक पहुँचाने के लिये कुछ छात्र साथ गये। रास्ते में तूफान आया और नाव में पानी भरने लगा। अब क्या किया जाय? धर्म ग्रन्थों को और चीनी यात्री को सकुशल पार करने का एक ही उपाय था कि कुछ छात्र पानी में कूदें। नाव हलकी हो तब वह पार लगे। भारतीय विद्यार्थी खुशी-खुशी नदी में कूद पड़े। उनसे अपनी जान दे दी और अतिथि आगन्तुक की तथा ग्रन्थों की रक्षा करने अपनी महानता का परिचय दिया।

ज्ञानियों के साथ नरक भी स्वर्ग बन जाता है

नारदजी ने एक दिन अम्बरीष से पूछा कि तुम पाँच मूर्ख आदमियों के साथ स्वर्ग जाना पसन्द करते हो या पाँच बुद्धिमान आदमियों के साथ नरक जाना? अम्बरीष ने उत्तर दिया भगवन्! बुद्धिमान आदमियों के साथ नरक में रहना भी स्वर्ग में रहने के समान होगा। मूर्ख लोग तो स्वर्ग को भी नरक बना कर रख देंगे।

विदुषी महिलाएँ

मण्डन मिश्र शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वान् से शास्त्रार्थ में हार गये। इस पर मिश्र जी की स्त्री भारती ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव किया। दोनों में लम्बे समय तक शास्त्रार्थ चलता रहा। भारती की विद्वता का लोहा शंकराचार्य को मानना पड़ा। प्राचीन काल में भारत की प्रत्येक नारी उच्चकोटि की विदुषी होती थी। कोई घर ऐसा न था जिसमें महिलाएँ, पुरुषों के समान ही ज्ञानवान एवं विद्वान् न रही हों।

संस्कृत के विद्वानों में लीलावती नामक एक स्त्री का भी बहुत

बड़ा स्थान है। गणितशास्त्र की वह प्रकाण्ड विद्वान् थी। लीलावती गणित नामक उनकी पुस्तक प्रसिद्ध है।

वेदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के मन्त्र-दृष्टा जिस प्रकार अनेक ऋषि हैं, वैसे ही अनेक ऋषिकाएँ भी हैं। ईश्वरीय ज्ञान-वेद महान् आत्मा वाले व्यक्तियों पर प्रकट हुआ है और उनने वेद-मन्त्रों को प्रकट किया। इस प्रकार जिन पर वेद प्रकट हुए उन मन्त्र-दृष्टाओं की 'ऋषि' कहते हैं। ऋषि केवल पुरुष ही नहीं हुए हैं, वरन् अनेक नारियाँ भी हुई हैं। ईश्वर ने नारियों के अन्तःकरण में उसी प्रकार वेद-ज्ञान प्रकाशित किया जैसे कि पुरुषों के अन्तःकरण में हैं।

ऋग्वेद १०-८५ के सम्पूर्ण मन्त्रों की ऋषिका "सूर्या सावित्री" हैं। ऋषि का अर्थ निरुक्ति में इस प्रकार किया है 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेति। ऋषियो मन्त्र दृष्टारः।' अथात् मन्त्रों का दृष्टा और उनके रहस्यों को समझकर प्रचार करने वाला ऋषि होता है।

ऋग्वेद की ऋषिकाओं की सूची ब्रह्म देवता के २४ अध्याय में इस प्रकार है—

घोषा गाधा विश्ववारा, अपालोपनिषन्ति ।
 ब्रह्मा जाया जहूनमि अगस्त्यस्य स्वसादिति ॥
 इन्द्राणी चेन्द्र माता च सरमा रोमशोर्वशी ।
 लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वती ॥
 श्रीर्लक्ष्मीः सारंपराज्ञी वाकश्चद्धा मेधाचदक्षिणा ।
 रात्रि सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिता ॥

अर्थात्—घोसा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषत, जुहू, अदिति, इन्द्राणी, सरमा, रोममा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यमी, शाश्वती, सूर्या सावित्री आदि ब्रह्मवादिनी हैं।

ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह यज्ञ करती और करती थीं। वे यज्ञ-विद्या और ब्रह्म-विद्या में पारङ्गत थीं। कई नारियाँ तो इस सम्बन्ध में अपने पिता तथा पति का मार्ग-दर्शन करती थीं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सोम द्वारा 'सीता सावित्री' ऋषिका को तीन वेद देने का वर्णन विस्तार पूर्वक आता है।

“तं त्रयो वेदा अन्य सृजतन्य अथह सीतां सावित्री
सोम राजान चक्र में तस्या उहन्त्रीन वेदान प्रददौ।

—तैत्तिरीय० २।३।१०

इस मन्त्र में बताया गया है कि इस प्रकार सोम ने सीता सावित्री को तीन वेद दिये।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ऋषि की धर्मपत्नी मैत्रेयी को ब्रह्म-चादिनी कहा है—

तयाह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। ब्रह्मवादिनी का अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य जी ने “ब्रह्म वादन शीला” किया है। ब्रह्म का अर्थ है—वेद। ब्रह्म वादन शीला अर्थात् वेद का प्रवचन करने वाली।

जिस प्रकार पुरुष ब्रह्मचारी रहकर तप, स्वाध्याय, योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते थे, वैसे ही कितनी ही स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर आत्म-निर्माण एवं परमार्थ का सम्पादन करती थीं।

पूर्वकाल में अनेक सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारणी हुई हैं जिनकी प्रतिभा और विद्वत्ता की चारों ओर कीर्ति फैली हुई थी। महाभारत में ऐसी अनेक ब्रह्मचारिणियों का वर्णन आता है।

भरद्वाजस्य दुहिता रूपेण प्रतिमा भुवि।

श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी ॥

—महाभारत शल्य पर्व ४८।२

भरद्वाज की श्रुतावती नामक कन्या थी, जो ब्रह्मचारिणी थी ।
कुमारी के साथ-साथ ब्रह्मचारिणी शब्द लगाने का तात्पर्य यह है कि
वह अविवाहित और वेदाध्ययन करने वाली थी ।

**अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमार ब्रह्मचारिणी ।
योग युक्तादिवं माता, तपः सिद्धा तपस्विनी॥**

—महाभारत शल्य पर्व ५४।६

योग सिद्धि को प्राप्त कुमार अवस्था से ही वेदाध्ययन करने वाली
तपस्विनी, सिद्धा नाम की ब्राह्मणी मुक्ति को प्राप्त हुई ।

**वभूव श्रीमती राजन् शाण्डिल्य महात्मनः ।
सुता धृता व्रता साध्वी नियमता ब्रह्मचारिणी॥
साधु तत्त्वा तपो घोरे दुश्चरं स्त्री जनेन ह ।
गता स्वर्ग महाभागा देव ब्राह्मणो पूजिता ॥**

—महाभारत शल्य पर्व ५४।६

महात्मा शाण्डिल्य की पुत्री 'श्रीमती' थी, जिसने व्रतों को
धारण किया । वह वेदाध्ययन में निरन्तर प्रवृत्त थी । अत्यन्त कठिन तप
करके वह देवि ब्राह्मणों से पूजित हुई और स्वर्ग सिधारी ।

**अत्र सिद्धा शिवा नाम ब्राह्मणी वेद पारगा ।
अधीत्य सकलान् वेदान् लभेऽसन्देह मक्षयम् ॥**

—महाभारत उद्योग पर्व १०६।१८

शिवा नामक ब्राह्मणी वेदों में पारंगत थी, उसने सब वेदों को
पढ़कर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३२० में 'सुलभा' नामक ब्रह्म-
वादिनी संन्यासिनी का वर्णन है, जिनने राजा जनक के साथ शास्त्रार्थ

किया थे । इसी अध्याय के श्लोक ८२ में सुलभा ने अपना परिजन देते हुए कहा है—

प्रधानो नाम राजर्षि व्यक्तं ते श्रोत मागतः ।
कुले तस्य समुत्पन्ना सुलभां नाम विद्धिमाम् ॥
साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति माद्वधे ।
विनोता मोक्ष धर्मेषु घराभ्येका मुनिव्रतम् ॥

—महा० शान्ति पर्व ३२०।८२

मैं सुप्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में उत्पन्न सुलभा हूँ । अपने अनुरूप पति न मिलने से मैंने गुरुओं से शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करके संन्यास ग्रहण किया है ।

पाण्डव-पत्नी द्रौपदी की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए श्री आचार्य आनन्दतीर्थ (माधवाचार्य) जी ने 'महाभारत निर्णय' में लिखा है—

वेदाश्चप्युत्तम स्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिहा खिलाः ।

अर्थात् उत्तम स्त्रियों को कृष्णा (द्रौपदी) की तरह वेद पढ़ने चाहिये ।

तेभ्यादधार कन्ते द्वे, वपुनां धारिणी स्वधा ।

उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ, ज्ञान विज्ञान पारगे ॥

भागवत् ४।१।२४

“स्वधा के दो पुत्रियां हुईं, जिनके नाम वपुना और धारिणी थे । वे दोनों ही ज्ञान और विज्ञान में पूर्ण पारंगत तथा ब्रह्मवादिनी थीं ।”

विष्णु पुराण १।१० और १८।१९ में, मार्कण्डेयपुराण अ० ५२ में इसी प्रकार ब्रह्मवादिनी (वेद और ब्रह्म का उपदेश करने वाली) महिलाओं का वर्णन है ।

**सततं मूर्ति मन्तश्च वेदाश्चत्वार एव च ।
सन्ति यस्यश्च जिह्वाग्रं साच वेदवतीस्मृता ॥**

--ब्रह्म वैवर्तपुराण प्रकृति खण्ड १४।६५

‘उसे चारों वेद कण्ठाग्र थे, इसलिए उसे वेदवती कहा जाता था ।’

इस प्रकार की नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी, ब्रह्मवादिनी नारियां अगणित थीं। इनके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाली कन्याएं दीर्घ-काल तक ब्रह्मचारिणी रहकर वेदशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त विवाह करती थीं, तभी उनकी सन्तान संसार में उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह यशस्वी, पुरुषार्थी और कीर्तिमान होती थीं।

जब विद्याध्ययन करने के लिये कन्याओं को पुरुषों की ही भांति सुविधा थी, तभी इस देश की नारियां मार्गी और मंत्रेयी की तरह विदुषी होती थीं। याज्ञवल्क्य जैसे ऋषि को एक नारी ने शास्त्रार्थ में विचलित कर दिया था और उनसे हैरान होकर उसे घमकी देते हुए कहा था—
‘अधिक प्रश्न मत करो अन्यथा तुम्हारा अकल्याण होगा ।’

इसी प्रकार शंकराचार्य जी को भारतीदेवी के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ा था। उस भारतीदेवी नामक महिला ने शंकराचार्य जी से ऐसा अद्भुत शास्त्रार्थ किया था कि बड़े-बड़े विद्वान् भी अचम्भित रह गये थे। उसके प्रश्नों का उत्तर देने के लिये शंकराचार्य जी को निरुत्तर होकर एक मास की मौलत माँगनी पड़ी थी। शंकर-दिग्विजय में भारतीदेवी के सम्बन्ध में लिखा है—

सर्वाणि शास्त्राणि षडंग वेदान् ।

काव्यादि कान् वेत्ति परंच सर्वम् ।

तन्नास्ति नोवेत्ति यदत्र वाला ।

तस्मादभूच्चित्र पदं जानानाम् ॥

--शंकर-दिग्विजय ३।१६

“भारती देवी सर्वशास्त्र तथा अङ्गों सहित सब वेदों और काव्यों को जानती थीं। उससे बढ़कर श्रेष्ठ और विद्वान् स्त्री और न थी।”

सरोजनी नायडू भारत की उन स्त्री रत्नों में से थीं जो न केवल देश भक्त ही थीं अपितु विद्वान्, कवि और प्रतिभाशाली वक्ता भी थीं। उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से प्रेरणाप्रद राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत साहित्य का सृजन किया।

मदालसा बालकाल्य में ही अपने बच्चों को पालने में भुलाती हुई, उन्हें दूध पिलाते हुए, सुलाते हुए सदैव प्रेरणाप्रद ज्ञानमन्त्र दिया करती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके सभी पुत्र परम भागवत ज्ञानी और जीवनमुक्त सिद्ध हुए।

ज्ञान साधन का लक्ष्य और प्रयोजन

गुरु द्रोणाचार्य ने उस दिन शिष्यों को ‘सत्यंवाद’ पाठ पढ़ाया। दूसरे दिन परीक्षा हुई तो सभी ने पाठ सुना दिया। पर युधिष्ठिर ने कहा “गुरुदेव ! मुझे यह पाठ अभी तक याद नहीं हुआ।” आचार्य बड़े अप्रसन्न हुये तो शिष्य ने उत्तर दिया—देव, जो पाठ व्यवहार में न आये उसे याद हुआ कैसे मान लूँ ? शिष्य के उत्तर से गुरुदेव का हृदय खिल उठा।

आत्मबल ही सर्वोत्तम बल

विश्वामित्र उस समय राजा थे। वे एक दूसरे देश के ऊपर चढ़ाई करने जा रहे थे। मार्ग में उन्हें प्यास लगी तो जल के लिये अनुचरों को भेजा। पास ही महर्षि वशिष्ठ का आश्रम था। उन्हें जब मालुम हुआ कि प्रजापति विश्वामित्र उधर आ रहे हैं तो उन्होंने सेना सहित उनका सत्कार करने का सन्देश भिजवा दिया। एक वनवासी ऋषि इतने लोगों का सत्कार किस तरह करेगा इस पर सभी को आश्चर्य था। लेकिन महर्षि वशिष्ठ ने नन्दिनी विद्या के बल पर सभी का राजोचित सम्मान किया। विश्वामित्र के मन में इस विद्या को जानने की

जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उन्होंने महर्षि वशिष्ठ के समक्ष अपना अभि-
प्राय प्रकट किया। महर्षि ने कहा “राजन् यह विद्या उपयुक्त पात्र को
ही सिखाई जाती है।” विश्वामित्र यह उत्तर सुनकर क्रुद्ध हुए और उन्होंने
वशिष्ठ पर बल प्रयोग किया, किन्तु उन्हें पराजित न कर सके। अपनी
हार मानते हुए विश्वामित्र ने कहा क्षत्रिय बल को धिक्कार है, ब्रह्मबल-
आत्मबल एवं ज्ञानबल ही सर्वश्रेष्ठ बल हैं और राजपाट छोड़कर वे
तपस्या द्वारा आत्मज्ञान की साधना करने लगे।

गीतमी के शोक का समाधान

गीतमी का इकलौता पुत्र मर गया। शोक से बिह्वल होकर
वह लाश को लिये हुए भगवान् बुद्ध के पास पहुँची। उसे आशा थी कि
तथागत बालक को पुनः जीवित कर देंगे।

बुद्ध ने गीतमी को सन्तवना देते हुए कहा—किसी ऐसे घर से
थोड़ा जल माँग लाओ, जिसके घर में कभी कोई मृत्यु न हुई हो। उस
जल को अभिर्मात्रित करके तुम्हारे पुत्र का अभिसिंचन करूँगा और वह
पुनः जीवित हो उठेगा।

गीतमी, जल प्राप्त करने के लिए द्वार-द्वार पर घूमने लगी, पर
कोई घर ऐसा न मिला—जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। निराश वह
वापिस लौट आई।

तथागत ने कहा—भद्रे ! तुमने देखा, इस संसार में कोई घर
ऐसा नहीं जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो। इसी प्रकार कोई व्यक्ति
ऐसा नहीं जिसे मरना न पड़े। आज या कल, सभी अपने-अपने समय
पर मरते हैं—फिर उस विच्छिन्न प्रकृति फन्दे में फंसे हुए लोगों को क्यों
किसी के लिए शोक करना चाहिए ?

गीतमी का बोध जग पड़ा। वह मृत पुत्र का संस्कार करके घर
लौट गई। शोक को उसने विवेक द्वारा शान्त कर दिया।

सात को रोऊँ या एक को
एक किसान के एक ही बेटा था। एक दिन अचानक उसके बेटे



की मृत्यु हो गई। सारा घर शोक में डूब गया। पर किसान न रोया न दुखी हुआ। पत्नी बोली आपका हृदय कितना पत्थर का है कि आप रोये तक नहीं! किसान बोला आज रात मैंने एक सपना देखा। जिसमें मैं राजा बन गया था, मेरे सात राजकुमार थे। पर स्वप्न टूट गया तो कहीं कुछ भी न था। अब बताओ उन सातों के लिये रोक या इस एक के लिये? यह संसार ऐसा ही है अतः मृत्यु के लिये ज्ञानीजन शोक नहीं करते।

अन्तःशुद्धि सर्वप्रथम

सेठ की प्रार्थना भगवान् बुद्ध ने स्वीकार करली। नियत समय पर वे सेठ के घर पहुँच गये। सेठ ने स्वर्ण पात्रों में सजी भिक्षा आगे बढ़ाई पर भगवान् ने अपनी कच्ची मिट्टी का मौला-कुचैला गोबर में सना भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाकर कहा इसमें डाल दो। सेठ ने कहा भगवान् यह तो मौला-कुचैला है इसे धो डालने की आज्ञा दीजिये। स्वीकृति मिल गई। भिक्षा ग्रहण कर तथागत लौटने लगे तो सेठ ने नत मस्तक होकर पूछा भगवन्, आत्म-कल्याण की दीक्षा दीजिये। भगवन् तथागत बोले— मिट्टी की मौली हंडिया में जिस तरह भिक्षा उचित न थी उसी तरह पहले आत्म-कल्याण का प्रधान साधन अन्तःशुद्धि करनी चाहिये।

ज्ञानो की पहचान अक्रोध

दीक्षा देने को तो कई पंडित तैयार थे किन्तु उस व्यक्ति को यह पता न चल पाता था कि वह व्यक्ति ज्ञानी है या नहीं। उसकी पत्नी ने समस्या हल कर दी। जिसे वह व्यक्ति चुनता उसे घर आने का निमंत्रण दे आता। स्त्री ने एक पिंजड़े में कौवा बन्द कर रखा था जो भी आता उससे कहती महाराज! यह कबूतर कितना अच्छा है। कौवे को कबूतर कहने पर सभी नाराज होते और उस स्त्री को मूर्ख कहते हुये चले जाते। एक दिन एक महात्मा आये। वे स्त्री की बात पर नाराज नहीं हुए वरन् स्नेह से बोले, बेटी कौवे के यह गुण होते हैं अब तुम्हीं

सोचो यह कौवा है या कबूतर ? स्त्री ने पति को बताया इन्हें ही अपना गुरु बनालो । जानी वही कहला सकता है जो क्रोधी न हो ।

विश्वामित्र का तप, वशिष्ठ का सत्सङ्ग

वशिष्ठजी पहली बार आश्रम में आये थे । विश्वामित्र ने उनका बड़ा आदर सस्कार किया । विदाई के समय विपुल धन, सम्पत्ति के साथ एक हजार वर्ष की तपस्या का फल भी समर्पित किया । कुछ दिन बाद विश्वामित्र, वशिष्ठ के आश्रम में पधारे । वशिष्ठ ने भी उनका यथेष्ट सम्मान किया । चलते समय ऋषि ने धन, सम्पत्ति के साथ विश्वामित्र को एक दिन के सत्संग का फल दिया । इस पर विश्वामित्र को बड़ा क्षोभ हुआ । वशिष्ठ उनकी शङ्का समझ गये । समाधान के लिये शेषजी के पास पहुँचे । शेष भगवान् ने परीक्षा के तौर पर पृथ्वी का भार उठाने को कहा । विश्वामित्र ने एक हजार वर्ष की तपस्या का बल लगाया पर पृथ्वी हिली तक नहीं पर वशिष्ठ ने एक दिन के सत्संग के बल से सरलता से पृथ्वी का बोझ उठा लिया । विश्वामित्र की शङ्का मिट गई और उन्होंने सत्संग की महत्ता स्वीकार करली ।

विद्या से विनय

श्वेतकेतु ने चारों वेदों का अध्ययन कर लिया तो उसे अपनी विद्या का अहंकार हो गया । अध्ययन समाप्त कर घर लौटा तो अहंकार-वश अपने पिता को प्रणाम तक नहीं किया । महर्षि आरुणि ने पूछा— ऋषिवर ! ऐसी कौन-सी पुस्तक पढ़ ली जिससे इतना अहंकार होगया ? विद्या का स्वरूप तो विनय है । वही नहीं सीख सका तो विद्या कैसी ? श्वेतकेतु ने अपनी भूल स्वीकार की और अपना अहङ्कार त्याग दिया ।

न्यूटन का निरहङ्कार

गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के आविष्कर्ता सर आइजक न्यूटन कहा करते थे कि—लोग मुझे ज्ञानवान समझते हैं, पर जब मैं अपने उपलब्ध ज्ञान की ओर विश्व में फैली हुई महान् ज्ञान-गरिमा की तुलना करता हूँ

तो लगता है कि समुद्र के किनारे पर बैठकर घोंघे और सीपी बीनने वाले बालक की तरह ही मेरा तुच्छ प्रयास है ।

माँ नीति की ही शिक्षा दो

गाँधीजी को बचपन में उनके बड़े भाई ने मारा । वे रोते हुए माँ के पास शिकायत करने गये । माँ, ने प्यार से कहा—“मैं क्या करूँ, तू भी उसे मार’ इस पर गाँधीजी ने कहा—‘नहीं माँ, बड़े भाई को नहीं मारूँगा । तू मारने वाले को रोकती नहीं, उलटा मुझे ही बड़े भाई को मारना सिखाती है । माँ लज्जित हो गई ।’

सारी दुनियाँ ही स्कूल है

स्वामी रामतीर्थ जब छोटे थे, पड़ोस के गाँव के स्कूल में पढ़ने जाया करते थे । वे रास्ते में भी पुस्तकें पढ़ते जाते थे । एक दिन एक किसान ने कहा—बेटा यहाँ खेतों में कोई स्कूल थोड़े ही है जो यहाँ भी पढ़ते हो ? रामतीर्थ ने उत्तर दिया—काकाजी, मेरे लिए तो सारी दुनियाँ ही स्कूल है ।

आचरण द्वारा शिक्षा

एक बार कस्तूरबा बीमार थीं । उनकी बीमारी के निवारण के लिए गाँधीजी ने उन्हें नमक छोड़ने को कहा । कस्तूरबा इस बात पर झल्ला उठीं, बोलीं ‘कभी नमक छोड़ा जा सकता है ? आप तो विचित्र-विचित्र बात कह देते हो ।’

इस पर महात्मा गाँधी ने नमक छोड़ने का व्रत ही ले लिया । कस्तूरबा को अपनी हार माननी पड़ी ।

उपदेशक की पात्रता

एक बालक मिठाई बहुत खाता था, उसकी यह आदत उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ रही थी । बालक मानता नहीं था । निदान उसकी माता उसे रामकृष्ण परमहंस की शिक्षा का अधिक प्रभाव पड़ने की

आशा से उनके पास ले गई और प्रार्थना की कि आप इसे उपदेश देकर मिठाई खाना छोड़ दें। परमहंस ने उसे एक सप्ताह बाद आने को कहा। महिला चली गई। एक सप्ताह बाद आई तब उन्होंने बालक को उपदेश दिया और उसने मिठाई छोड़ भी दी।

महिला ने एक सप्ताह विलम्ब लगाने का कारण पूछा तो परमहंस ने कहा तब तो मैं मिठाई खाता था। जब बालक को उपदेश देना आवश्यक प्रतीत हुआ तो पहले मैंने स्वयं मिठाई छोड़ी तब बालक को कहा। जो करता है उसी की शिक्षा का प्रभाव भी पड़ता है।

अभिमन्यु की शिक्षा गर्भ में

अर्जुन कहीं अन्यत्र युद्ध के लिए गये हुए थे। पीछे से कौरवों ने मन्त्रणा करके चक्रव्यूह की रचना की और पाण्डवों को युद्ध के लिए ललकारा। अर्जुन के सिवा पाण्डवों में अन्य कोई भी चक्रव्यूह का भेदन नहीं जानता था। सब को बड़ी चिन्ता हुई। श्रीकृष्ण और अर्जुन के निकट भविष्य में लौटने की कोई आशा ही न थी। सबको चिन्तित देखकर अभिमन्यु ने कहा—“आप सब चिन्ता न करें, कौरवों के चक्रव्यूह का मैं तोड़ूंगा। “पूछने पर उसने बताया कि जब मैं मां के गर्भ में था तब एक बार पिताजी (अर्जुन) ने उन्हें चक्रव्यूह भेदन का विवरण सुनाया। मैं गर्भ में ही उसे समझता रहा और उसी ज्ञान के सहारे चक्रव्यूह का भेदन कर सकता हूँ।”

बच्चे का शिक्षाकाल

एक महिला शिकागो के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री कांसिल दैलैण्ड पार्कर से यह पूछने गई कि यह अपने बच्चों की शिक्षा कब से आरम्भ करे! पार्कर ने पूछा—आपका बच्चा कब जन्म लेगा? महिला ने कहा—वह तो पाँच वर्ष का हो गया। इस पर पार्कर ने कहा—मौडम, अब पूछने से क्या फायदा? शिक्षा का सर्वोत्तम समय तो पाँच वर्ष तक ही होता है। जो आपने यों ही गंवा दिया।



चाणक्य का, छोटों से भी सीखना

बालक रोटी का बीच का हिस्सा निकाल कर खाने लगा जिससे रोटी लुञ्ज-पुञ्ज हो गई। यह देखकर उसे डांटकर माता बोली—‘तू भी चाणक्य जैसा ही मूर्ख है।’ चाणक्य चन्द्रगुप्त के साथ गुप्तचर वेष में जा रहा था। गुरु की निन्दा सुनते ही चन्द्रगुप्त बिगड़ने लगा। पर चाणक्य ने समझाया—‘नहीं सेनापति जो निन्दक की बात ध्यान से सुनते हैं उनका भला ही होता है। दोनों उस स्त्री के पास गये। चाणक्य ने पूछा—‘माताजी चाणक्य किसलिए मूर्ख है?’ स्त्री बोली—‘भाई! वह बीच के देशों को जीतने का प्रयास करता है जिससे दुश्मनों से घिर जाता है और जीते हुए राज्य फिर स्वतन्त्र हो जाते हैं। यदि सीमावर्ती राज्य पहले जीते तो उनकी किलेबन्दी मजबूत हो सकती है।’ मगध का निर्माण इसी सिद्धान्त पर हुआ। अपनी गल्ती को ठीक करके जब उक्त बुढ़िया के बताये अनुसार चले तो मौर्य साम्राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप बना।

मूर्तिकार की साधना

पिता-पुत्र दोनों का काम था मूर्ति बनाकर बेचना। पिता की मूर्ति डेढ़ रुपये में बिकती थी। बेटे की मूर्ति आठ-दस आने में। पिता प्रतिदिन उसकी भूलों को समझाता रहता। बच्चा ध्यान से सुनता और सुधार करता। धीरे-धीरे बच्चे की मूर्तियां पांच रुपये में बिकने लगीं। पिता फिर भी उसकी त्रुटियां समझाता। एक दिन बच्चे ने झुंझलाकर कहा—‘अब मेरी मूर्तियां आपसे अच्छी बनती हैं फिर भी आप दोष निकालते रहते हैं। पिता बोला—‘बेटा मुझे भी युवावस्था में ऐसा ही अभिमान हो गया था इसी कारण से आज तक डेढ़ रुपये की ही मूर्तियां बिकती रहीं। मैं चाहता हूँ तुम्हें अपनी कला पर अहंकार न हो, तभी तुम श्रेष्ठ कलाकार बन सकोगे।’

कबूतर के अहङ्कार और उपेक्षा का दुष्परिणाम

उन दिनों कबूतर झाड़ियों में अण्डे देते थे। लोमड़ी रोज कबूतर

के अण्डे खा जाती थी। कबूतरों ने घोंसला बनाना शुरू किया, पर बना नहीं। दूसरी चिड़ियों से सहायता मांगी। पक्षियों ने उसे सिखाना शुरू किया पर वह बीच में ही बोला ऐसा तो मैं ही बना लूंगा। चिड़ियां चली गईं पर घोंसला न बना। कबूतर फिर चिड़ियों के पास गया। किसी तरह चिड़िया आईं, तो कबूतर ने बीच में ही फिर वही बात दुहराई। चिड़ियां दुबारा लौट गईं। किन्तु कबूतर घोंसला बना नहीं पाया। चिड़ियों से मित्रता की पर अब उन्होंने साफ इनकार कर दिया। नासमझ कबूतर अहंकार-वश घोंसला बनाना न सीख पाया और आज-तक उसका घोंसला भोंडा ही रहता है।

X

X

X

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मस्ततः सुखम् ॥

विद्या विनय को देने वाली है। विनय से मनुष्य योग्यता को प्राप्त करता है। योग्य होने से मनुष्य धन को प्राप्त करता है, धन से धर्म करता है और फिर सुख प्राप्त करता है।

विद्यया शस्यते लोके पूज्यते चोत्तमैः सदा ।

विद्याहीनो नरः प्राज्ञसमायां नैव शोभते ॥

विद्या रहित मनुष्य विद्वानों की सभा में कभी शोभा नहीं देता, इसलिए उसको सदैव विद्या प्राप्त करने का प्रयत्न करके श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होना चाहिए।

अर्धं सज्जन सम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।

चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥

आधी अविद्या सज्जनों के संसर्ग से मिट जाती है, उसका चौथाई

भाग शास्त्रों के अध्ययन से और शेष चौथाई भाग स्वयं प्रयत्न करने से नष्ट हो जाता है ।

ज्ञान युक्ति प्लावेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम् ।

महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वहः ॥

इस संसार रूपी समुद्र को बुद्धिमान् लोग ज्ञान रूपी नौका पर सवार होकर बड़ी आसानी से ही पार कर जाते हैं ।

**यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता नतु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् बहन्ति॥**

जैसे गधे पर चन्दन लदा हो तो वह उसको बोझ ही समझता है, चंदन नहीं समझता । इसी प्रकार बहुत से शास्त्र पढ़ लिये पर वास्तविक अर्थ नहीं समझा तो वह गधे के ही समान है ।

तनो वच्मि महाबाहो यथा ज्ञानेतरा गतिः ।

नास्ति संसार तरणे पाशबन्धस्य चेतसः ॥

बन्धन में पड़े हुए मन को मुक्त करने और संसार सागर से तरने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

दुरुत्तरा या विपदो दुःख कल्लोल संकुलाः ।

तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो नानाऽपद्भ्यो महामते ॥

विभिन्न प्रकार की कठिन विपत्तियों के समुद्र को ज्ञान द्वारा ही तरा जा सकता है ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तंधनम् ।

विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः॥

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम् ।

विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्या विहीनः पशुः॥

विद्या मनुष्य का एक अनुपम विशेष सौन्दर्य है, यह छिपा हुआ सुरक्षित धन है, विद्या भोग, यश और सुख को प्रदान करने वाली है। विद्या गुरुओं की गुरु है अर्थात् अज्ञान का नाश कर ज्ञान प्रदान करने वाली है। परदेश में यह अपने भाई के समान सहायता देने वाली है। विद्या सबसे बड़ी देवता है, अर्थात् देववत् उपासना योग्य है। राजाओं के दरबार में विद्या का ही सम्मान होता है धन का नहीं, ऐसी विद्या के बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं निरा पशु ही होता है।

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि सर्वदा अपने आपको अजर (वाढ्य रहित) और अमर (मृत्यु रहित) समझ कर विद्या और धन का उपार्जन करता रहे। मृत्यु ले जाने के लिए चोटी के केश पकड़कर प्रस्तुत खड़ी है। ऐसा समझकर सदा धर्म-कार्य करे।

एकेनैवामृतेनैव बोधेन स्वेन पूज्यते ।

एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ॥

उस आत्मा की ज्ञान द्वारा एक ही प्रकार से पूजा की जाती है और ज्ञान ही उस आत्मरूपी देवता का सर्वोत्तम अर्चन होता है।

न हायनेन पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

न वर्षों से, न सफेद बालों से, न वित्त से, न भाई-बन्धुओं से

किसी का महत्त्व होता है । ऋषियों ने इसी धर्म (मर्यादा) को चलाया है कि 'हममें जो वस्तुतः विद्वान् है वही बड़ा है ।'

×

×

×

सुरसुति के भण्डार की, बड़ी अपूरब बात ।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटिजात ॥
विद्या पढ़हि विनय करहि, तजहि वृथा अभिमान ।
चलहि सतकुला चरन पर, ते नर अति सुज्ञान ॥
जन्मत ही पावे नहीं, भली बुरी कोउ बात ।
बूझत बूझत पाइये, ज्यो-ज्यों समुझत जात ॥
आडम्बर तजि कीजिये, गुन संग्रह चित चाय ।
छीर रहित न बिकै गऊ, आनो घंट बँधाय ॥
ज्ञान बड़ा संसार में अर्थ धर्म को मूल ।
या पाये या जगत की सुख सुविधा अनुकूल ॥
लालन करता मात सम, पालन पिता समान ।
लाल बनाती देह को, विद्या सब सुख खान ॥
विद्या बिन न बिराजहीं, जदपि सरूप कुलीन ।
ज्यों सोभा पावै नहीं, टेसू बास विहीन ॥
प्रथम ज्ञान समुझै हिये, विधि निषेध व्यवहार ।
उचितानुचितहि हेरि कै, करतब करिय सँभार ॥
विद्या धन आधार है, विद्या बल आधार ।
यह मत जो धारण करे, वह सब गुण आगार ॥

वेद पुराणहु शास्त्र जत, तत बुद्धि बल अनुमान ।
 अनुभव बुद्धि विवेक युत, सो तुलसी परमान ॥
 नहिं रूप कुछ रूप है, विद्या रूप निधान ।
 अधिक पूजियत रूप तें, बिना रूप विद्वान ॥
 भये न जो पढ़ि सत्य व्रत, सबल शूर स्वाधीन ।
 तौ विद्या लगि वादि धन, समय शक्ति व्यय कीन ॥
 जगत ब्रह्मज्ञानी बहुत, विद्या के भंडार ।
 निज अज्ञान जे जानहीं, ते विरले सांसार ॥
 शत शत प्रणवों तासु को, पीऊँ चरण पखार ।
 ऊँचा जग में है वही, जाके उच्च विचार ॥
 अन समझे नहिं मानिए, अवसि समुझिए आप ।
 तुलसी आपु न समुझ बिन, पग-पग पर परिताप ॥

तिन्हहि ग्यान उपदेसा रावन ।
 आपुन मन्द कथा सुभ पावन ॥
 पर उपदेस कुसल बहुतेरे ।
 जे आचरहिं नरर न घनेरे ॥

॥ पाँचवा प्रवचन समाप्त ॥

— × × —



सातवाँ प्रवचन



(समता और सम्यक् दर्शन)

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(अध्याय ५ श्लोक १८)

बिद्या, विनययुक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और
ऐ ही चाण्डाल में पण्डित लोग समदर्शी होते हैं ।

सब प्राणियों में भगवान् हैं, एक ही आत्मा सब में समाया हुआ है, अपने समान ही सबको सुख-दुःख होता है । अपमान और दुर्व्यवहार सबको बुरा लगता है । इन तथ्यों को हृदयंगम कर लेने पर मनुष्य अध्यात्म के वास्तविक तत्त्व को समझ गया ऐसा मानना चाहिए ।

जब प्राणिमात्र में भगवान् की एक ही सत्ता काम कर रही है और सब ईश्वर के बनाए हुए हैं तो उन्हें हम अपना भाई-बहिन क्यों न मानें ? बात सीधी-सी है और सबकी समझ में उसे आ ही जाना चाहिये कि आकार और स्वरूप की दृष्टि से सबके प्रति समता का भाव रखा जाय । भगवान् ने उपरोक्त श्लोक में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है । उन्होंने विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल को साम्य-भाव से देखने का निर्देश किया है और समत्व की भावना रखने वाले व्यक्ति को समदर्शी कहकर सम्मानित किया है ।

सब प्राणी समान स्तर के हैं, सब में एक ही आत्मा है, तो उन्हें ऊँच-नीच मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। विशेषतया मानव प्राणी तो प्रत्येक दृष्टि से समान स्तर के हैं, उनमें जन्मजात रूप से किसी को ऊँचा-नीचा नहीं माना जा सकता। न्याय की दृष्टि से किसी में कोई अन्तर नहीं हो सकता। भाषा, देश, रङ्ग, धर्म, जाति आदि की दृष्टि से मनुष्यों में थोड़ी भिन्नताएँ हो सकती हैं, पर यह एक उद्यान में खिले हुए विभिन्न आकृतियों के प्रकृतिपुष्पों के समान है। यह विभिन्नता रंग, रूप की दृष्टि से अन्तर भले ही करती हो पर उनका सम्मान एवं स्तर भिन्न नहीं हो सकता। गुलदस्ते में कई रंग के फूल मिले होते हैं, पर उनके सम्मान में कोई अन्तर नहीं होता। मानव-जाति भी एक गुलदस्ते की तरह है जिसमें ठण्डे देशों में उत्पन्न होने वाले गोरे, गरम देशों में उत्पन्न होने वाले काले, अपनी-अपनी जलवायु के अनुसार अलग-अलग आकर का आहार-विहार अपनाने वाले, अपनी परम्परागत भाषा बोलने वाले, अपने ढंग के मजहब अपनाने वाले, बाहर से ही अलग दीख सकते हैं पर वस्तुतः उनके मानवीय स्तर में कोई अन्तर नहीं है। अतएव प्राणि-मात्र के प्रति विशेषतया मनुष्य मात्र के प्रति समता का भाव अपनाये रहना ही भगवान् की शिक्षाओं के अनुकूल हो सकता है। गीता के उप-रोक्त श्लोक में यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट है।

आज हम देखते हैं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच में ऊँच-नीच की दीवारें जन्मगत कारणों को लेकर खड़ी कर दी गई हैं जो अध्यात्म-आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। निकृष्ट पाप करने वालों को नीच माना जाय और उनसे बचा जाय तो यह बात समझ में आती है। देवता और असुरों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दुष्टता को तिरस्कृत एवं सज्जनता को सम्मानित किया जाना उचित है। इस विभाजन के अनुसार नीच-ऊँच की गणना हो सकती है। पर जाति या वंश के आधार पर किसी को अपने से छोटा या नीचा मानना भगवान् के अदेशों एवम्

धर्म तथा अध्यात्म के सिद्धान्तों से सर्वथा विमरीत है। गोरी चमड़ी वाले पाश्चात्य लोग हम काली चमड़ी वाले भारतीयों को अच्छत या नीच मानते हैं, अपने होटलों, विद्यालयों में नहीं जाने देते, एक तरह से सामाजिक बहिष्कार की स्थिति में रखते हैं तो यह उनकी मान्यता अन्याय धर्म अहंकारयुक्त ही मानो जायगी। कुछ दिन पहले गोरों की यह अहमन्यता सारे संसार में फैली हुई थी। वे काली चमड़ी वालों को पशु-तुल्य समझते थे और उनके साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करते थे। समय के परिवर्तन के साथ उनकी यह दुष्प्रवृत्ति घट रही है। विवेक और न्याय ने उन्हें उस अनीति के लिए धिक्कारा है, फलस्वरूप वे लज्जित हुए हैं और प्रकट रूप में उसे छोड़ने का साहस किया है। यद्यपि उनमें से पिछड़े हुए लोग अभी भी उसी मनोवृत्ति को अपनाये हुए हैं।

दक्षिण अफ्रीका में काले-गोरों के बीच, नीच-ऊँच का यह भेद अभी भी उग्र रूप से विद्यमान है और वहाँ की गोरी सरकार ने कानून बना कर भी अपनी उस अनीति का समर्थन कर लिया है। संसार का लोकमत उनकी इस हठधर्मी के लिए उन्हें धिक्कार रहा है। विश्व मानव की आत्मा और विवेकशीलता ने मनुष्य मात्र के बीच मौलिक समता को स्वीकार कर लिया है पर जिन रूढ़िवादियों ने अद्विवेक और अत्याय को ही धर्म-परम्परा मान लिया हो उन्हें कोई क्या कहे? संसार ऐसे लोगों से घृणा ही कर सकता है और समय आने पर लोकमत उन्हें उनकी इस दुःप्रवृत्ति के लिए दण्ड भी देगा। अमरीका में कुछ दिन पहले वहाँ के काले लोगों के साथ ऐसा ही भेद-भाव बरता जाता था पर अब वहाँ की जनता अपने इस पाप का प्रायश्चित्त कर रही है। काले-गोरों में नीच-ऊँच की दीवारें अब कानून द्वारा पूरी तरह गिरा दी गई हैं। इस प्रायश्चित्त में अग्रणी होने के कारण प्रेसीडेंट कनेडी को अपना बलिदान भी करना पड़ा। अन्याय के लिए दुराग्रह करने वाले हठी लोग अभी भी वहाँ हैं और काले लोगों को मानवीय अधिकारों से वंचित

रखना चाहते हैं। कुछ दिन वे अन्धेर मचा सकते हैं, पर अन्ततः उस अन्यायपूर्ण दुराग्रह को बेमौत मरने के लिए विवश होना पड़ेगा।

गोरों द्वारा कालों के साथ केवल वंश परम्परा के आधार पर नीच ऊँच का जो भेद-भाव बरता गया है, सारे विश्व में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। राष्ट्रसंघ के मंच से विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों ने एक मत से इस अनीतिपूर्ण मूढ़ता को धिक्कारा है। यह निर्विवाद है विश्व का लोकमत ऐसी दुष्ट मान्यताओं को जीवित नहीं रहने दे सकता, आज नहीं तो कल अन्त होना ही है। पर अच्छा यह है कि समय रहते चेत जाया जाय, और विवश होकर अनीति छोड़ने से पहले विवेक पूर्वक अपना सुधार करते हुए सज्जनों की श्रेणी में अपनी गणना कराली जाय। गोरों लोग अब इसी तरह विचार कर रहे हैं और उनका इस तरह सोचना उचित ही है।

भारतीयों के सिर पर भी एक कलंक इसी प्रकार का है। जन्म-जाति के आधार पर एक-दूसरे को नीच या ऊँच समझने की मूर्खता कुछ दिन से हमारे समाज में भी प्रवेश कर गई है और उसने इस थोड़े ही समय में हमारे जातीय जीवन का ढाँचा चरमरा कर रख दिया है। संसार के सामने हिंदू समाज के महान् दर्शनशास्त्र, को धर्म एवं अध्यात्म को जितता नीचा इस मूढ़ता ने दिखाया है उतना और किसी ने नहीं। विश्व-बन्धुत्व के आदर्शों का प्रतिपादन करने वाले, सब में एक ही आत्मा होने की मान्यना रखने वाले यदि अपने व्यवहार में उससे सर्वथा विपरीत आचरण करें तो उनकी सिद्धान्तवादिता को एक विडम्बना मात्र ही माना जायगा। हमारे समाज में कुछ लोग इसलिए ऊँचे बनते हैं कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ है जो ऊँचा समझा जाता है। इसी प्रकार कुछ लोग नीच इसलिए माने जाते हैं कि उनमें उस वंश में जन्म लिया जिसके बारे में नीचा होने की मान्यता है। इन ऊँच-नीचों के बीच किसी प्रकार का कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं रहता। एक दूसरे के सुख-

दुःख में हर्षोत्सवों में शामिल नहीं होते, यहाँ तक कि शरीरों के छूने से भी परहेज किया जाता है। छूत के रोगियों या दुष्ट दुराचारी असुरों के साथ जो व्यवहार किया जाना चाहिए वही सामान्य परिस्थित के व्यक्ति एक-दूसरे से करते हैं। एक किसान अपने को ऊँच माने और दूसरे किसान को नीच समझे तो यह एक अचरज की ही बात है, पर यह एक सचाई है कि हमारा समाज ऐसी अचरज भरी मूढ़ताओं को छाती से चिपकाये हुए है। इतना ही नहीं, उनका समर्थन भी करता है, धर्म भी मानता है और अपनी पथभ्रष्टता पर लज्जित भी नहीं होता।

ब्राह्मण, ब्राह्मण के बीच ऊँच-नीच की भावना विद्यमान हैं। एक जाति के दूसरी जाति वालों को ही ऊँच-नीच मानते हैं, सो बात नहीं, एक ही उपजाति के लोग बीघे-विश्वे का अन्तर करके अपनी श्रेष्ठता-निकृष्टता प्रतिपादित करते हैं। अछूत, अछूतों के बीच एक दूसरे के प्रति ऐसी ही ऊँच-नीच की भावना पाई जाती हैं। यह रोग घुन की तरह हमारे समाज को खोखला कर रहा है और उसे अनेक भागों में विभक्त कर दिन-दिन दुर्बल बनाता चला जाता है।

स्त्री और पुरुषों के बीच भारी असमानता हमारे समाज में पाई जाती है। स्त्री को नागरिक अधिकार, कानून से भले ही मिल गये हों पर व्यवहार में वे अभी भी खरीदे हुए पशुओं की तरह एक प्रकार से पुरुषों की सम्पत्ति बनी हुई हैं। घर से बाहर अकेली नहीं निकल सकतीं मानो वे कालकोठरी में रहने वाले कैदी की सजा भुगत रही हों जिसके बाहर निकलने के साथ एक संतरी साथ चलना आवश्यक है। उन्हें मुँह ढक कर पर्दे में इस तरह रहना पड़ता है मानो गोहत्या कर डालने के कारण उन्हें कलङ्की की तरह मुँह ढक कर रहने वाले कलङ्की का सा दण्ड दिया गया हो। शिक्षा प्राप्त करने की, आजीविका कमाने की, स्वास्थ्य के लिए आवश्यक वायु सेवन की, संसार का स्वरूप समझने की, जीवनोपयोगी अनुभव सम्पादित करने की सुविधाएँ भारतीय स्त्रियों

को उपलब्ध नहीं हैं। उन्हें एक अविश्वस्त अपराधी की तरह ऐसे कठोर नियन्त्रण में रखा जाता है, जिसमें एक प्रकार से उनकी आत्मा ही कुचल जाती है। मानवीय विकास की सुविधाओं से प्रायः वंचित ही रह जाती हैं। भारत की आधी जनसंख्या पक्षाघात से पीड़ित पड़ी है। नारी चूल्हा फूंकने और बच्चे उत्पन्न करने की मशीन मात्र रह गई है। उसकी प्रतिभा, कुशलता एवं पराक्रमशीलता से समाज को जो लाभ पहुँच सकता था उससे उसे वंचित रहना पड़ रहा है। यों कहने को भारत में ४६ करोड़ लोग रहते हैं पर वस्तुतः उनकी संख्या २३ करोड़ ही कहनी चाहिये क्योंकि समाज के निर्माण एवं विकास में नारी का होना इन परिस्थितियों में नगण्य ही रह पाता है। पिंजड़े में बन्द पक्षी की तरह वे घरों की शोभा भले ही हों पर उनमें वह व्यक्तित्व कहाँ जो राष्ट्रीय शक्ति एवं समृद्धि को बढ़ाने के काम आ सके। इस दृष्टि से भारत की जनसंख्या २३ करोड़ कही जाय तो अत्युक्ति नहीं। ४६ करोड़ की तो गिनती भर है।

जन्म से जाति मानने का उद्देश्य प्राचीन काल में पेशे और व्यवसायों का विभाजन था, ताकि वंश-परम्परा में चले आ गये व्यवसाय को अपनाकर पीढ़ी दर पीढ़ी उन कार्यों में अधिक कुशलता उत्पन्न की जाती रहे। ऊँच-नीच मान बैठने की कल्पना वर्णाश्रम धर्म का प्रचलन करने वालों के मस्तिष्क में स्वप्न में भी नहीं थी। ऊँच कहलाने वाले लोगों के मन में अकारण, अनुचित, उपहासास्पद अहंकार उत्पन्न करना और नीच कहलाने वालों में बिना किसी कारण छोटा, ओछा, अभागा, दीन, पतित मान बैठने की हीनता उत्पन्न करना विशुद्ध रूप से एक नैतिक अनाचार एवं सामाजिक अत्याचार है। हिन्दू धर्म के संस्थापक इतने उदार दूरदर्शी एवं न्यायप्रिय थे कि वे वर्तमान में जाति-पाति के कारण चल पड़े ऊँच-नीच के भेद-भाव को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनकी आत्माएँ स्वर्ग में बैठी रो रही होंगी कि हमने किन

उच्च उद्देश्यों को लेकर वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की थी और आज लोगों ने उसकी कैसी दुर्गति बनाई और क्या से क्या करके रख दिया ।

गीता कर्म से जाति मानती है । जो जैसा कर्म करता है वह उस जाति का माना जाता है । गुण, कर्म, स्वभाव के कारण मनुष्य, मनुष्यों में भेद हो सकता है । देवता, मनुष्य और असुर इन तीन वर्णों में कोई विभाजन किया जाय तो समझ आ सकता है । व्यवसायों के हिसाब से जो श्रेणी विभाजन किया जा सकता है । पर किसी कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति ऊँचा या नीचा कहलाने लगे इस मान्यता के पीछे न कोई तर्क है न न्याय । वर्ण प्राचीन काल में भी थे । पर उनमें पूर्ण आत्मीयता, एकता, समानता एवं सौजन्य का भाव था । चारों वर्ण एक ही शरीर के चार अङ्गों की तरह काम भले ही अलग करते थे पर वे सब थे पूर्णतया एक । वर्ण-विभाजन का आधार बताते हुए गीता कहती है कि —

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परतप ।

कर्मणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

(अध्याय १८ श्लोक ४१)

हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म (अपने-अपने) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक् बँटे हुए हैं ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्त्तारमपि मा विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥

(अध्याय ४ श्लोक १३)

गुण, कर्म के विभागानुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा ही रचे गये हैं । उनका कर्त्ता होते हुए भी तू मुझ अविनाशी को अकर्त्ता ही जान ।

**शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥**

(अध्याय १८ श्लोक ४२)

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य (ये सब) ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं ।

**शौर्यं तेजो धृतिर्दात्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥**

(अध्याय १८ श्लोक ४३)

शूरता, तेज, धैर्य दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दाने और स्वामीभाव अर्थात् शासन करने का भाव (ये सब) क्षत्रियों के स्वभाव-जन्य कर्म हैं ।

**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मिकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥**

खेती, गौरक्षा, व्यापार वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं । सेवा रूप कर्म शूद्र का स्वभावजन्य है ।

उपरोक्त श्लोकों में भगवान् ने व्यवसाय और स्वभाव के अनुसार वर्ण-विभाजन की बात कही है । इसमें किसी जाति में जन्मने के कारण ऊँच या नीच होने का कोई संकेत नहीं । वकील का पुत्र वकील ही होना चाहिए यह कोई आवश्यक नहीं । कलक्टर का बेटा कलक्टर ही हो यह कोई आवश्यक नहीं । ब्राह्मण के कुल में जो कोई जन्मे वह ब्राह्मण के गुण, कर्म, स्वभाव अवश्य ही धारण किये होगा यह आवश्यक नहीं । इसी प्रकार छोटे कहे जाने वाले वर्णों में कोई महापुरुष उत्पन्न न हो ऐसी भी क्या बात है ? इन दिनों जाति-पाति के आधार पर जो ऊँच-नीच की मान्यता चल रही है वह असंगत ही नहीं, हिंदू धर्म

की मूल मान्याओं के प्रतिकूल भी है। इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाकर हमने अपनी संस्कृति को तो उपहासास्पद बनाया ही है। संसार भर में अपना स्तर दक्षिण अफ्रीका के उन गोरों के समान नीचा बना लिया है, जो चमड़ी के रङ्ग के कारण भारतीयों और अफ्रीका निवासियों को नीच समझकर उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार करते हैं। अपनी इस सङ्कीर्णता को जब तक बनाये रहेंगे तब तक हम अविवेकी, अनुदार और अन्यायी लोगों की श्रेणी में गिने जाने वाले घृणित लोग ही बने रहेंगे। गीता हमें इस स्तर का बने रहने का कदापि समर्थन नहीं कर सकती।

इसी प्रकार नारी जाति के प्रति हीनता का दृष्टिकोण रखना, उन्हें मानवीय नागरिक अधिकारों से वंचित रखना, शिक्षित, स्वावलम्बी, स्वस्थ एवं अनुभवी बन कर राष्ट्र की समृद्धि में समुचित योगदान कर सकने से रोके रहना एक घृणित श्रेणी का सामाजिक अत्याचार है। इन सामन्तवादी संकीर्णताओं के समर्थन में धर्मशास्त्र की दुहाई देना भारतीय धर्म की श्रेष्ठता को नष्ट करने जैसा कुत्सित प्रयास है। प्राचीन भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी किसी युग में ऐसा अत्याचार नारी जाति के साथ नहीं हुआ जैसा आज तथाकथित धर्म परम्पराओं के नाम पर प्रचलित है। धर्म ऐसे अनाचार का कदापि समर्थन नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति यदि ऐसी ओछी, सङ्कीर्ण एवं अन्यायी रही होती तो संसार में इतने दिनों उसका अस्तित्व न टिक सका होता। विवेकशील लोगों ने उसे लात मार कर दुनियाँ के पर्दे पर से कब का मिटा दिया होता। अन्यायी व्यक्तियों का नाश हुआ तो अन्यायी परम्पराएं ही कैसे जीवित बनी रहतीं? पिछले दिनों जब से हम ने ऐसी अहंवादी अन्याय मूलक परम्पराएं अपनाईं तभी से हमारा पतन हुआ। पिछले एक हजार वर्षों तक हमें विदेशी आक्रमणकारियों के जो लोभहर्षक अत्याचार सहने पड़े उन्हें यदि हमारी अन्याय मूलक



मान्यताओं का दण्ड कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। हमने अपनों को सताया दूसरे हमें सताने आ गये। सेर को सवा सेर मिल गया। दूसरों को न्याय का उपदेश देने से पहले हमें अपने हाथ अनीति की कीचड़ से सने हुए न रखने का प्रयत्न करना होगा। वरन् हर अत्याचारी हमें यह कह सकेगा कि हम छोटी जातियों या नारियों के प्रति जो अन्याय बरतते हैं उसे सुधारे बिना न्याय की पुकार करने की हिम्मत किस मुँह से करते हैं।

जातिगत ऊँच-नीच और नारी जाति के प्रति असमानता का भाव आज हमारे समाज के दो भारी दूषण हैं। इनने हमारे मस्तिष्कों में गहराई तक जड़ें जमा ली हैं। आवश्यकता इस बात की है उसे तत्परतापूर्वक सुधारा जाय। गीता का समता दृष्टि वाला आदर्श हमें अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सम्मिलित रखना ही चाहिए। इसके बिना हमारी सामूहिक प्रगति अवरुद्ध ही बनी पड़ी रहेगी।



भगवान के यहाँ जातिभेद नहीं

प्रसिद्ध है कि भगवान् जाति-पाँति को नहीं कर्म को देखते हैं।
कहावत प्रसिद्ध है—

हरिहि भजे सो हरि का होई ।

जाति पाँति पूछे नहिं कोई ॥

भगवान् राम और कृष्ण के चरित्रों में अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि वे जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं करते थे वरन् गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार ही मनुष्यों की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे।

२१५

रामायण का आदर्श

एक वृद्धा स्त्री ने वनवासी ऋषियों के आश्रम से कुछ हो दूर रह कर उनकी सेवा करने का व्रत लिया । लेकिन जाति से नचि होने के कारण उसकी सेवा ऋषि लोग कैसे स्वीकार करेंगे इसके बारे वह परेशान थी । आखिर उसने एक युक्ति अपनाई, वह प्रतिदिन अन्धेरे में ही उस पथ पर जिससे ऋषि लोग स्नानार्थ जाया करते थे तथा आश्रम के प्रांगण में झाड़ू लगा दिया करती थी तथा जंगल से लकड़ी काट कर ऋषियों के लिए इकट्ठी करती रहती । ऋषिगण जब रोज ऐसा ही देखते तो बड़ा आश्चर्य करते, एक दिन इस बात का पता लगाने के लिए कुछ ब्रह्मचारी नियुक्त कर दिए गये । मालुम हुआ वही निम्न-जाति की वृद्धा यह सब करती है । अष्टादश आयु के ऋषियों को क्रोध आया किन्तु महर्षि मातंग ने उन्हें उसकी सेवा भावना की महत्ता समझाई और अपनी कुटिया के बराबर एक कुटी बनाकर स्थान दिया । यही वृद्धा रामायण काल में शबरी में नाम से प्रसिद्ध है, जिसके झूठे बेर भगवान् रामचन्द्रजी ने खाये और उसका आतिथ्य ग्रहण किया ।

हनुमान जाति से बानर थे लेकिन गुणों के कारण वे श्रीराम के जीवन के एक अंग बन गए । भगवान् राम हनुमान जी को अपने भ्राता भरत की तरह मानते थे । वनवास से लौटने के बाद अंगद, सुग्रीव, जामवन्त आदि सभी लोग अपने-अपने स्थान को वापिस लौट गये लेकिन श्री रामचन्द्रजी ने हनुमानजी को अपने ही पास रखा । आज भी हिन्दू जनता हनुमानजी को एक देवता की तरह पूजा करती है ।

निषादराज जाति से हीन थे लेकिन उनकी उत्कट प्रेम-भक्तिपूर्ण भावनाओं को देखकर भगवान् रामचन्द्र ने उनका आतिथ्य स्वीकार किया और भ्राता भरत की तरह अपने गले लगाया ।

वृद्ध जटायु ने सीताजी की मुक्ति के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया । राम ने जब सीता को ढूँढ़ते-खोजते मार्ग में जटायु को

देखा तो उसे उठाकर अपने सीने से लगा लिया। जटायु का प्राणान्त हो जाने पर उन्होंने अपने कुटुम्बी स्वजन की भाँति उसका दाह-कर्म संस्कार पूर्ण किया।

जामवन्त रीछ नामक छोटी समझी जाने वाली जाति के व्यक्ति थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने जाति-वर्ण का ध्यान न रखकर उसकी पुत्री जामवन्ती से विवाह किया।

राजसूय यज्ञ की सफलता की कसौटी

पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया। यज्ञ की सफलता की एक कसौटी रखी गई थी कि यदि अर्जुन का पाँचजन्य शंख, बिना बजाये अपने आप बजने लगे तो समझना चाहिए कि यज्ञ सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया।

यज्ञ कार्य पूरा हो जाने पर भी जब शंख न बजा तो उस आयोजन की विफलता पर सब लोग चिन्ता करने लगे और तलाश करने लगे कि इसका कारण क्या है? बहुत खोजबीन करने पर पता लगा कि एक शूद्र को सम्मानपूर्वक यज्ञ में नहीं बुलाया गया था इसलिए वह उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। कृष्णचन्द्र ने कहा—मनुष्य मात्र समान हैं, जाति भेद के कारण किसी को नीचा नहीं समझा जाना चाहिए और किसी का मान कम नहीं करना चाहिए। भगवान् की बात सुनकर द्रौपदी समेत पाण्डव उस शूद्र के यहाँ गये और सम्मान समेत उसे लिवाकर लाये। उसके आने पर शङ्ख बजने लगा और यज्ञ की सफलता घोषित हुई।

सत्यकाम जाबाल

सत्यकाम को बचपन में विद्या प्राप्ति की बड़ी लगन थी। बालक की लगन देखकर माता से न रहा गया और उसने बालक को महर्षि गौतम के आश्रम में भेज दिया। वहाँ एक गौरवर्ण सुन्दर बालक को देखकर सभी बड़े प्रभावित हुए। सत्यकाम ने साष्टांग प्रणाम करके महर्षि को अपना मन्तव्य कह सुनाया। महर्षि ने उससे नाम, पता और

गोत्र पूछा, लेकिन बालक गोत्र न जानता था वह पुनः अपनी माता के पास आया और गोत्र को पूछने लगा। माँ को बड़ा दुःख हुआ लेकिन बालक के भविष्य के लिए उमने कुछ भी न छुपाया। सत्यकाम महर्षि के आश्रम में पहुँचे और गौतम को बताया “पूज्यवर मैं जाबाला का पुत्र सत्य काम जाबाल हूँ। मेरी माँ को कठिनाइयों के कारण कई पुरुषों की सेवा में रहना पड़ा इससे कोई निश्चित गोत्र वह नहीं बता सकी।” सभी आश्रम बासियों के मुँह पर एक घृणाभरी मुस्कान थी। लेकिन गौतम ने उठकर सत्यकाम को अपने गले लगाया और उसे विद्या पढ़ाना चासू किया।

सूत-पुत्र कर्ण

प्रकट रूप से कर्ण एक सूत-पुत्र था, लेकिन अपने शक्ति शीर्ष और तेजस्विता के गुणों के कारण वह सभी का आकर्षण बन गया था। दुर्योधन ने जाति-पाँति का सोच-विचार न करके कर्ण को अपने सहोदर भाई की तरह अपना लिया और उसे अपने समान राजकीय सम्मान और गौरव प्रदान किया। महाभारत का महारथी कर्ण कौरव पक्ष, खासकर दुर्योधन की समस्त आशाओं का केन्द्र था। महाभारत के पात्रों में भी कर्ण का वैभव किसी सूत-पुत्र के रूप में नहीं वरन् दुर्योधन के भ्राता के रूप में वर्णित है। इससे पता चलता है कि उस समय गुण और कर्म के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन किया जाता था।

शान्तनु का निषाद-कन्या से विवाह

महाराजा शान्तनु विहार के लिए नदी तट पर गये हुए थे उन्होंने वहाँ एक रूपवती, गुणवती, निषाद कन्या को देखा। शान्तनु केवल उसके रूप पर ही नहीं वरन् उसके गुण और कर्म पर बड़े प्रसन्न हुए और उस कन्या के जीवन को सभी भाँति सुखी-सम्पन्न बनाने के लिए अपनी पत्नी बनाने का निश्चय किया। एक निषाद कन्या का राजरानी बनाना गुण-कर्म की महत्ता को प्रतिपादित करता है।

क्षत्रिय से ब्राह्मण

विश्वामित्र क्षत्रिय थे। लेकिन वशिष्ठ के ज्ञान-बल के समक्ष पराजित होकर उन्होंने क्षत्रिय बल को धिक्कारा और ब्राह्मणत्व की साधना प्रारम्भ कर दी। ज्ञान, तप, आत्म-विकास के लिए उन्होंने एक लम्बे समय तक प्रयत्न चालू रखा और अन्ततः ब्रह्मर्षि का उच्च सम्माना-स्पद स्थान प्राप्त किया। विश्वामित्र के बारे में वर्णन है कि उन्होंने नई सृष्टि बसाई, इससे तात्पर्य यह है कि जीवन और संसार के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत-सी नई बातों की खोज की, नये तथ्यों का पता लगाया और ब्राह्मणत्व के आदर्श को सक्रिय रूप से जीवन में चरितार्थ किया।

महर्षि वशिष्ठ के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे वैश्या के पुत्र थे, इतनी हीन स्थितियों में पैदा होकर भी वशिष्ठ ने अपने गुण और कर्मों के बल पर महर्षि का स्थान प्राप्त किया और भारत के महत्त्वपूर्ण राजवंशों के वे गुरु बने। महर्षि वशिष्ठ सप्तर्षियों में से ही एक हैं।

शंकराचार्य और चाण्डाल

एक बार जगद्गुरु शंकराचार्य काशी में गंगा स्नान करके सीढ़ियों पर चढ़ रहे थे कि अचानक एक चाण्डाल से वे छू गये। तब उन्होंने आवेश में आकर कहा, “अरे ! क्या तूने मुझे छू लिया, जानता नहीं मैं गंगा स्नान करके आ रहा हूँ।” चाण्डाल ने कहा—“महाराज ! न मैंने आपको छुआ न आपने मुझे। सभी में वह अन्तर्यामी निर्लिप्त आत्मा निवास करता है। गङ्गा जल में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब क्या शराब में पड़े प्रतिबिम्ब से अलग होता है ?”

शंकराचार्य जी को आत्मज्ञान हुआ और उन्होंने तभी से सब में आत्म-तत्त्व के दर्शन किए, बाह्य भेद-विभेद भूलकर परमात्म-तत्त्व को जाना।

आत्म-ज्ञान होने पर भेद-विभेद नहीं रहते। मूक्ष्म-दृष्टि हो जाने पर स्थूल जगत् के भेद भाव नहीं रह जाते। वे एक ही समुद्र की लहरों से निर्मित बबूले नजर आते हैं।

कबीर द्वारा शुद्धि की व्याख्या

कुछ ब्राह्मण गङ्गा स्नान करने को आये थे । पानी बहुत गहरा था जिससे धार में उतर कर स्नान करने में उन्हें डर लग रहा था । उनके पास कोई पात्र भी नहीं था जिससे पानी लेकर वे नहाते । सभी बड़े असमंजस में थे ।

उसी तट पर सन्त कबीरदास जी भी स्नान कर रहे थे । उन्होंने अपना लोटा माँज कर एक व्यक्ति की देते हुए कहा—“इसे इन लोगों को दे दो बेचारे स्नान कर लेंगे । इनके पास कोई पात्र भी नहीं है ।”

यह सुनकर सभी ब्राह्मण एकदम चिल्ला उठे—“नहीं भाई ! इस जुलाहे का लोटा लेकर हमें अपवित्र नहीं होना है, इसे हमारे पास न लाओ ।”

“क्यों भाइयों ! जब यह लोटा भी कई बार मिट्टी लगा कर साफ करने पर इस गङ्गा जल से पवित्र नहीं हुआ तो दुर्भावनाओं से भरे इस मानव शरीर की पवित्रता कैसे होगी स्नान से ?” सभी ब्राह्मण एक-दूसरे का मुँह देखने लगे, उत्तर उन्हें कुछ भी न सूझ पड़ा ।

जाति और पानी

एक बार भगवान् बुद्ध कहीं जा रहे थे । रास्ते में प्यास लगी । कुए पर चाण्डाल कन्या पानी भर रही थी । उनसे पानी माँगा तो कन्या ने कहा—“मैं तो चाण्डाल हूँ ।” बुद्ध ने कहा—“देवी ! मैं कुल जाति नहीं पूछता पानी माँगता हूँ । कुल जाति और पानी का क्या संबंध ?” कन्या ने पानी दे दिया ।

क्या गङ्गा कभी अशुद्ध होती है ?

माता शारदामणि (श्री रामकृष्ण परमहंस की धर्मपत्नी) के सत्सङ्ग में एक महिला आती थी, जिसका चरित्र अच्छा न था । इस पर अन्य भक्तों ने आपत्ति की कि इसे सत्सङ्ग में नहीं आने देना चाहिए । माताजी ने कहा—पुत्रो ! क्या गंगा किसी से कहती है कि तुम बहुत

मैले-कुचैले हो, मेरे जल में प्रवेश न करो ? अपने को किसी से अधिक पवित्र मानना मुझे तो दंभ ही लगता है । किसी के सङ्ग से कोई गिरता-उठता नहीं । अपनी आत्मिक भावनाओं से ही मनुष्य का कारण और अधःपतन होता है ।

श्री रामानुजाचार्य की समत्व साधना

महात्मा रामानुजाचार्य अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण नदी स्नान करने जाते हुए लोगों का सहारा लेकर जाया करते थे । जाते समय वे ब्राह्मण के कन्धे का सहारा लेते और आते समय शूद्र के कन्धे पर हाथ रख कर आते ।

लोगों ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—भगवन् ! शूद्र के स्पर्श से तो आप अपवित्र हो जाते हैं, फिर स्नान का महत्त्व क्या रहा ?

आचार्यजी मुसकराये उनसे कहा—स्नान से मेरी देह मात्र शुद्ध होती है । मन का मैल तो अहंकार है । जब तक मनुष्य में अहंकार शेष है तब तक उसे मन का मलीन ही कहा जाता है । मैं शूद्र का स्पर्श करके अपने मन की मलीनता स्वच्छ करता हूँ । मैं किसी से बड़ा नहीं, सब मुझसे ही बड़े हैं, शूद्र भी मुझसे श्रेष्ठ है, इसी भावना को स्थिर करने के लिए शूद्र का सहारा लिया करता हूँ ।

उत्तर युक्ति-युक्ति था, पूछने वालों का ठीक समाधान हो गया ।

ऊँच-नीच की पहिचान 'आसन नहीं कर्म'

शंका सामाधान के लिए अनेक व्यक्ति महर्षि दयानन्द के पास जाया करते थे । एक दिन कई व्यक्तियों के साथ छोटूगिरि नाम का अपने को कुलीन मानने वाला एक व्यक्ति भी उनके पास जा पहुँचा । वह बड़ा दम्भी था जाते ही बोला—मैं तो जहाँ आप बैठे हैं वहाँ बैठूँगा । महर्षि ने स्थान खाली कर दिया । स्वयं नीचे बैठकर बात-चीत करने लगे । थोड़ी देर में एक कौवा सामने वाले पेड़ की डाली पर बैठ कर काँव-काँव करने लगा । दयानन्द बोले महाशय इस कौवे की तरह ही ऊँचे

बैठने से कोई ऊँचा नहीं हो जाता और न ऊँच जाति में पैदा होने से किसी का कोई बड़प्पन है। इस संसार में बड़ाई तो केवल कर्म की है।

कुल नहीं कर्म

स्वामी विवेकानन्द जाति के कायस्थ थे। इस जातीय कारण से उन्हें बहुत बार अपमान और घोर विरोध का भी सामना करना पड़ा, लेकिन भारत को धर्म का सन्देश देने, जनसेवा के कार्य-क्रमों को चलाने के लिए वे आजीवन प्रयत्न करते रहे। जाति-पाँति, छुआ-छूत की भावना को मिटाकर भारतीय समाज को संगठित करने, उसे जगाने के लिए वे सदैव प्रयास करते रहे। इन महान् सेवाओं के कारण विवेकानन्द जी भारत की महान् विभूतियों की श्रेणी में गिने जाते हैं। कायस्थ की दृष्टि से उन्हें कोई नहीं मानता, वरन् भारतीय जनता के प्रेरणा-स्रोत, सन्त, महापुरुष के रूप में माने जाते हैं।

महात्मा गान्धी वैश्य जाति में उत्पन्न हुए पर वे अपनी महानता के कारण ब्राह्मणों के ब्राह्मण, विश्ववैद्य बापू बने।

जगदबन्धु की समदृष्टि

जगदबन्धु ने बंगाल की डोम, कंजर जातियों को ऊँचा उठाने में बड़ा काम किया। उनकी काया-पलट कर दी। डोमों को शूद्र माना जाता था। ये लोग मृदंग आदि बनाने का काम करते थे। श्री जगदबन्धु दास ने इन लोगों में धूम-फिरकर इन्हें शिक्षित बनाने का प्रयास किया। साथ ही कथा-कीर्तन के माध्यम से मानसिक स्तर ऊँचा किया। आज डोम जाति के लोग प्रसिद्ध हैं और ये लोग समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

सिख धर्म का आदर्श

गुरु नानक ने सिख धर्म का प्रतिपादन करके मानवीय एकता का पथ प्रशस्त किया। सिख धर्म ग्रहण करने के लिए उन्होंने कोई भी जाति-पाँति का बन्धन नहीं रखा। एक मेहतर भी सिख बन सकता है।

इस तरह सिख धर्म के द्वारा गुरु नानक ने छुआ-छूत, जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर करने का प्रभावशाली कार्य किया।

गुरु गोविन्दसिंह ने जो “पाँच प्यारे” अपने प्रधान शिष्य बनाये थे और जिनके परिश्रम से सिख धर्म उतना बढ़ा वे पाँचों ही छोटी जातियों के थे। जिस जमाने में बड़े-बड़े ब्राह्मण मुसलमानों के त्रास से घबराकर कुछ करने का साहस नहीं कर पा रहे थे, उन दिनों प्यारों ने इतना पुरुषार्थ एवं त्याग किया जिससे हिन्दू धर्म की रक्षा हो सकी।

भेदभाव से विनाश

उन दिनों रात को युद्ध नहीं होते थे। अहमदशाह दुर्रानी और मराठों की सेनायें भोजन-व्यवस्था में लगी थीं। अहमदशाह ने देखा कि मराठों की सेना में जगह-जगह छुआं उठ रहा है। भेद जानने के लिए गुप्तचर भेजे। उन्होंने वापस आकर बताया, महाराज हिन्दू लोग एक-दूसरे का छुआ हुआ खाना नहीं खाते सो सभी सैनिक अलग-अलग भोजन पका रहे हैं। अहमदशाह ने कहा जो जाति आपस में संगठित नहीं रह सकती उसको जीतना बहुत आसान है। उसी समय हमले की व्यवस्था बनायी गई। मराठे एकत्रित न हो सके और उन्हें मुंह की खानी पड़ी।

समता के लिए प्रयास

भारत में अछूतोद्धार के कार्य को महात्मा गाँधी ने व्यावहारिक रूप दिया। भारत में आज जो मानवीय समानता की भावना दृष्टिगोचर हो रही है वह बापू की ही देन है। हरिजन-अछूतोद्धार के लिए गाँधीजी ने कई तरह के आन्दोलन चलाये। अखबार निकाल कर जाति-पाँति की बुराइयों से जनता को अवगत कराया। महात्माजी अपने दौरे के समय जहाँ भी जाते थे वे हरिजन बस्ती में ही ठहरा करते थे। अछूतोद्धार के लिए गाँधीजी की तरह ही बिनोबाभावे ने उनके कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया।

आर्य समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने गुण,



कर्म, स्वभाव से वर्ण-धर्म का प्रतिपादन किया और प्रचलित ऊँच-नीच की मान्यताओं का घोर विरोध किया ।

विधर्मियों को धर्म-शिक्षा

आर्य समाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द का शुद्ध आन्दोलन का कार्य प्रसिद्ध है । उन्होंने निम्न जाति के हिन्दुओं को जिन्हें ईसाई, मुसलमान बना लिया गया था पुनः शुद्ध करके हिन्दुओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया । इसी तरह अछूतोद्धार के लिये कार्य किया । निम्न जातियाँ जो उच्च वर्णों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं, उनको समाज में समान स्थान दिलाने के लिये वे आजीवन प्रयत्न करते रहे ।

मनुष्य की पहिचान वस्त्र नहीं चरित्र

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका की एक सड़क से गुजर रहे थे तो उनकी विचित्र वेशभूषा को देखकर लोग उन्हें मूर्ख समझने और मजाक बनाने लगे । अपने पीछे आती हुई भीड़ के सम्मुख स्वामीजी रुके और उनसे पीछे मुड़कर कहा—सज्जनो ! मेरी वेशभूषा को देखकर आश्चर्य मत करो । आपके देश में सभ्यता की कसौटी पोशाक है । पर मैं जिस देश से आया हूँ वहाँ कपड़ों से नहीं मनुष्य की पहिचान उसके चरित्र से होती है ।

वेश्या से तपस्विनी

आम्बपाली नामक एक वेश्या भगवान् बुद्ध को भोजन का निर्मात्रण देने गई । उनसे स्वीकार कर लिया । थोड़ी देर बाद वैशाली राजवंश के लिच्छवि राजकुमार आये और उनसे राजमहल में चलकर भोजन करने के लिये प्रार्थना की तो बुद्ध ने कहा—मैं आम्बपाली के यहाँ भोजन की स्वीकृति दे चुका हूँ । उनसे मीठे चावल और रोटो की भिक्षा प्रेम पूर्वक ग्रहण की । कुछ समय बाद वह वेश्या भी बुद्ध भगवान् के उपदेशों से प्रभावित होकर बौद्ध भिक्षुणी बन गई ।

पाप से घृणा करते हुए भी पापी से प्यार करके उसे सुधारा जा सकता है ।

अंगुलीमाल के दृष्टिकोण का परिवर्तन

भगवान् बुद्ध एकवार निविड़ बन को पार करते हुए कहीं जा रहे थे । रास्ते में उनकी भेंट अंगुलीमाल डाकू से हो गई । वह सदैव अनेक निर्दोषों का वध करके उनकी उंगलियों की माला अपने गले में धारण किया करता था । आज सामने आये हुये साधु को देखकर उसकी बाँछें खिल उठीं ।

“आज आप ही मेरे शिकार होंगे” अंगुलीमाल ने बुद्ध से कहा और अपनी पैनी तलवार म्यान से बाहर निकाली ।

तथागत मुसकराये, उनने कहा—“वत्स तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा । मैं कहीं भागने वाला नहीं हूँ । दो क्षण का विलम्ब सहन कर सको तो मेरी एक मुनलो ।”

डाकू ठिठक गया उसने कहा—“कहिये क्या कहना है ?”

तथागत ने कहा—“सामने वाले वृक्ष से एक पत्ता तोड़कर जमीन पर रख दो ।”

डाकू ने वैसा ही किया । उन्होंने फिर कहा—“अब इसे पुनः पेड़ में जोड़ दो ।” डाकू ने कहा—यह कैसे सम्भव है ? तोड़ना सरल है, पर उसे जोड़ा नहीं जा सकता ।

बुद्ध ने गम्भीर मुद्रा में कहा—वत्स, इस संसार में मार-काट, तोड़-फोड़, उपद्रव और विनाश यह सभी सरल हैं । इन्हें कोई तुच्छ व्यक्ति भी कर सकता है, फिर तुम इसमें अपनी क्या महानता सोचते हो और किस बात का अभिमान करते हो ? बड़प्पन की बात निर्माण है—विनाश नहीं । तुम विनाश के तुच्छ आचरण को छोड़कर निर्माण का महान् कार्यक्रम क्यों नहीं अपनाते ?

अंगुलीमाल के अन्तःकरण में शब्द तीर की तरह घुसते गये ।

तलवार उसके हाथ से छूट पड़ी। कातर होकर उसने तथागत से पूछा—“इतनी देर तक पाप कर्म करने पर भी क्या मैं पुनः धर्मात्मा हो सकता हूँ?” वे बोले—“वत्स, मनुष्य अपने विचार और कार्यों को बदल कर कभी भी पाप से पुण्य की ओर मुड़ सकता है। धर्म का मार्ग किसी के लिये भी अवरुद्ध नहीं है। तुम अपना दृष्टिकोण बदलोगे तो सारा जीवन ही बदल जायगा। विचार बदले तो मनुष्य बदला।” अंगुलीमाल ने दस्यु कर्म छोड़कर प्रब्रजा लेली। वह भगवान् बुद्ध के प्रख्यात शिष्यों में से एक हुआ है।

छोटा शुभारम्भ भी उत्तम

एक बहेलिया भगवान् महावीर से धर्मोपदेश लेने गया और आत्म-कल्याण का उपाय पूछा। भगवान् ने “अहिंसा परमोधर्मः” का उपदेश करते हुये कहा कि जीवहिंसा छोड़ दो। बहेलिया इस पर तैयार नहीं हुआ। तब महावीर ने उसे निर्दोष लामड़ी, खरगोश, कबूतर आदि छोटे जीवों को न मारने का व्रत लेने का कहा। उसने उत्तर दिया—आमतौर से मैं इन्हीं जीवों को पकड़ पाता हूँ और इन्हीं से अपनी आजीविका चलाता हूँ। इन्हें मारना छोड़ सकना मेरे लिये कठिन है।

तब भगवान् महावीर ने कहा—अच्छा, किसी प्रकार शुभारम्भ तो करो। जिसे तुम उचित समझो, कम से उस एक जीव पर तो आज से दया करने और हिंसा छोड़ने का व्रत ले लो।” बहेलिया ने कोए की हिंसा न करने का व्रत लिया। व्रत छोटा एवं उपहासास्पद था। पर एक कदम आगे बढ़ा सो बढ़ता ही गया और वह थोड़े समय बाद जैन धर्म का श्रेष्ठ सन्त तथा धर्म प्रचारक प्रसिद्ध हुआ।

छोटा काम करने वाले अर्जुनदेव

अर्जुनदेव जब पहली बार गुरु के अखाड़े में गये तभी से उन्हें बर्तन साफ करने का काम सौंपा गया। दूसरे शिष्य तो प्रातःकाल भजन-सत्संग में शामिल होते पर अर्जुनदेव उस समय बर्तन साफ किया करते

थे। वे शिष्य मण्डली में सबसे छोटे समझे जाते थे। गुरु ने अन्तिम समय उत्तराधिकारी का बसीयतनामा लिखा। मृत्यु के बाद सबने पढ़ा तो देखा कि अर्जुनदेव को ही गद्दी मिली है। अपनी उत्कट सेवा-भावना के द्वारा अर्जुनदेव सिखों के पाँचवे गुरु बने।

यह घटनाएँ बताती हैं कि मनुष्य अपने आपको बदल सकता है। नीच से ऊँच और ऊँच से नीच बन सकता है। रावण विद्वान् था, ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था, पुलस्त्य ऋषि का वंशज था फिर भी दुष्कर्मों के कारण असुर, चाण्डाल बन गया। नीच-ऊँच बनने का माध्यम गुण-कर्म हैं, वंश नहीं।

सर जगदीश चन्द्र द्वारा डाकू का सुधार

बङ्गाल के संसार प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस इस बात का विश्वास करते थे कि बुरे से बुरे व्यक्ति को सद्व्यवहार द्वारा सुधारा जा सकता है।

सर बोस के पिता भगवान्चन्द्रजी डिप्टी-कलक्टर थे और चोर, डाकुओं को पकड़वाने का कार्य भी उन्हें करना पड़ता था। एक बार एक खतरनाक डाकू को उन्होंने पकड़वाया, अदालत ने उसे जेलखाने की कड़ी सजा दी।

जब यह डाकू जेल से छूट कर आया, तो वह जगदीशचन्द्र के पास गया और कहने लगा—“सुविधापूर्वक खर्च न चलने के कारण मुझे अपराध करने पड़ते हैं। यदि आप मेरा कोई काम लगवा दें तो मैं उत्तम जीवन व्यतीत कर सकूँगा।”

जगदीश अपनी दयालुता के लिए प्रसिद्ध थे। उनने उस डाकू को बिना अधिक पूछ-ताछ किये अपने पास एक अच्छी नौकरी पर रख लिया। उस दिन से कभी उस डाकू ने कोई अपराध न किया और मालिक के कुटुम्ब पर आई हुई आपत्तियों के समय उसने अपने प्राणों को खतरे में डाल कर भी उनकी रक्षा की।

स्वभावतः कोई व्यक्ति बुरा नहीं है। बुरी परिस्थितियाँ मनुष्य को बुरा बनाती हैं यदि उसकी परिस्थितियाँ बदल दी जायें, तो बुरे से बुरे व्यक्ति को भी अच्छे मार्ग पर चलने वाला बनाया जा सकता है।

“पत्थर कौन मारे”

व्यभिचार के अपराध में एक स्त्री को पकड़ कर लाया गया। पंचों ने निर्णय किया कि पत्थर मार-मारकर उसका बध कर डाला जाय।

दर्शकों की भीड़ पत्थरों के बड़े-बड़े टुकड़े हाथ में लिए खड़ी थी। अपराधिनी का मस्तक लज्जा से झुका था, वह भय से थर-थर काँप रही थी।

ईसा उधर से निकले। लोगों ने उन्हें रोका और इस अपराध एवं दण्ड व्यवस्था पर अपना अभिमत प्रकट करने का अनुरोध किया।

लोगों को सम्बोधन करते हुए ईसा ने कहा—अपराधी को दण्ड देना उचित है, पर पत्थर उन्हें मारने चाहिए जिन्होंने कभी अपराध न किया हो। जो कभी व्यभिचार कर चुके हों उनके लिए तो ऐसा करना सरासर अनुचित है।

इस विवेक व्यवस्था को दर्शकों ने ध्यानपूर्वक सुना। हाथों में रखे पत्थर नीचे गिरने लगे भीड़ खिसकनी प्रारम्भ हो गई। बध-स्थली पर अपराधिनी और ईसा दो ही खड़े थे। ईसा ने कहा—भटकने वाली लड़की जा, प्रभु से क्षमा माँग और नेक जीवन व्यतीत कर।

यह कथाएँ बताती हैं कि बुराई अपनी देखनी चाहिये, छोटा अपने को समझना चाहिए। किसी की इसलिए छोटा या नीच समझना कि वह अमुक वंश में जन्मा है सर्वथा अन्याय है। जब बुरे व्यक्ति भी अच्छे वातावरण में अच्छे बन सकते हैं, तब किसी से आजीवन इसलिए घृणा की जाय कि वह छोटे कुल में उत्पन्न हुआ है—सर्वथा अनुपयुक्त है।

—X X—

सन्तों की विवेक-दृष्टि

सन्त तुकाराम कुनवी जाति में पैदा हुए थे जो उन दिनों एक तरह से नीची कौम मानी जाती थी। लेकिन अपने सद्गुणों, सद्ब्यवहार, भगवद्भक्ति, ज्ञान आदि के कारण तुकाराम भक्तों, सन्तों की श्रेणी में माने गये। आज भी दक्षिण भारत में सन्त तुकाराम के अभंग उसी तरह गाये जाते हैं जैसे मीरा, सूर, तुलसी आदि की रचनाएँ।

सन्त नामदेव दर्जी थे। रसखान मुसलमान था किन्तु उसकी गणना हिन्दू भक्तों में की जाती है।

सन्त रैदास जाति के चमार थे, लेकिन अपने सद्गुणों और भगवद्भक्ति के द्वारा वे उत्कृष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में आ गये। भारत में सन्त रैदास का न केवल निम्न जाति में ही बरन् उच्च वर्ग में भी सम्मान-युक्त और पूज्यनीय स्थान है।

सन्त कबीर जाति से जुलाहा थे। लेकिन अपने ज्ञान, विद्वत्ता, ईश्वर-निष्ठा सज्जनता के कारण सारे भारत वासी इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते आये हैं। सन्त कबीर ने न केवल मानव-मात्र को समान माना बरन् उन्होंने जाति पाँति, ऊँच-नीच, वर्ग भेद की खुले शब्दों में निन्दा की। कबीर के इन सिद्धान्तों से लोग इतने प्रभावित थे कि निम्न जाति के लोगों के अतिरिक्त हिन्दू, मुसलमान दोनों वर्गों ने ही इन्हें अपना माना।

रामानुजाचार्य को उनके गुरु ने कई प्रकार की विद्याएँ सिखाई। ज्ञानदीक्षा सम्पन्न करते हुए उनके आचार्य ने कहा—“रामानुज नीच जाति के लोगों को यह ज्ञान मत देना।” इस पर रामानुज बोले—“गुरुदेव ! जिसका गिरे हुआ को उठाने में उपयोग न हो वह शिक्षा मुझे नहीं चाहिये।” शिष्य की विशाल भावना देखते हुए आचार्य ने स्वेच्छा से उसके उपयोग करने की स्वीकृति दे दी। आगे चलकर रामानुज ने

जाति-पाँति पर जोर न देकर सर्वसाधारण को ज्ञान का मार्ग दिखाया । उन्होंने छोटी कौमों को भक्ति के मार्ग पर प्रवृत्त करके जीवन विकास की ओर प्रेरित किया ।

यवनाचार्य के बारे में कहा जाता है कि वे जाति से यवन थे और हिन्दू-धर्म ग्रहण करके केवल सामान्य व्यक्ति ही नहीं वरन् आचार्यत्व की स्थिति प्राप्त की थी ।

महर्षि वाल्मीकि शूद्र जाति के थे और पेशे से डाकू थे । राहगीरों को लूटना उनको मारकर धन अपहरण करना ऐसे हिंसक और क्रूर कर्मों में वे लगे रहते थे । लेकिन नारदादि ऋषियों के सत्संग से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और वे आत्म-साधना में संलग्न हो गये । उन्होंने अपने जीवन को विकसित करने के लिये धोर तप किया और वे डाकू से महर्षि वाल्मीकि बन गये । शुभ कर्मों और सद्गुणोंसे एक नीच व्यक्ति भी महान बन जाता है ।

फूट और उसके दुष्परिणाम

जाति-पाँत के अन्तर्गत छोटे-बड़े की—ऊँच-नीच की भावना फूट फैलाती है । एक दूसरे को अलग करती है । एक देश में अनेकों देश, एक समाज में अनेकों समाज, एक वर्ग जाति में अनेकों जाति उत्पन्न करती है । इस फूट का दुष्परिणाम पिछले दिनों सारे समाज को सोगना पड़ा है और हमें एक हजार वर्ष की गुलामी का दण्ड भुगतना पड़ा है । अब समय आ गया है कि अलगाव की दुष्प्रवृत्तियों के खतरे को समझा जाय और उनसे पिण्ड छुड़ाने का प्रयत्न किया जाय । इस संदर्भ में निम्न कथाओं का मनन करना चाहिये ।

विभीषण रावण से क्रुद्ध होकर राम से जा मिला । उसने लंका का सारा भेद बता दिया । फलस्वरूप असुर वंश का नाश हो गया । जयचन्द मुहम्मद गजनवी से जा मिला और भारत के सब राजाओं की कमजोरी उसे बतादी । उस भेद से लाभ उठाकर ही मुसल-



मान थोड़े प्रयत्न से इतनी आश्चर्य जनक विजय प्राप्त कर सके। राज-पूतों में से बहुत से मुसलमानों से जा मिले थे, यही कारण था कि इतने लम्बे समय तक भारत को गुलाम बनाये रह सके। अंग्रेजों को यहाँ के प्रतिभाशाली लोगों का सहयोग न मिला होता तो वे इतनी थोड़ी संख्या में थे कि इतने दिन तक हमारा षोषण कर सकने में कभी सकल न होते। शक्तिसिंह और राणाप्रताप में फूट पड़ जाने से ही चित्तौड़ का पतन हुआ था। ऐसी कलङ्कित गाथाएं इतिहास में अनेकों मिलती हैं जिनके कारण उस फूट के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों का ही नहीं व्यापक पैमाने पर समाज का अहित ही हुआ है।

बन्दर-बिल्ली की कहानी प्रसिद्ध है जिसमें एक रोटी को आपस में बाँट न कर सकने के कारण बन्दर के हाथों उन्हें पूरी रोटी गंवानी पड़ी है। भारत में फैली हुई जाति पाँति, लिङ्ग भेद, ऊँच-नीच, भाषावाद, प्रान्तवाद आदि के नाम पर अलगाव की प्रवृत्तियाँ सब प्रकार अवांछनीय हैं। उनका जितनी जल्दी अन्त हो, एकता की भावनाएं जितनी जल्दी उदय हों उतना ही उत्तम है।

इस संदर्भ में निम्न कथाओं का मनन करना चाहिए।

लुटवाया साम्प्रदायिक भावना ने

एक बार एक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक डाकू ने उन्हें देख लिया। उसने उनके सामान को लूटना चाहा किन्तु वह एक था और यात्री चार थे। उसे एक तरकीब सूझी। डाकू ने ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य की तो खूब प्रशंसा की और शूद्र को गाली देकर खूब पिटाई की और जो कुछ था छीन लिया। इसके पश्चात् वैश्य और फिर क्षत्रिय, ब्राह्मण सभी का क्रमशः यही हाल किया। चारों से सब कुछ लूटकर डाकू चलता बना। चारों अपना सा मुँह लेकर चले गये। मार्ग में उनके गाँव का एक नाई मिला, उसे सारा हाल सुनाया तो वह बोला—“आप लोग संगठित होकर रहते तो यह हालत नहीं

होती ।” असंगठित समाज को इसी तरह हानि और अपमान सहना पड़ता है ।

परस्पर निंदकों की दुर्गति

दो विद्वान् पण्डित एक गृहस्थ के घर अतिथि हुए । एक विद्वान् स्नान-गृह में गये थे । गृहस्थ ने दूसरे से उनके बारे में पूछा तो वह कहने लगे—“वह तो बिल्कुल बैल है ।” पहला बाहर आ गया और दूसरा स्नान करने गया तो गृहस्थ ने उससे भी वही बात पूछी । दूसरा विद्वान् बोला—“वह तो पूरा गधा है ।” दोनों भोजन के लिये बैठे तो गृहस्थ ने एक के आगे भूसा और दूसरे के आगे घास पटक कर बोला—लीजिये महाराज बैल और गधे का भोजन हाजिर है । यह सुनकर दोनों बड़े लज्जित हुए । तब अच्छा भोजन परोसते हुए गृहस्थ ने समझाया, महाराज विद्वान् व्यक्ति एक-दूसरे से ईर्ष्या द्वेष नहीं किया करते ।

पक्षियों की फूट का परिणाम

एकबार कई पक्षी एक बहेलिये के जाल में फंस गये । पक्षियों ने सलाह की और एक साथ जाल लेकर उड़ गये । व्याध भी उनके पीछे दौड़ा । किसी साधू ने पूछा भाई अब इनके पीछे दौड़ने से क्या लाभ ? व्याध बोला—“महाराज जब तक ये पक्षी एक विचार और संगठन में हैं तभी तक जाल का बोझ उठा सकेंगे ।” ऐसा ही हुआ । थोड़ी ही देर में—कहाँ उतरें !—के प्रश्न पर उनमें विवाद हो गया । किसी-किसी ने ढील दे दी और परिणाम यह हुआ कि वे जाल समेत नीचे गिरे और मारे गये । एकता में बड़ी शक्ति है ।

एकता की आवश्यकता

पांडव जब वन में थे तो कौरवों का मुकाबला किसी जंगली जाति से हो गया । कौरव पकड़कर बन्दी बना लिये गए । यह सुनकर भीम बड़े प्रसन्न हुए । पर युधिष्ठिर को यह बात अप्रिय लगी उन्होंने कहा—हम आपस में भले ही पाँच और सौ हों किन्तु बाहरी लोगों के

लिए एक-सौ पाँच हैं। यह कहकर उन्होंने जंगली लोगों से लड़कर कौरवों को छुड़ा दिया।

बिरादरी का विरोध एक बड़ी बाधा

एक कुत्ता तेजी से चलता हुआ गंगा स्नान के लिए जा रहा था। रास्ते में किसी ने पूछा—कुत्ते ! इतनी तेजी से चलते हुए तो तुम बहुत जल्दी गंगा पहुँच जाओगे। कुत्ते ने लम्बी सांस खींचते हुए कहा—गांव-गाँव में बिरादरी के लोग मिलेंगे और वे मेरा रास्ता रोकने में कुछ उठा न रखेंगे अतएव मेरा तेज चलना भी उतना सार्थक न हो सकेगा जितना आप सोचते हैं।

कुल्हाड़ी का वेंट

एक मोटा मजबूत पेड़ कट कर जमीन पर गिर पड़ा। उसे इस तरह जमीन पर पड़ा देखकर एक रास्तागीर ने पूछा—भाई पेड़ तुम तो बहुत मजबूत थे। कल तक बड़ी शान से खड़े थे आज क्या हुआ जो इस तरह नीचे गिर जाना पड़ा ?

पेड़ ने दर्द भरे स्वर में कहा—मेरे वंश का एक लकड़ी का टुकड़ा कुल्हाड़ी का वेंट बन गया और उसके कारण मेरी जड़ कट गई। यदि वह लकड़ी का वेंट विरोधी से न मिल गया होता तो कुल्हाड़ी लोहे की होते हुए भी मेरा कुछ बिगाड़ न सकती।

×

×

×

ब्राह्मणः समदर्शः शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।

स्वत्रते तस्य ब्रह्मत्वं भिन्नभाण्डात्पयो यथा ।

जो ब्राह्मण अपने आपको समदर्शी एवं शान्त कहकर अपने आराम के लिये दीन-दुर्बलों को अनुचित रीति से सताया जाना उपेक्षा-पूर्वक देखता रहता है उसका मिथ्या ब्रह्मज्ञान फूटे हुए बरतन से पानी की भाँति चू जाता है अर्थात् शनैः शनैः नष्ट हो जाता है।

न विशेषोऽरित वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

मनुष्य सब सामान हैं । वर्णों के कारण उनमें कोई अन्तर या विशेषता नहीं होती क्योंकि समस्त प्राणी एक ही ब्रह्मा के द्वारा रचे गये हैं । संसार में सामाजिक व्यवहार में यह विभिन्नता, पृथक्ता तथा वर्ण-भेद सब कर्म के आधार पर निर्मित हुआ है ।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहु राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतः॥

इस मनुष्य समाज रूपी शरीर का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य मध्य भाग है और पैर शूद्र हैं ।

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न ।
न च शूद्रो न वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥

जाति से या जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है न वैश्य होता है और न क्षत्रिय होता है । जाति से ही न कोई शूद्र होता है और न म्लेच्छ होता है अर्थात् सब एक समान होते हैं । किन्तु गुण, कर्म के, भेद के कारण ही सबका अलग-अलग वर्ण हो जाता है । जो जैसे कर्म करेगा वैसा ही वर्ण उसे प्राप्त होगा ।

शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत् ।
ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत् ॥

जो शूद्र होकर भी शील सम्पन्न है वह ब्राह्मण से अधिक मान्य होता है । जो ब्राह्मण होकर भी आचारहीन है वह शूद्र से भी नीच कहलाता है ।

**कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥**

काम, क्रोध भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, श्रम, यह सभी में होते हैं फिर वर्णों का विभाजन कैसे होता है, क्यों भिन्नता होती है ?

**स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषा कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥**

स्वेद (पसीना), मूत्र मल, श्लेष्मा (कफ), पित्त और शोणित यह सभी चीजें सब मनुष्यों के शरीर में ही समान रूप से हैं और सबका शरीर ही नष्ट होता रहता है फिर अलग-अलग विभाजन किसलिये होता है ?

**न विशषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मणमिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥**

सब मनुष्यों में या सब वर्णों में कोई विशेषता नहीं है क्योंकि यह सारा जगत् ही ब्राह्म है, ब्रह्मा ने ही पहले रचा है । किन्तु कर्मों की भिन्नता से वर्ण भी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं ।

**गणिकागर्भसंभूतो वसिष्ठश्च महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणे जातः संस्कारस्तत्र कारणम्।**

गणिका (वेश्या) के गर्भ से उत्पन्न हुआ महामुनि वशिष्ठ तपस्या करके ब्राह्मण हो गया । वहाँ संस्कार को ही कर्म मानते हैं ।

**जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्यास्तु पराशरः।
बहवोऽन्येपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः ॥**

व्यास मुनि कैवर्त्य से उत्पन्न हुआ था तथा पाराशर श्वपाकी से

उत्पन्न हुआ था, परन्तु शुभ कर्मों के कारण ब्राह्मण हो गये । इसी प्रकार अन्य भी बहुत से अब्राह्मण मनुष्य ब्राह्मण हो गये ।

विश्वामित्रो वशिष्ठश्च मतंगो नारदादयः ।

तपोविशेषैः संप्राप्ता उत्तमत्वं न जातितः ॥

विश्वामित्र, वशिष्ठ, मतङ्ग और नारदादि मुनि तप विशेष करने के कारण ही उत्तमता को प्राप्त हो गये । किन्तु जाति से नहीं ।

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपाः ।

क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥

महातपस्वी विश्वामित्र तप के ही कारण ब्राह्मणता को प्राप्त हो गया । पहले वह क्षत्रिय था किन्तु बाद में ब्राह्मण वंश का प्रवर्तक बन गया । तपस्या ही इसका कारण है ।

काकः पक्षिषु चांडालः स्मृतः पशुषु गर्दभः ।

नराणां कोऽपि चांडालः स्मृतः सर्वेषु निन्दकः ॥

पक्षियों में कौवा चाण्डाल होता है और पशुओं में गधा चाण्डाल होता है । मनुष्यों में कोई एक चाण्डाल नहीं होता, जो भी निन्दक होते हैं वे सब चाण्डाल कहलाते हैं ।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेप्यते ।

कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥

ब्राह्मणों का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं के लिये नहीं है । वह तो इस लोक में घोर तप के लिये और परलोक में शाश्वत कल्याण के लिये ही है ।

वृत्तेन भवति चार्यो न धनेन न विद्यया ।

वृत्तरथो योऽपि चांडालस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

(पद्म पु० सृष्टि खण्ड अ० ५०)

धन और विद्या से कोई ब्राह्मण नहीं होता, पर सदाचार सम्पन्न यदि चाण्डाल है तो देवता भी उसको ब्राह्मण समझते हैं ।

पठन्तः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।

सर्वं व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान् संपंडितः ॥

(म० भा० वन० ३१४।११०)

पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और भी शास्त्रचिन्तक ये तो व्यवसनी समझो, जो शास्त्रानुसार चलने वाला है वही पण्डित है ।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृतः स शूद्रादतिरिच्यते ।

अग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

चारों वेदों का जानकर यदि दुराचारी है तो वह शूद्र से भी गया बीता है । जो अग्निहोत्री (काम, क्रोध, लोभादि को हवन करने वाला) और इन्द्रिय निग्रही है वह ब्राह्मण है ।

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पंडितमानिनः ।

सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ॥

जहाँ बहुत-से नेता होते हैं और सभी अपने आपको पण्डित समझने वाले तथा अहङ्कारी होते हैं और सभी अपनी प्रशंसा चाहते हैं वह समाज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोलें बोल ।

रहिमन हीरा कब कहै, लाख हमारा मोल ॥

वैष्णव हुआ तो क्या हुआ,माला मेली चारि ।

बाहर कंचन सा रहा, भीतर भरी भंगारि ॥

एक धरहि घर मलिनता,अपर स्वच्छ करि जात ।

द्वै महुँ कौन अछूत है, नीके निर्णहु तात ॥

क्षत्री सो जो क्षत्र को धर्म करें निर्वह ।
 पररक्षा हित ना करै जीवन की परवाह ॥
 पंकज उपजैं पंक में, सौरभ अति सुखकार ।
 होत महत्व न जन्म को, गुण कारण सुविचार ॥
 है जहँ आठ कनौजिया, नौ चूल्हे की रीति ।
 तहाँ परस्पर प्रीति की, कहा पढ़ावत नीति ॥
 ऊँचे कुल क्या जन्मिया, जो करनी ऊँच न होय ।
 सुबरन कलस सुराभरी, साधू निंदै सोय ॥
 जाति न पूछे साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान ।
 मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥

श्री रामचन्द्रजी भक्ति-भाव के मुकावले में जाति-पाँति को महत्त्व नहीं देते थे—

कह रघुपति सुनु भामिन बाता ।
 मानउँ एक भगति कर नाता ॥
 जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई ।
 धन बल परिजन गुन चतुराई ॥
 भगति हीन नर सोहड़ कैसा ।
 बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ॥

॥ सातवाँ प्रवचन समाप्त ॥

—××—



आठवाँ-प्रवचन



(अपना उद्धार आप करें)

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

(अध्याय ६ श्लोक १)

मनुष्य आत्मा से आत्मा का उद्धार करे । आत्मा को नीचे न गिरावे । क्यों कि आत्मा ही आत्मा का बंधु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

(अध्याय ६ श्लोक ६)

निस्सन्देह उस आत्मा का आत्मा बंधु है जिसने आत्मा से आत्मा को जीता हुआ है । किन्तु अनात्मा (न जीते हुए आत्मा) का आत्मा निस्संदेह शत्रुवत् शत्रुता करता है ।



भगवान् ने मनुष्य को उन सब विशेषताओं से परिपूर्ण बनाकर इस पृथ्वी पर भेजा है जिनके आधार पर वह अपना उद्धार-उत्थान, बड़ी सरलता से कर सकता है। उसके शरीर की रचना अद्भुत है, उसके मन की रचना अलौकिक है, उसका अन्तरात्मा ऐसी शक्ति और सामर्थ्य से परिपूर्ण है, जिसके आधार पर अपने जीवन में स्वर्ग का और अपने समाज में शान्ति का अवतरण कर सकता है। पर यदि हम अपनी सामर्थ्य और शक्ति को भूले ही रहें, उसका उपयोग ही न करें, तो गया गुजरा, दुःख, अभावों से ग्रस्त दीन-हीन जीवन बिताना ही पड़ेगा।

दूसरों को हम अनेक शिक्षाएं देना चाहते हैं, उनके मार्ग-दर्शक बनना चाहते हैं, अन्य व्यक्तियों को अपना आज्ञानुवर्ती बनाना चाहते हैं पर कितने आश्चर्य की बात है कि हम अपने मन और इन्द्रियों को अनुशासन में नहीं कर पाते। दूसरों को आज्ञानुवर्ती बनाकर जितना प्रयोजन हम सिद्ध कर सकते हैं उससे अनेकों गुना सत्परिणाम हम अपने आपको वृक्ष में करके उठा सकते हैं। निम्न स्तर का जीवन जीने को आज हमें इसीलिये विवश होना पड़ता है कि हमारा आन्तरिक स्तर अनेक दोष-दुर्गुणों से प्रसित बना हुआ है। भीतर की दुर्बलताएं ही बाह्य-जीवन को दीन-दुःखी बनाये रखने के लिये विवश करती हैं। जो भीतर से छोटा है, ओछा है, उसे बाह्य-जीवन में भी दुःख, दारिद्र्य से शोक-संतापों से, कुण्ठाओं और चिन्ताओं से भरा जीवन बिताने के लिये विवश होना पड़ेगा।

गीताकार ने अर्जुन को, और उसके माध्यम से मनुष्य मात्र को यह प्रेरणाएं दी हैं कि वह अपना उद्धार आप करे। अपने उत्कर्ष के लिए स्वयं कटिबद्ध हो। अपने उत्थान और पतन की जिम्मेदारियां स्वयं चहन करे। मनुष्य को यह विश्वास करना ही चाहिए कि यदि उसे ऊंचा उठना है तो उसमें उसका निज का पुरुषार्थ ही प्रधान कारण होगा। यदि वह गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहता है तो भी इसमें उसकी ही

जिम्मेदारियाँ हैं। दूसरों का सहयोग-असहयोग, सामयिक परिस्थितियों का अनुकूल-प्रतिकूल होना भी उत्थान-पतन में थोड़ा सहायक हो सकता है पर उनका प्रभाव स्वल्प ही होता है। शक्तियों का स्रोत तो अपने भीतर ही है। जब वह खुल पड़ता है तो बाहरी असहयोग या बाधाओं को, उफनती नदी द्वारा कूड़ा-करकट, बहा ले जाने की तरह मार्ग से हटाकर दूर फेंक देता है। इसी प्रकार यदि आत्मबल बढ़ा हुआ हो तो, साहस, धैर्य, और लगन की कमी न रहे, सद्गुण समुचित मात्रा में विद्यमान हों वैसे परिस्थितियाँ सहज ही बनती चली जाती हैं जिनमें आगे बढ़ सकना, ऊपर उठ सकना सरल बन जाय। ईश्वर मनुष्य की सहायता भी करता है। पर करता तभी है जब यह देख लेता है कि यह वस्तुतः, इसका पात्र है। सहयोग करने वाले और आगे बढ़ने में मदद करने वाले सज्जनों की भी इस दुनियाँ में कमी नहीं है पर वह मिलती तभी है जब मनुष्य अपनी पात्रता को कसौटी पर कसकर खरा सिद्ध कर देता है। सहायता का उपयोग भी तभी है जब मनुष्य उसका पात्र हो, अन्यथा कीचड़ में दूध डालने की तरह वह सहायता भी निष्फल चली जाती है। कुपात्र की सहायता से उसका कुछ लाभ तो होता नहीं उल्टे साँप को दूध पिलाने की तरह उसकी आलस्य, अहंकार जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ और बढ़ जाती हैं। इसी से जिनका व्यक्तित्व सहायता का पात्र न हो उसे आमतौर से न लोगों की सहायता मिलती है न ईश्वर की।

प्रगति के पथ पर बढ़ चलने की परिस्थितियाँ उपलब्ध हों, उसके लिए दूसरों से याचना की आवश्यकता नहीं। देवताओं से भी कुछ माँगना व्यर्थ है। क्योंकि वे भी सद्पात्र को ही सहायता करने के अपने नियम में बँधे हुए हैं। मर्यादाओं का उल्लंघन करना जिस तरह मनुष्य के लिये उचित नहीं है, उसी तरह देवता भी अपनी यही मर्यादाएँ बनाये हुए हैं कि जिसने अपने व्यक्तित्व के परिष्कृत करने की, कठोर काम करने की तपश्चर्या की हो केवल उसी पर अनुग्रह किया जाय और उसे

ही किसी तरह का वरदान दिया जाय । माँगने से पहले, उस पात्र को, तपस्या करनी पड़ती है जिसमें डालने पर उस वस्तु को रखा जा सके । यदि पात्र नहीं है तो किसी के देने पर भी वह वस्तु ग्रहण न की जा सकेगी । गरम दूध कोई दे रहा हो तो लेने के लिये कोई पात्र तो चाहिये ही । ईश्वरी या दैवी अनुकम्पाएँ भी गरम दूध की तरह हैं उन्हें लेने को पहले आवश्यक पात्रता का सम्पादन करना ही चाहिए । यह प्राथमिक योग्यता है जहाँ उपलब्ध हुई कि ईश्वरीय प्रेरणा एवं व्यवस्था के अनुसार दूसरों की सहायता भी मिलनी अनिवार्य है और वह अपना उद्धार करने का इच्छुक अभीष्ट परिस्थितियाँ सहज ही प्राप्त करते हुए तेजी से आगे बढ़ता जाता है । संसार का इतिहास इसी तथ्य की पग-पग पर साक्षी दे रहा है ।

(अपनी अवनति का, हीन स्थिति में पड़े रहने का दोष किसी दूसरे पर मढ़ना उचित नहीं । ग्रहदशा का विपरीत होना, भाग्य की हीनता, दूसरों के असहयोग को अपनी प्रगति में बन्धक मानना, अपने आपको धोखा देना, मिथ्या आत्म-संतोष करके झूठ-मंठ मन बहलाने के लिये भले ही कुछ काम का हो, वस्तुतः इन बातों में कोई तथ्य नहीं है । संसार में अगणित व्यक्ति ऐसे भी हैं जो गई गुजरी परिस्थितियों में उत्पन्न हुए, अभावों ने जिनका मार्ग अवरुद्ध कर रखा था, पर अपने प्रबल पुरुषार्थ मानवीय एवं उज्ज्वल व्यक्तित्व के आधार पर तेजी के साथ आगे बढ़ते चले गये और उन्नति के उस उच्च शिखर पर जा पहुँचे जिसे देखकर उनके अकर्मण्य साथियों को आश्चर्य चकित रह जाना पड़ा ।)

(भेड़ों के झुण्ड में पले हुए सिंह के भेड़ों की तरह बने रहने की कथा प्रसिद्ध है । एक व्यक्ति का सोने का कंठा गले में बँधा था और उसका विस्मरण हो जाने के कारण वह उसे खोया अनुभव करता था, उसी तरह हम भी आत्म-विस्मृत हुए बैठे हैं । अपनी शक्तियों और



संभावनाओं के संबंध में अनजान रहने के कारण हम गया-गुजरा जीवन-निर्वाह करते हैं और यह मान बैठते हैं कि हमारे भाग्य में इतना ही लिखा है, हमारी योग्यता इन्हीं परिस्थितियों में रहने की है। इस मिथ्या अवसाद एवं संभ्रम को दूर करने की प्रेरणा गीताकार ने दी है और कहा है—हे अर्जुन, हे मनुष्य ! (अपना उद्धार आप कर, अपने आपको गिरने न दे।) अपना आपा ही अपना मित्र और वही अपना शत्रु है। जिसने अपने को जीत लिया, सुधार लिया, उसका आपा ही उसका मित्र बनकर अगणित विभूतियों के उपहार प्रदान करता है और जिसने अपने आपे को गिरा लिया वह स्वयं ही अपना शत्रु है। उस शत्रु से इतनी अधिक हानि होने की सम्भावना रहती है जितनी संसार के सारे शत्रु मिल कर भी मनुष्य का अहित नहीं कर सकते।)

(अपना उद्धार करना संसार का उद्धार करने का प्रथम चरण है। समाज या संसार कोई अलग वस्तु नहीं, व्यक्तियों का समूह ही समाज या संसार कहलाता है। यदि हम संसार का उद्धार या कल्याण करना चाहते हैं तो वह कार्य अपने आप से आरम्भ करना चाहिए। क्योंकि अपना आपा ही सबसे निकट है। अपने को सुधारना सबसे अधिक सरल एवं सम्भव हो सकता है। दूसरे लोग कहना मानें या न मानें, बताये हुए रास्ते पर चलें या न चलें यह संदिग्ध है, पर अपने रूपर तो अपना नियन्त्रण है ही। अपने को तो अपनी मर्जी के अनुसार बना या चला सकते हैं। इसीलिए विश्व-कल्याण का कार्य सबसे प्रथम आत्म-कल्याण का कार्य हाथ में लेते हुए ही आरम्भ करना चाहिए।)

(संसार का एक अंश हम भी हैं। अगना जितना ही सुधार हम कर लेते हैं उतने ही अंशों में संसार सुधर जाता है। अपनी सेवा भी संसार की ही सेवा है। एक बुरा व्यक्ति अनेकों तक अपनी बुराई का प्रभाव फैलाता है और लोगों के पाप-तापों एवं शोक-संतापों में अभिवृद्धि करता है। इसी प्रकार एक अच्छा व्यक्ति अपनी अच्छाई से स्वयं



ही लाभान्वित नहीं होता वरन् दूसरे अनेकों लोगों की सुख-शान्ति बढ़ाने में सहायक होता है। सामाजिक होने के कारण मनुष्य स्वभावतः अपना प्रभाव दूसरों पर छोड़ता है। फिर जो जितना ही मनस्वी होगा वह अपनी अच्छाई या बुराई का भला-बुरा प्रभाव भी उसी अनुपात से संसार में फैलावेगा। इस प्रकार मनुष्य अपना सुधार करने में लग जाय तो वह संसार का बहुत भारी सुधार कर सकता है। अपनी सच्ची सेवा विश्व-सेवा का ही एक अंग मानी जा सकती है। संकुचित भौतिक स्वार्थों की इसीलिए ऋषियों ने निन्दा की है कि उनमें ग्रस्त होकर मनुष्य अपने धर्म-कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने लगता है।)

(माना कि दूसरों की गलतियाँ और बुराइयाँ भी हमें परेशान करती हैं और अनेक प्रकार की बाधाएं खड़ी करके प्रगति का द्वार रोकती हैं। संसार में बुरे लोग हैं और उनमें बुराइयाँ भी कम नहीं हैं इस बात से कोई इनकार नहीं करता, पर साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि कोई वस्तु सजातीय है एवं अनुकूल परिस्थितियों में ही बढ़ती एवं पनपती है। बुराई को अपना रूप प्रकट करने का अवसर तभी मिलेगा जब वैसी ही बुराई अपने अन्दर भी हो। अपना स्वभाव उत्कृष्ट हो तो बुरे लोगों को भी झक-मार कर निरस्त होना पड़ता है।

(क्रोधी मनुष्य को आक्रमण करने का अवसर उसी पर मिलता है जो स्वयं भी क्रोधी हो। क्रोध से क्रोध बढ़ता है और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वन्द्वयुद्ध का रूप धारण कर लेती है। यदि एक व्यक्ति नम्र, सहनशीलता, हंस-मुख, क्षमाशील और दूरदर्शी हो तो क्रोधी स्वभाव का मनुष्य भी उसे उत्तेजित नहीं कर पाता। वह अपनी नम्रता और सज्जनता से उसे शान्त कर देता है और क्रोध का जो मूल कारण था उसके समाधान का भी उपाय सोच लेता है। इसके विपरीत यदि दोनों ही क्रोधी हुए तो कोई बड़ा कारण न होते हुए भी केवल शब्दों की उच्छृङ्खलता लेकर परस्पर लड़-मरते हैं और मित्रता शत्रुता में बदल जाती है।

(दुराचारी की दाल नहीं गलती है जहां सदाचार का पक्ष दुर्बल हो । ठग हमेशा लोभी पर हाथ साफ करते हैं । दरिद्रता, आलसी के घर आती है, बीमारियां असंयमी पर हावी होती हैं, भय डरपोक को सताता है, अदूरदर्शी एवं जल्दबाज को चिन्ताएं घेरती हैं । यदि अपना व्यक्तित्व सच्चा, खरा और मजबूत हो तो इन बाहरी विकृतियों को उलटे पांवों लौटना पड़ेगा । पत्थर पर तलवार का प्रहार क्या सफल होगा ? ताली दोनों हाथों से बजती है । मक्खी गन्दगी पर बैठती है । घाब होगा तो उसमें कीड़े भी पड़ेंगे । यदि अपना पक्ष पहले से ही स्वच्छ रखा जाय तो सारे संसार के दोष मिलकर भी व्यक्ति का कुछ नहीं बिगाड़ सकते । चन्दन के पेड़ में लिपटे रहने वाले अनेकों सर्प उसे विषैला नहीं बना सकते । दुष्टों की दुष्टता सज्जनों को खरोच भले ही पहुँचावे, पर उन्हें परास्त नहीं कर सकती । इतिहास का पन्ना-पन्ना इस बात का साक्षी है कि सज्जनता और दुर्जनता के युद्ध में सज्जनता को नहीं, दुर्जनता को ही परास्त होना पड़ा है ।)

आहार और विहार के असंयम की कठोर समीक्षा करते हुए यदि अपना रहन-सहन सुव्यवस्थित करने पर ध्यान दिया जाय, जिह्वा और कामेन्द्रिय पर काबू रखा जाय, अनियमितता को हटाकर दिनचर्या को सुव्यवस्थित बनाया जाय, आलस्य को छोड़कर समय के एक-एक क्षण को मनोयोग पूर्वक निर्धारित कार्यक्रम में संलग्न रखा जाय तो शरीर का बिगड़ा हुआ ढंग देखते-देखते कुछ ही दिनों में ठीक हो सकता है और बीमारी की कमजोरी के कारण जो आये दिन चिकित्सकों के दरवाजे पर नाक रगड़नी पड़ती है उससे सहज ही छुटकारा मिल सकता है । दवाई का खर्च, अस्वस्थता के कारण पीड़ा एवं परेशानी, काम का हर्ज, सम्बन्धियों का तिरस्कार, कुरूपता, बुढ़ापा एवं अकाल-मृत्यु की छाया, इन सब विपत्तियों का तीन चौथाई निवारण मनुष्य स्वयं कर सकता है । यदि वह असंयम से छुटकारा पा सके तो अस्वस्थता भी उसका पीछा जरूर छोड़ देगी ।

मानसिक दृष्टि से अगणित व्यक्ति चिन्ता, भय, शोक क्षोभ, आवेश, उत्तेजना, ईर्ष्या, द्वेष, निराशा, आशङ्का आदि में ग्रस्त होकर उद्विग्न जीवन बिताते हुए नारकीय यन्त्रणायें सहते रहते हैं। इनके कारणों की तलाश करने पर वस्तुस्थिति बहुत ही सामान्य होती है। आत्म-हत्या तक कर बैठने वालों के संक्षोभ का कारण तलाश करने पर बात बहुत ही सामान्य-सी निकलती है, कई बार तो इतनी छोटी होती है कि उसे उपेक्षा से गुजारा जा सकता था, या कोई दूसरा उपाय उस क्षोभ से बच निकलने का आसानी से ढूँढा जा सकता था, पर उतावली एवं आवेश में वे किकर्तव्यविमूढ़ होकर अपनी विवेकशीलता खो बैठे और न करने लायक कर गुजरे। ऐसे उत्पाती, अधीर और आवेशग्रस्त मनुष्य साधारण घटनाओं को लेकर विधुब्ध बने फिरते हैं और अपने लिए तथा अपने सम्बन्धित लोगों के लिये अशान्ति की ज्वाला प्रज्वलित करते रहते हैं। यदि इस स्थिति की भयानकता को मनुष्य समझे और अपने को धैर्यवान्, गम्भीर, विचारशील एवं हंस-खेल कर कठिनाइयों को काट देने की आदत बना ले तो निश्चय ही उसका मन सन्तुलित और प्रसन्न बना रहे। कुढ़ने की अपेक्षा समस्या का हल वह अधिक आसानी से सोच सके और गई-गुजरी परिस्थितियों में भी आशा एवम् उत्साह की कोई किरण उपलब्ध कर ले।

मन को सन्तुलित करने के लिए किया हुआ प्रयत्न जीवन के सारे स्वरूप को ही बदल देता है। नरक को स्वर्ग में परिवर्तित करने की कुन्जी मनुष्य के हाथ में है। सोचने का तरीका यदि बदल डाले खिलाड़ी की भावना रखकर जिन्दगी का खेल खेले, नाटक के पात्रों की तरह अभिनय का आनन्द लेते हुए दिन गुजारे, बुराई में से भलाई और निराशा में से आशा की किरणें ढूँढ़ने का अभ्यास करे तो कोई कारण नहीं कि रोता रहने वाला मनुष्य हंसते-खिलते गुलाब के रूप में परिणत होकर न केवल अपनी ही मानसिक समस्या हल करले, वरन् पड़ोसियों

और सम्बन्धियों के लिये भी प्रसन्नता, आशा एवं प्रेरणा का केन्द्र बन जाय ।

कुमार्ग पर ले जाने वाली अनेकों बुराइयाँ जगह-जगह मौजूद हैं और वे अपना क्षेत्र बढ़ाने के लिए भी सक्रिय रहती हैं । अनेकों व्यक्ति उनके चंगुल में फँसते हैं और अपने आपको उस रङ्ग में इतना रंग लेते हैं कि फिर इस जाल से निकल सकना कठिन हो जाता है । जुएबाजी के शराबखोरी के, सिनेमाबाजी के, व्यभिचार के, आवारागर्दी के, शैतानी के अड्डे हर जगह पाये जाते हैं और अपना समय, स्वास्थ्य, धन, लोक-परलोक सभी कुछ गंवा कर लोग छूँछे हो जाते हैं । इससे उन बुराइयों की शक्ति और सफलता का अन्दाज सहज ही लगाया जा सकता है ।

पर यह प्रभाव खास तरह की उथली मनोभूमि के लोगों पर ही पड़ता है, वे ही इनके चंगुल में फँसते और बर्बाद होते हैं । उनका प्रभाव सभी पर पड़े ऐसी बात नहीं है । जहाँ एक व्यक्ति इन बातों में आसानी से ग्रस्त हो जाता है, वहाँ उसी क्षेत्र का, उसी का पड़ोसी, उसी परिस्थितियों का व्यक्ति उन बातों से सर्वथा दूर रहता है । दूर ही नहीं रहता वरन् उन बुराइयों से घृणा भी करता है उनका विरोध भी । इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जाता है कि जहाँ वह व्यक्ति उन बुराइयों की चपेट में अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण सहज ही आ गया वहाँ दूसरा व्यक्ति उनसे अप्रभावित ही नहीं रहा वरन् उनके उन्मूलन में भी बहुत दूर तक सफल हुआ । इससे यह अन्दाज भी लगता है कि बुराइयों में, उनके अड्डों में अपना प्रभाव विस्तार करने की जो शक्ति है वह वहीं तक सीमित है जहाँ व्यक्तियों की मानसिक दुर्बलताएं उनके अनुकूल हों । यदि मनोभूमि परिष्कृत हो तो उन बुराइयों का पनपना ही नहीं, ठहरना भी असम्भव हो जाता है ।

दुनियाँ में जो कांटे-कङ्कड़ फैले हुए हैं, उन्हें बीनकर अपने सभी

यात्रा के मार्गों को हम निरापद बनाने का प्रयत्न करें तो इसमें सफलता मिल सकना कठिन है क्योंकि काँटे-कङ्कड़ों की संख्या अधिक है। विभिन्न रास्ते जिन पर हमें समय-समय पर चलना पड़ता है, उनकी लम्बाई भी हजारों मील बैठती है। काँटे बीनने को हम खड़े भी हों तो जीवन की अवधि भी इतनी लम्बी नहीं है कि जब तक सब काँटे बीने जा सकते हों तब तक जीवित रहें, फिर यदि जीवित भी रहें, तो इसका भी कोई निश्चय नहीं कि जब तक यह बीने जाने की प्रक्रिया पूर्ण होगी, तब तक फिर और नये काँटे उस मार्ग पर न बिखर जायेंगे। इन परिस्थितियों में यही उचित प्रतीत होता है कि काँटे बीनने की प्रक्रिया को सीमित करके हम अपने पैरों में जूते पहनने का उपाय पसन्द करें। यह अपेक्षाकृत सरल और सीधा है। थोड़ा पैसा और थोड़ा प्रयत्न करके ही अच्छे जूते पहन सकते हैं और फिर चाहे किसी मार्ग पर कितने ही काँटे-कङ्कड़ क्यों न बिखरे पड़े हों, निर्भय होकर चले जा सकते हैं। जूतों के तले उन काँटे-कङ्कड़ों का मुँह कुचलते चलेंगे और हमारे पैरों को तनिक भी आघात न पहुँचने देंगे।

संसार के हर दुर्जन को सज्जन बनाने की, हर बुराई के भलाई में बदल जाने की आशा करना वैसी ही आशा है जैसी सब रास्तों पर से काँटे-कङ्कड़ हट जाने की। अपनी प्रसन्नता और सन्तुष्टि का यदि हमने इसी आशा को आधार बनाया हो, तो निराशा ही हाथ लगेगी। हाँ, यदि हम अपने स्वभाव एवं दृष्टिकोण को बदल लें तो यह कार्य जूता पहनने के समान सरल होगा और इस माध्यम से हम अपनी प्रत्येक परेशानी को बहुत अंशों में हल कर सकेंगे।

अपने स्वभाव और दृष्टिकोण में परिवर्तन कर सकना कुछ समय साध्य व निष्ठासाध्य अवश्य है, पर असंभव तो किसी भी प्रकार नहीं है। मनुष्य चाहे तो विवेक के आधार पर अपने मन को समझा सकता है, विचारों को बदल सकता है और दृष्टिकोण में परिवर्तन कर सकता है। इतिहास के

पृष्ठ ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं जिनसे प्रकट है कि आरम्भ से बहुत हलके और ओछे दृष्टिकोण के आदमी अपने भीतर परिवर्तन करके संसार के श्रेष्ठ महापुरुष बने हैं। इसी प्रकार ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है जिनके विचार जब तक ऊँचे रहे तब तक प्रतिष्ठा के उच्च आसन पर अवस्थित रहे, पर जब उनका अन्तःकरण कलुषित हो गया, विचार घटिया होगये, तो उनका जीवन क्रम भी पतनोन्मुख हो गया और वे अधोगति को प्राप्त हुए। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारों में अनेक बार परिवर्तन करने पड़ते हैं, इसी प्रकार यदि मनुष्य चाहे तो विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के अपने तरीके को, सोचने के ढंग को बदल सकता है। अपनी विचारशैली की त्रुटियों को समझ सकना और उनके सुधार में संलग्न होना बुद्धिमत्ता और उच्च साहस का काम है, लेकिन असम्भव नहीं माना जा सकता है।

जीवन के उत्थान एवं पतन का केन्द्र मन है। यह मन जिधर चलता है जिधर इच्छा और आकांक्षा करता है उधर ही उसकी अपनी एक दुनियां बनकर खड़ी हो जाती है। उसमें ऐसा अद्भुत आकर्षण एवं चुम्बकत्व है कि जिससे खिंचती हुई संसार की वैसी ही वस्तुयें, घटनाएँ, साधन-सामग्री, मानवीय एवं दैवी सहायता एकत्रित हो जाती हैं जैसी कि उसने इच्छा एवं कामना की थी। कल्पवृक्ष की उपमा मन को ही दी गई है। पृथ्वी का कल्पवृक्ष यही है। उसमें ईश्वर ने वस शक्ति विशाल परिणाम में भर दी है कि जैसा मनोरथ करे वैसे ही साधन जुट जाय और उसी पथ पर प्रगति होने लगे। मन को ही काम-धेनु कहा गया है। वही कामना भी करता है और वही उनकी पूर्ति के साधन जुटा लेता है।

मन को कल्पवृक्ष कहा गया है और इस पर चार फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष लगते हैं, ऐसा बताया गया है। दूसरों की सेवा करने से केवल धर्म ही प्राप्त हो सकता है, पर अपनी, अपने मन की सेवा

करने से जब वह सुधर जाता है, सन्मार्ग पर चलने लगता है तो धर्म, लाभ के अनेकों अवसर तो प्राप्त होते ही हैं साथ ही जीवन की प्रत्येक दिशा में उन्नति एवं सफलता का द्वार खुल जाता है और सब ओर से आनन्द तथा प्रसन्नता जनक परिस्थितियाँ उपजती दिखाई देने लगती हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धिमत्ता इसी में दिखाई पड़ती है कि पहले सेवा करने के लिये कटिबद्ध हुआ जाय।

अपनी आलोचना कर सकना, आत्म-निरीक्षण करके अपनी बुराईयाँ ढूँढ़ सकना, और उन्हें सुधारने के लिये तत्पर हो सकना सच-मुच ही एक बड़ी बहादुरी और दूरदर्शिता का काम है। जिसमें इतना साहस आ गया उसे सच्चे अर्थों में—आध्यात्मिक व्यक्ति कहा जा सकता है। आत्म-कल्याण की पहली सीढ़ी आत्म-निरीक्षण और दूसरी आत्म-सुधार है। जो अपनी समीक्षा करने और अपना सुधार कर सकने की आवश्यकता को समझता है और उसके लिये ईमानदारी से तत्पर रहता है वह गिरी हुई स्थिति में नहीं पड़ा रह सकता। उसके जीवन का विकास होने ही वाला है, उसे प्रगति के पथ पर चलते हुए एक दिन महापुरुषों की श्रेणी में अपनी गणना कराने का अवसर मिलने ही वाला है।

हमें अपने गुण, कर्म एवं स्वाभाव का परिष्कार करना चाहिये। अपनी विचार-पद्धति एवं गति-विधि को सुधारना चाहिए। जिन कारणों से निम्न स्तरीय जीवन बिताने को विवश होना पड़ रहा है उन्हें ढूँढ़ना चाहिये और साहस एवं मनोबलपूर्वक उन सभी कारणों के कूड़े-कचरे को मन-मन्दिर में से झाड़-बुहार कर बाहर फेंक देना चाहिये। हम अपने उद्धार के लिये—उत्थान के लिये—कटिबद्ध होंगे तो सारा संसार हमारी सहायता करेगा।



श्रम और निष्ठा से सफलता

तप कर ! तप कर !!

ब्रह्माजी कमल के फूल पर बैठे हुए चिन्तन में लीन थे । वे सोच रहे थे सृष्टि का निर्माण कैसे करूँ । इसी असमजस में पड़े हुए ब्रह्मा को एक आकाशवाणी सुनाई दी जो कह रही थी 'तप कर ! तप कर !! ब्रह्माजी आकाशवाणी को इश्वरीय आदेश मानकर तप में संलग्न हो गये । उन्होंने लम्बे समय तक घोर तप किया और उसी के बल पर उन्हें सृष्टि के निर्माण की क्षमता प्राप्त हुई । पुरुषार्थ और साहस करके ही ब्रह्माजी ने कुछ पाया था । यही मार्ग ब्रह्मा द्वारा रचे गये प्रत्येक प्राणी के लिये है । उद्योगी मनुष्य उन्नति करते एवं सुख पाते हैं और अकर्मण्य व्यक्ति भाग्य को दोष देकर रोते-झींकते जिन्दगी पूरी करते हैं । प्रगतिशीलों के लिये आज भी ईश्वर की आकाशवाणी का एक ही सन्देश है—तप कर ! तप कर !!

श्रम के बाद सफलता

महिष धन्वन्तरि की पीठ पर एक घाव हो गया । उसकी दवा बनाने के लिये जड़ी बूटियों की तलाश करने लगे । दूर-दूर तक घूमकर सैकड़ों जड़ी-बूटियों के गुण, दोष ढूँढ़ डाले । एक दिन भ्रमण कर रहे थे तो एक जड़ी बोली महाराज ! मैं आपके रोग की औषधि हूँ । धन्वन्तरि बोले इतने दिन तक क्यों नहीं बोली, मैं कितना मारा-मारा घूमता रहा । जड़ी बोली महाराज ! अनायास ही मिल जाती तो इतना बड़ा शोध कार्य आप कैसे करते । श्रम और संघर्ष के बिना आप लोक-कल्याण की शक्ति कैसे पाते ।

पार्वती की अटूट निष्ठा

हिमांचल कन्या पार्वती ने शंकर को अपना पति चुनने का निश्चय कर लिया । इसके लिये पार्वती कठोर तप में लीन हो गई । शङ्करजी



लम्बी समाधि में लीन हो गये, फिर भी पार्वती आपसे हृद् निश्चय से नहीं हटी और शङ्करजी को अपना पति बनाने की लगन में तप करती रही। सप्तषियों ने पार्वती की परीक्षा ली इस पर उन्होंने कहा—‘मैं शङ्करजी को ही अपनी पति बनाऊँगी इसके कारण चाहे मुझे अजीवन कुमारी ही क्यों न रहना पड़े।’ अन्त में कठोर तपस्या से पार्वती ने शङ्कर को प्रभावित कर लिया और उन्हें अपना पति बनाया।

कलि का साम्राज्य कैसे बढ़ा ?

सतयुग धरती की ओर बढ़ रहा था। यह देखकर कलियुग ने अपने सहायकों की सभा बुलाई। किसी ने कहा—मैं पृथ्वी पर जाकर धन का लालच फैला दूँगा, किसी ने कहा—हम लोगों को कामनाओं में फँसा देंगे। किसी ने कामिनी का दर्प दिखाया, पर कलि को सन्तोष न हुआ। एक बुढ़ा सहायक एक कोने में बैठा था वह बोला—मैं जाकर लोगों में निराश और आलस पैदा कर दूँगा। उनके साहस को नष्ट कर दूँगा, बस फिर वे किसी काम के न रहेंगे और न वे किसी बुराई को दूर करने के लिये सङ्घर्ष कर सकेंगे और न किसी अच्छाई को उपाजित करने का साहस उनमें रहेगा। इस वृद्ध सहायक की बात कलि महाराज को बहुत पसन्द आई और उसे अपना प्रधान मन्त्री बना दिया। आज के निराश और आलसी लोग कलि महाराज की प्रजा इसी प्रकार बने हुए हैं। इन परिस्थितियों में बेचारा सतयुग ठहरता ही कहाँ

अपना बचाव आप करें

जातक कथा है कि—कुम्मार गाँव के समीप श्रमण महावीर तप-साधना में संलग्न ध्यानरत बैठा था। उधर पशु चराने वाले ग्वाले यह सोचकर अन्यत्र चले गये कि यह श्रमण हमारे पशुओं की देखभाल करता रहेगा। चरवाहे बहुत देर बाद लौटे और अपने पशु उधर न देखे तो श्रमण को मारने-सताने को तैयार हो गये। उस पर वहाँ के एक सज्जन व्यक्ति इन्द्रसेन ने उसे बचाया।

यह सम्बाद लेकर इन्द्रसेन भगवान् महावीर के पास आये तो उन्होंने गम्भीर होकर कहा—भन्ते, तुमने अपना कर्त्तव्य पालन कर उचित ही किया। पर श्रमण महावीर अनुचित दोषारोपण को सहन करता चुप क्यों बैठा रहा ?

भगवान् ने, अपने शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा—दूसरों की सहायता की आशा पर आत्म-रक्षा के लिये हमें बैठे न रहना चाहिये। वरन् अपना बचाव आप करना चाहिये।

जैसा मनुष्य वैसा उसका संसार

भलाई और बुराई मनुष्य के अपने अन्दर ही स्थिर होती है और इन्हीं की परछाईं बाह्य जीवन में पड़ती है। गुरु द्रोणाचार्य ने एक बार युधिष्ठिर को एक बुरा व्यक्ति और दुर्योधन को एक अच्छा व्यक्ति ढूँढ़कर लाने के लिये कहा। शाम को दोनों हारे-थके घर पर आये लेकिन अकेले। पूछने पर युधिष्ठिर बोले—“गुरुदेव ! मुझे कहीं भी कोई बुरा व्यक्ति नजर नहीं आया सब भले ही भले थे।” दुर्योधन ने कहा—“मुझे एक भी भला व्यक्ति नजर नहीं आया सब बुरे ही बुरे मिले।” मनुष्य का जैसा अपना अन्तर होता है बाह्य जीवन में भी वैसा ही दिखाई देता है। यदि हम बुरे होंगे तो अपने सम्पर्क का वातावरण भी बुरा ही बनता रहेगा।

तप की महान् शक्ति

देवताओं और ऋषियों ने जो आत्म-बल एवं उच्च पद प्राप्त किया था उसके पीछे उनकी पुरुषार्थ पारायणता ही प्रधान रूप से कार्य करती थी। तप विशुद्ध रूप से एक पुरुषार्थ है उसी से दिव्य शक्तियों के धनी देवता प्रसन्न होते हैं। तप से ही वरदान मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने अपनी महत्ता तप, बल से ही प्राप्त की है। इन्द्र पद तपस्वी को ही मिलता है। अष्ट सिद्ध-नव निद्धि प्राप्त करना पुरुषार्थी तपस्वियों के लिए ही सम्भव होता है। संसार के समस्त महान् पुरुषों को अपना

उत्कर्ष आप करना पड़ा है। अपना मार्ग आप बनाना पड़ा है। दूसरों की सहायता से ईश्वर की सहायता भी मिलती है पर मिलती केवल उन्हें है जो अपनी तत्परता एवं निष्ठा के द्वारा अपनी पात्रता सिद्ध कर देते हैं।

बलि ने तप-बल के द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली थी जिसके बल पर वह तीनों लोकों को जीतकर उन पर शासन करने लगा था। बलि की शक्ति सामर्थ्य का सामना करने में इन्द्र भी असमर्थ था अन्ततः भगवान् ने बामन का रूप धारण करके उसे छला था। शक्ति के द्वारा बलि को जीता न जा सका।

शकुन्तला का पुत्र भरत जिसके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा बचपन से ही बड़ा निर्भीक और पुरुषार्थी था। वह शेर के बच्चों के साथ खेला करता था। अपने बच्चों को तज्ज करते देखकर जब शेर और शेरनी चिंघाड़ते तो भरत की एक धमकी से चुप हो जाते और एक अहिंसक जानवर की तरह चुपचाप दूर खड़े रहते। इसी भरत ने आगे जाकर शक्ति-शाली भारत साम्राज्य की नींव डाली।

बहुत से असुरों ने तपश्चर्या के बल पर अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कीं। हिरण्यकश्यप ने ऐसा वरदान प्राप्त किया कि वह किसी मनुष्य, हथियार से न दिन में न रात में न बाहर न भीतर ही मारा जा सके और इसी शक्ति के बल पर उसने तीनों लोकों में खलबली मचा दी।

रावण ने तप पुरुषार्थ के बल पर ऐसी शक्ति प्राप्त की जिसके बल पर उसने देवताओं को कैद करके अपने यहाँ रख छोड़ा था। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि के ऊपर उसने बहुत बड़ा नियन्त्रण, क्षमता प्राप्त कर रखी थी। देश-विदेशों में उसकी गति थी। वह एक शक्ति-शाली शासक था जिसका सामना इन्द्र आदि कोई देवता भी नहीं कर सकता था।

अर्जुन को लक्ष्य के प्रति तन्मयता

द्रोणाचार्य ने प्रश्न किया, दुर्योधन ! सामने क्या दिखाई दे रहा



है ? आकाश, वृक्ष, पत्तियाँ और चिड़िया जिस पर निशाना लगाना है । द्रोणाचार्य ने कहा तुम्हारा निशाना सही न लगेगा, बैठ जाओ । एक-एक करके सारे शिष्य असफल होते गये । अब अर्जुन का नम्बर आया । आचार्य ने वही प्रश्न दुहराया । गुरुदेव ! मुझे पक्षी की आँख के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता । अर्जुन ने उत्तर दिया । बाण चलाओ—आचार्य ने आदेश दिया । तीर सही ठिकाने पर जा लगा । द्रोणाचार्य ने शिष्यों को बताया जिसे लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ दिखाई न दे उसी की साधना सफल होती है ।

एकलव्य का अध्यवसाय

एकलव्य को जब शिष्य रूप में द्रोणाचार्य ने स्वीकार नहीं किया तो उसने मिट्टी की एक मूर्ति बनाई और उसे ही गुरु का प्रतीक मानकर धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा । एक बार अर्जुन शिकार खेलते हुए उधर से निकले । एकलव्य को देखकर उनके कुत्ते भूँकने लगे इससे उसने कुछ बाण ऐसे चलाये जिनसे कुत्तों का भूँकना तो बन्द हो गया पर उन्हें कोई चोट नहीं आई । अर्जुन यह देखकर बड़े चकित हुये, पूछा—तुम्हारे गुरु कौन हैं ? 'द्रोणाचार्य' ! भील पुत्र ने जवाब दिया । जवाब पाकर अर्जुन बड़े दुःखी हुए तभी वहाँ द्रोणाचार्य आ गये । उन्होंने पूछा—'वत्स मैंने तो तुम्हें धनुर्विद्या सिखाई भी नहीं तुम इतना ज्ञान कैसे पा गये ?' एकलव्य गुरु के चरणों में गिर पड़ा बोला—देव ? आप पर श्रद्धा रखकर निरन्तर अध्यवसाय में संलग्न रहकर ही मैंने यह विद्या पाई ।

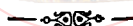
प्रतिभा—सम्पन्न कर्ण

कर्ण एक सूत पुत्र था जो एक नाविक को असहाय अवस्था में पड़े हुए नवजात शिशु के रूप में मिला था । सूत ने उसका अपने पुत्र की तरह पालन किया । बड़ा होने पर यही कर्ण अपनी शक्ति-सामर्थ्य के बल पर महाभारत का एक महारथी बना । कर्ण ने अपनी स्थिति से उठ

कर अपने पुरुषार्थ, साहस, शक्ति के बल पर महत्त्वपूर्ण स्थान पाया । दुर्योधन कर्ण को उसकी प्रतिभा एवं गुणों के कारण सहोदर भ्राता की तरह समझता था और उसने उसके लिये अपने समान ही जीवनयापन की व्यवस्था कर रखी थी । कर्ण की शक्ति का लोहा अर्जुन भी मानता था ।

विदुर ! और कृष्ण

महाभारत काल में महात्मा विदुर बहुत ही सज्जन और साधु स्वभाव के व्यक्ति थे । यद्यपि ये दासी पुत्र थे फिर भी अपने चरित्र की विशेषताओं के कारण महाभारत के महत्त्वपूर्ण पात्रों में इनकी गणना की जाती है । भगवान् श्री कृष्ण जब कौरव-पाण्डवों में सन्धि कराने के प्रयत्न में हस्तिनापुर गये तो वे दुर्योधन के राजकीय सम्मान को त्यागकर विदुर जी के घर ठहरे, जहाँ भक्तिभाव सम्पन्ना विदुरानी ने उनका भाव-विभोर होकर सत्कार किया और विदुरजी ने अपने आपको धन्य माना । विदुरजी का अतिथिसत्कार ग्रहण करना श्रीकृष्ण के मान-वीर्य प्रेम का परिचायक है, जहाँ जाति-वर्ण ऊँच-नीच, भेद-भाव की दीवारें टूट जाती हैं ।



जो अपने बलबूते आगे बढ़े

दुस्साहसी दयानन्द

घर छोड़ देने के बाद स्वामी दयानन्द एक प्रकार से असहाय ही थे । उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा भरण-पोषण की कोई निश्चित व्यवस्था न थी । फिर भी उन्होंने हिम्मत न हारी और विद्याध्ययन के लिए मार्ग निकालते रहे । अन्त में वे उद्भट विद्वान् बनकर ही रहे । इसी प्रकार उनके समाज-सुधार कार्य में कोई सहयोग न करता था, चारों

और से विरोध ही विरोध होता था। फिर भी वे अपने सत्प्रयत्नों में साहसपूर्वक लगे रहे और उन्हीं कठिनाइयों के बीच इतना काम कर मये कि भारतीय धर्मानुयायी उनके चिरकाल तक ऋणी रहेंगे।

आत्मनिष्ठ श्री लालबहादुर शास्त्री

श्री लाल बहादुर शास्त्री एक छोटी गरीब स्थित में पैदा हुए थे। वे जब स्कूल में पढ़ने जाते तो बीच में गंगा पड़ती थी नाव के लिए पैसे न होने के कारण उन्हें तैरकर भी गंगा पार करनी पड़ती थी। एकबार पैसे के अभाव में श्रीमती शास्त्री अपनी बीमार लड़की की चिकित्सा न करा सकीं और वह चिकित्सा के अभाव में मर गई। बहुत समय तक श्री शास्त्री ने २॥॥ ६० मासिक में अपना मुजारा किया था और निष्ठापूर्वक विद्या पढ़ते रहे थे। ऐसी परिस्थितियों से आगे बढ़कर श्री शास्त्री का भारत के प्रधान मंत्री बनना उनके पुरुषार्थ, अध्यवसाय, श्रमशीलता का परिचायक है।

साहसी सुभाष

श्री सुभाष चन्द्र बोस का नाम उन अकेले साहसी पुरुषार्थी व्यक्तियों में लिया जाता है जिन्होंने अपने प्रयत्नों से असम्भव को सम्भव कर दिखाया। सुभाष ने अंग्रेज के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष करने का मार्ग अपनाया जिसके लिए अधिकांश भारतीय नेताओं ने उनका समर्थन नहीं किया था। लेकिन इससे वे निरुत्साहित नहीं हुए और उन्होंने देश-विदेशों में घूम-घूमकर शक्तिशाली आजाद हिन्द फौज की स्थापना की, विदेशों में वहाँ के शासकों को भारतीय स्वाधीनता संग्राम में योग देने के लिए तैयार किया। शक्ति के बल पर लोहा लेने वाले सुभाष के कारण अंग्रेजी सल्तनत की नींद हराम हो गई थी। वह सब उन्होंने केवल अपने ही प्रयत्नों के बल पर किया था।

अभावग्रस्त विद्यासागर

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अत्यन्त हीन परिस्थितियों में पैदा

हुए थे। उन्हें पढ़ने के लिए घर में प्रकाश की भी व्यवस्था नहीं थी इसलिये वे सड़कों पर लगी बत्तियों के प्रकाश में बैठकर पढ़ा करते थे। इस तरह की कठिनाइयों में पढ़कर विद्यासागर जी महान् विद्वान् बने और अपने जीवन भर दुःखी गरीबों की सेवा करते रहे, समाज के हितार्थ काम करते रहे।

राजा राममोहनराय का औचित्य के लिए त्याग

राजा राममोहनराय धार्मिक सुधारों तथा सती प्रथा को मिटाने के कार्यक्रमों में लगे हुए थे। वे सभी प्रकार की बुराईयों के प्रति खुलकर विरोध करते थे। ये सब कार्यक्रम उनके रूढ़िवादी पिताजी को अच्छे नहीं लगे। उन्होंने राममोहनराय को इनसे हटने के लिये कहा—लेकिन उन्होंने पिता की धर्म विरोधी, अविवेक-युक्त बातें मानने से इनकार कर दिया। अन्त में घर छोड़ने के लिये कहा गया। इस पर राममोहनराय अपनी छोटी-सी उम्र में ही घर छोड़कर चले गये और दूर-दूर भ्रमण किया, लेकिन जहाँ भी रहे अपने कार्यक्रम और उद्देश्यों में लगे रहे। उन्होंने सदैव हठता के साथ अन्ध-विश्वास, अविवेक, अज्ञान आदि का विरोध किया।

साहस के धनी पुरुषार्थी

स्वामी रामतीर्थ को अपने विद्यार्थी जीवन में केवल दो पैसे रोज की रोटी में गुज़ार करना पड़ता था। एक पैसे की रोटी सबेरे और एक पैसे की रात को। एक पैसे की रोटी पर जब दुकानदार ने दाल देने से इनकार कर दिया तब उन्होंने केवल एकबार ही रोटी खाने का नियम बना लिया।

एकबार उनका जूता नाली में वह गया। तब वे कहीं से एक पुरानी जाननी जूती तलाश कर लाये और इस प्रकार जूते का बेमेल जोड़ पहनकर कालिज जाते रहे। बहुत दिनों बाद जब उनके पास पैसा हुआ तब उन्होंने नौ आने का एक नया जूता पहना।

इतनी कठिनाइयाँ रहते हुए भी स्वामी रामतीर्थ विद्ययायन में लगे रहे, हिम्मत न छोड़ी और परिश्रम से जी न चुराया। अन्त में वे उच्च श्रेणी में एम० ए० पास करके छोटी आयु में ही प्रोफेसर बन गये।

खेमराज श्री कृष्णदास फर्म भारत के बहुत बड़े पुस्तक प्रकाशकों में से है। इस फर्म के संस्थापक एक मामूली फेरी लगाकर पुस्तकें बेचने वाले थे। लेकिन अपनी उस स्थिति से आगे बढ़कर उन्होंने एक बड़ी प्रकाशन संस्था का विकास किया जो आज भी महत्त्वपूर्ण स्थिति में है।

बिरला बन्धुओं के बाबा अपने घर से अकेले बिना कुछ लिये हुए बाहर निकले थे। उन्होंने कलकत्ता में एक छोटा-सा काम किया और उसीसे बढ़कर एक छोटे-से उद्योगपति की स्थिति में पहुँचे। तत्पश्चात् अच्छे धनिकों में अपना नाम बनाया। आज उन्हीं की नींव पर खड़ा बिरला बन्धुओं का उद्योग देश की आर्थिक स्थिति को प्रभावित कर रहा है।

जमशेद जी नसरबान जी टाटा का भारत के बड़े उद्योग-पतियों में नाम लिया जाता है। टाटा जी प्रारम्भ में एक सामान्य श्रेणी के व्यक्ति थे, एक छोटी-सी नौकरी करते थे, लेकिन अपने अध्यवसाय उद्योग के बल पर उन्होंने अपने जीवन में भारत के प्रमुख उद्योगपतियों में स्थान बना लिया। यह कोई वरदान नहीं वरन् उनके अपने पुरुषार्थ और श्रम का परिणाम था।

हवलदार पद्म

गवालियर की फौज में एक पद्म नामक औरत भी हवलदार हो गई थी। उसका भाई जोरावर साहूकारों के कर्ज में जेल चला गया था। घर की हालत बहुत दयनीय थी। गरीबी से तंग आकर पद्म ने पुरुष का वेष बनाया और फौज में भर्ती हो गई। बहुत दिन वह साधारण सिपाही के रूप में रही, फिर अपनी विशेषताओं के कारण हवलदार बन गई और और धीरे-धीरे अपने भाई का कर्ज चुकाने लगी।

किसी प्रकार नहाते-धोते उसे किसी ने देख लिया और बात खुल गई। मामला राजा तक पहुँचा। उसने हवलदार को बुलाकर पूछ-ताछ की तो पद्मा ने सारी बात सुनाई। सिन्धिया उसकी वीरता से बड़े प्रभावित हुए। उसके भाई का सारा कर्ज खजाने से चुका दिया गया और पद्मा का विवाह फौज के एक ऊँचे अफसर के साथ हो गया।

नारी में सभी गुण प्रचुर मात्र में भरे पड़े हैं। वे वीरता में भी किसी से पीछे नहीं रहतीं।



अपनी आन और महानता

जातीय गौरव और स्वाभिमान न छोड़ने वाले

उन दिनों अंग्रेजी, संस्कृति का इतना प्रसार नहीं हुआ था इस-लिये अंग्रेज अपनी सम्यता का अधिक प्रसार करने में लगे थे। सरकारी कर्मचारियों को अंग्रेजी पोशाक पहनना आवश्यक था, पर सर आशुतोष मुकर्जी को यह स्वीकार न हुआ। उनका आफिसर उनसे सदैव इस बात पर नाराज रहता था कि वे धोती-कुरता ही पहनते थे। एक दिन एक मित्र ने कहा कि यदि पदोन्नति के लिये अंग्रेजी पोशाक पहन ही लें तो इसमें हर्ज ही क्या है? मुकर्जी बोले जब अंग्रेज अपनी पोशाक को महत्व देते हैं तो हम क्या इतने हीन हैं कि पैसे के लिये अपना जातीय अभिमान त्याग दें। अंग्रेज अफसर को जब उनके इस जातीय स्वाभिमान का पता लगा तो वह उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ और अपने दफ्तर के सर्वोच्च कार्यकर्ता का उन्हें पद प्रदान किया।

शास्त्र व्यवस्था खरीदना आवश्यक नहीं

लोकमान्य तिलक की विदेश जाने की आवश्यकता पड़ी। समुद्र यात्रा उन दिनों धर्म के विरुद्ध थी। लोकमान्य ने विचार किया

सम्भव है पण्डित लोग इसकी कुछ व्यवस्था कर दें, यह सोचकर वे काशी के प्रमुख महामहोपाध्याय से मिले। पण्डित जी ने कहा—काम तो कठिन है पर यदि पाँच हजार रुपये दें तो व्यवस्था हो सकती है। लोकमान्य को अधर्म से धर्म का क्रय करना उचित न लगा। उन्होंने बिना किसी व्यवस्था के ही यात्रा की और अपने साथियों से कहा—दूसरों की समझ या व्यवस्था की परवा न करके हमें अपनी स्वतन्त्र विवेक बुद्धि का सम्मान करना चाहिए और पण्डितों की शास्त्र व्यवस्था की परवा न करके ज्ञानवृद्धि के लिये अवश्य विदेश जाना चाहिए।

स्वयं आगे बढ़ें

स्वामी रामतीर्थ उस समय प्रोफेसर थे। एक दिन ब्लैक बोर्ड पर लाइन खींचकर बोले कोई बालक इसे मिटाये बिना छोटा कर सकता है? एक कुशाग्र बुद्धि बालक उठा और उस लाइन के पास उससे बड़ी लाइन खींचकर बोला गुरुदेव! यह छोटी हो गई। रामतीर्थ ने छात्रों को समझाया इसी तरह स्वयं ऊँचा उठने के लिये दूसरों को नीचा न दिखाकर अपने गुण, कर्म और स्वभाव को श्रेष्ठ बनाना चाहिए।

पोरस का आत्म-गौरव

महाराज पोरष सिकन्दर से युद्ध में हार गये और बन्दी बनाकर सिकन्दर के समक्ष लाये गये। सिकन्दर ने कहा—“आपके साथ कैसा व्यवहार किया जाय?” पोरष ने जवाब दिया ‘ठीक वैसा ही जैसा एक धीर दूसरे वीर के साथ करता है।’ महाराज पोरष के इस आत्म-सम्मान एवं विशाल भावना वाले शब्दों को सुनकर सिकन्दर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें छोड़ दिया, उनका राज्य भी लौटा दिया।

आततायी को सलाम नहीं

शिवाजी के पिता शाहजी बीजापुर नवाब के दरबार में कर्मचारी थे वे आठ वर्ष के शिवाजी को दरबार में ले गये और कहा—बेटा! बादशाह को सलाम करो। शिवाजी ने दो टूक मना कर दिया

कि मैं आततायी के आगे शिर नहीं झुका सकता । नवाब की त्थोरी ददल गई पर शिवाजी विचलित न हुए, वे उलटे पैर लौट आये, पर झुके नहीं ।

शिवाजी द्वारा नारी के सम्मान की रक्षा

ढिकारी का किला फतह हुआ । वहाँ की रानी मलबाई को बन्दिनी बनाकर शिवाजी के सामने लाया गया । रानी इस व्यवहार को अपमान समझकर शिवाजी से बोली आप मुझे मृत्युदण्ड दे दें, बन्दिनी बनना मुझे असह्य है । शिवाजी सिंहासन से उतर कर बंले—आप जैसी वीर रमणियों का मैं अपमान नहीं कर सकता । आज से तुम मेरी माता जीजा बाई के समान मेरे पास रहोगी । मलबाई की आँखों में स्नेह के आँसू भर आये । उन्होंने कहा—शिवाजी तुम सचमुच छत्रपति हो, तुम से अवश्य ही धर्म और देश की रक्षा होगी । दूसरों के सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा करने वालों का सम्मान ईश्वर बनाये रखता है ।

जोवन से प्रिय वचन

रघुपति सिंह महाराणा प्रताप के कुशल तथा साहसी योद्धाओं में से था । अकबर की सेना उससे बहुत घबराती थी । उसे पकड़ने के लिये बड़ा इनाम भी घोषित था । एक दिन अचानक उसका लड़का बहुत बीमार हो गया । मरणासन्न बेटे का मुँह देखने के लिये रघुपति सिंह अधीर हो उठा । पर सारे गाँव में कड़ा पहरा लगा था । आखिर वे एक पहरेदार के पास जाकर बोले, आप मुझे बेटे के पास हो आने दीजिये, लौटकर आपके पास आजाऊँगा तब कैद कर लेना । उनकी सत्यता पर सिपाही को विश्वास आ गया और उन्हें अन्दर जाने दिया । बेटे का मुँह देखकर रघुपति सिंह सीधे उसी सिपाही के पास गये । उन्हें दरबार में ले जाया गया । अकबर ने सारी घटना सुनी तो पूछा आप झूठ बोलकर भाग सकते थे पर ऐसा क्यों नहीं किया ? रघुपति सिंह ने कहा—वचन के धनी, सच्चे व्यक्ति कभी किसी के साथ बिश्वासघात नहीं करते ।

स्वाभिमानी मालवीयजी

काला काँकर नरेश राजा रामपाल सिंह ने “हिन्दुस्तान” नामक पत्र आरम्भ किया। इसके लिये उन्होंने मालवीयजी को २५०) रु० माहवार पर रखने के लिये निमन्त्रण भेजा। उस समय यह राशि आज के २०००) के बराबर होती थी। पर एक बड़ी कठिनाई यह थी कि राजा साहब शराब पीते थे। मालवीय जी ने अपनी कठिनाई राजा से व्यक्त की। यह निश्चित हुआ कि नशे की हालत में राजा साहब उनसे नहीं मिला करेंगे मालवीय जी ने सम्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया पर राजा साहब अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सके। आदर्श और स्वाभिमान को मानने वाले मालवीय जी ने तत्काल स्तीफा दे दिया और राजा साहब के लाख कहने पर वापस न लौटे।

बिना मेहनत का न लेना

रविशङ्कर महाराज प्रतिदिन सवामन गुड़ बाँटा करते थे। एक दिन एक बालिका को गुड़ देन लगे तो उसने लेने से इन्कार कर दिया। महाराज ने इसका कारण पूछा। बालिका बोली—“मुझे शिक्षा मिली है कि मेहनत करके ही कुछ लेना चाहिये।” ऐसी शिक्षा किसने दी है तुम्हें? महाराज ने पूछा। “मेरी माता ने”—बालिका ने उत्तर दिया। पता लगाया गया तो वह विधवा ब्राह्मणी अपना और अपनी बच्ची का लकड़ियाँ बीनकर गुजारा करती थी। यह समाचार पाते ही महाराज कहने लगे जिस देश की मातायें ऐसी हों उसका कल्याण होने में अब देर नहीं।

नियन्त्रण निन्दा पर नहीं स्वयं पर

एक बार एक व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द से पूछा कि—बहुत से व्यक्ति आपकी निन्दा करते हैं, इन्हें कैसे रोका जाय?

स्वामी जी ने कहा—निन्दा से तो ईश्वर भी नहीं बच सका,

फिर हमारी तो बात ही क्या है ? यदि मनुष्य अपनी आत्मा के सामने सच्चा है तो उसे सारी दुनिया की परवा न करनी चाहिए ।

गिलहरी का योगदान

लङ्का पर चढ़ाई के लिए समुद्र बाँधा जाने लगा । नल और नील की सहायता में सारे बन्दर-भाखू लग गये । पहाड़ के पहाड़ लगाकर बन्दरों ने समुद्र पाटना प्रारम्भ कर दिया । एक गिलहरी धूल में जाती और थोड़ी सी धूल शरीर में ले जाकर समुद्र में डाल आती । राम ने पूँछा—गिलहरी तेरे इस काम से समुद्र कैसे पट सकेगा ? गिलहरी बोली—भगवान् ! शुभ काम में अपनी जितनी सामर्थ्य है उसी से सह-योग देना भी पर्याप्त होता है भगवान् बड़े प्रसन्न हुए स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फेरा । कहते हैं गिलहरी की पीठ पर आज भी भगवान् की अँगुलियों के निशान बने हैं ।

अगस्त्य की करुणा

एक टिटहरी अपनी चोंच में मिट्टी भरती और समुद्र में डाल आती । उसका यह अनवरत क्रम देखकर महर्षि अगस्त्य को आश्चर्य हुआ । उन्होंने उससे इसका कारण पूछा—तो वह बोली—“महाराज समुद्र मेरे अण्डा बहा ले गया है इसलिये उसको सुखाने के लिये समुद्र में रेत डाल रही हूँ । महर्षि अगस्त्य को उस छोटे से पक्षी के प्रयत्न और साहस पर बड़ी प्रसन्नता हुई और उसकी सहायता करने के लिये कटि-बद्ध हो गये उसने सारे समुद्र को तीन अँगुली भरकर पी लिया और टिटहरी को अपने अण्डे मिल गये ।

साहसी की सहायता दूसरे लोग भी करते हैं ।

हम परिस्थितियों के दास नहीं

लोकसेवी रविशङ्कर महाराज उन दिनों सौराष्ट्र के जमींदारों की ताड़ी व शराब छुड़ाने में लगे हुए थे । कइयों ने छोड़ा भी । एक दिन एक जमींदार साहब बोले महाराज मेरी इच्छा तो बहुत है पर शराब

छूटती ही नहीं। रविशंकर ने उन्हें दूसरे दिन आने को कहा। दूसरे दिन नियत समय पर जमींदार साहब पहुँचे तो देखा रविशङ्कर जी खम्भा पकड़े खड़े हैं। जमींदार ने कहा—महाराज अब दे खास बातें बताइये। रविशङ्कर जी बोले—भाई कैसे बताऊँ, खम्भे ने पकड़ रखा है, छोड़ता ही नहीं। जमींदार हँस पड़ा। बोला महाराज यह बेजान वस्तु भी आप को पकड़ सकती है। खम्भा छोड़ते हुए रविशङ्कर जी बोले भाई यही तो मैं कहता हूँ कि शराब भी तो बेजान है, बुद्धिमान मनुष्य को वह कैसे पकड़ सकती है? जमींदार साहब ने उस दिन से शराब पीना छोड़ दिया और वे यह मानने लगे कि परिस्थितियाँ किसी को नहीं पकड़तीं, मनुष्य स्वयं ही परिस्थितियों को पकड़ लेता है।

भिक्षा नहीं पुरुषार्थी को सहयोग दें

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से एक दिन एक भिखारी ने एक पैसा माँगा। विद्यासागर ने पूँछा अगर तुम्हें एक पैसा दें तो क्या करोगे? कुछ खा लेंगे—बच्चा बोला। यदि दो पैसा दें तो कुछ माँ के लिये भी लेता जाऊँगा, यदि एक रुपया दूँ तो—कोई रोजगार करके भिक्षावृत्ति छोड़ दूँगा। बच्चे की भावना पर विद्यासागर ने उसे एक रुपया दे दिया। कुछ दिन बाद वही बालक मिला। अब उसके पास एक छोटी-सी दुकान थी। विद्यासागर ने सहायता देकर उसकी दुकान और बड़ी करवा दी।

फरिहाद का नहर निकालना

सुन्दरी शीरी से विवाह उसके साथ होने की घोषणा हुई जो उस जल अभाव से दुःखी नगर के समीप नहर खोदकर ले आये। साधन हीन फरिहाद ने साहस किया और अथक संकल्प बल के साथ पहाड़ काटकर नहर खोदने के काम में अकेला लग गया। इस अभूतपूर्व साहस से लोग बहुत प्रभावित हुए और उसकी सहायता में दर्शक लोग भी सक्रिय योग देने लगे। आखिर कुछ दिन में असम्भव दीखने वाला काम सम्भव हो

गया और उस नगर में जल की नहर लाने में सफल हुए फरिहाद का विवाह शीरी के साथ हो गया ।

शूरवीर शासक

पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह एक साधारण जमींदार के लड़के थे किन्तु अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर वे पंजाब के राजा बने । प्रसिद्ध कोहनूर हीरा इन्हीं के पास बहुत समय तक रहा जो उन्होंने पठान शासकों से प्राप्त किया था । रणजीतसिंह की बहादुरी, इतिहास में प्रसिद्ध है ।

चन्द्रगुप्त मौर्य दासी पुत्र था, लेकिन विशाल मौर्य साम्राज्य का विस्तार उसी ने किया था । अपने पुरुषार्थ अध्यवसाय के बल पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक बहुत बड़े साम्राज्य की नींव डाली ।

महाराज छत्रसा एक छोटे जमींदार के पुत्र थे लेकिन उन्होंने अपनी स्थिति से आगे बढ़कर प्रसिद्ध बुन्देला राज्य की स्थापना की । छत्रसाल ने शिवाजी की तरह अपनी शक्तियों को बढ़ाकर उनसे मिलकर मुगलों के विरुद्ध मोर्चा जमाया ।

भरतपुर राज्य की स्थापना करने वाले महा० सूरजमल एक साधारण सरदार के लड़के थे लेकिन उन्होंने अपने पुरुषार्थ के बल पर एक शक्तिशाली शासन की नींव डाली । सूरजमल ने इतनी शक्ति संगठित कर ली थी कि देहली पर चढ़ाई की और वहाँ के बादशाह को हराया ।

मल्हारराव होल्कर जिन्होंने इन्दौर शासन की नींव डाली प्रारम्भ में एक पशु पालक एवं कृषक मात्र थे । लेकिन अपने पुरुषार्थ, सूझ-बूझ, योग्यता के बल पर एक शक्तिशाली शासन की नींव डाली और एक प्रभावशाली राजा बन गये ।

बापा रावल जिन्होंने चित्तौड़ के इतिहास प्रसिद्ध शासन की नींव डाली प्रारम्भ में भेड़ें चराया करते थे । लेकिन अपनी शक्ति-सामर्थ्य

और प्रयत्न से चित्तौड़ का शासन स्थापित किया जिसके अन्तर्गत महाराणा प्रताप, राणा-सांगा, साहसी राजसिंह जैसे शक्तिशाली शासक निकले ।

दूसरों की सहायता काफी नहीं

किसी जंगल में एक तान्त्रिक रहता था । एक दिन एक चूहा उधर दौड़ा आया । तान्त्रिक को समझते देर न लगी कि वह डर रहा है । उसने चूहे को बिल्ली बना दिया । पर अब बिल्ली कुत्तों के भय से बाहर न निकलती । तान्त्रिक ने इसे भी समझा और उसे कुत्ता बना दिया । पर तेन्दुये का डर अभी भी उसे बना रहा । झोंपड़ी से दूर न जाकर वहीं दुबका पड़ा रहा । तान्त्रिक ने एक और अवसर दिया और उसे चीता बना दिया । दैवयोग से एक बहेलियों की टुकड़ी उस दिन वन में चीते पकड़ रही थी डरकर बेचारा उसी झोंपड़ी में छुप रहा । तान्त्रिक के मनमें अब एक विचार आया । अपना कमण्डल उठाया जल लेकर उस चीते पर फेंका । इस बार वह फिर अपने चूहे के रूप आ गया और बिल में घुस गया । तान्त्रिक सोच रहा था कि मनुष्य की उन्नति दूसरे पर अवलम्बित नहीं है इसके लिये उसे स्वयं अपने ही पैरों खड़ा होना जरूरी है ।

सुनो सबकी, आश्रय विवेक का लो

एक साधु एक दिन सोने की तैयारी कर रहे थे तो कई ज्ञानी इकट्ठे हो गये । साधु को पूर्व की ओर पैर किये लेटे देखकर एक ज्ञानी बोला, पूर्व में जगन्नाथ विराजते हैं उधर पैर करना पाप है । साधु पश्चिम की ओर पैर करके लेट रहे तो दूसरा बोला, महाराज ! पश्चिम में द्वारकापुरी है वहाँ भगवान् कृष्ण का निवास है यह तो आप योगेश्वर का अपमान कर रहे हैं । साधु उत्तर की ओर पैर करके लेटने लगे तो तीसरे ने उधर ब्रहीनाथ होने का कारण उनकी अवज्ञा होना बताया, अतः वह दक्षिण की तरफ पैर करके सोने लगे । चौथा बोला — महाराज



आप भगवान् रामेश्वर की ओर पैर करके उनका अपमान करते हैं। साधु क्षण भर सोचकर बोले, आप लोगों की बातें सुनलीं अब मुझे जिधर ठीक प्रतीत होगा। उधर सोऊँगा। बिद्वानों के मत में विरोध दिखाई दे तो अपने विवेक से काम लेना ही अच्छा है, यह कहकर महात्मा अपनी इच्छानुसार पैर करके चुपचाप सो गये।

घोड़ा और बाप-बेटे

एक घोड़ा लेकर बाप-बेटे कहीं जा रहे थे। बाप सवार था बेटा पैदल चल रहा था, जिस गाँव में होकर निकले वहाँ के लोगों ने कहा बाप कैसा निष्ठुर है खुद तो घोड़े पर बैठा है और लड़के को पैदल चला रहा है। बाप नीचे उतर पड़ा और बेटे को घोड़ा पर बिठा दिया। अगले गाँव के लोगों ने बेटे को बुरा-भला कहा कि बाप पैदल चले और बेटा घोड़े पर चढ़े यह कैसी अशिष्टता है। अब दोनों पैदल चलने लगे तब अगले गाँव के लोगों ने कहा कैसे मूर्ख हैं ये लोग जो घोड़ा रहने पर भी पैदल चलते हैं। इस पर बाप-बेटे दोनों उस पर चढ़ लिये। इनको देखकर आगे गाँव में उन्हें निर्दयी और भारी वजन से घोड़े को मार डालने वाला बनाकर निन्दा की गई।

तरह-तरह की बातें सुनकर बाप-बेटों ने सोचा यह दुनियाँ बड़ी विचित्र है। इसमें सबको प्रसन्न रख सकना सम्भव नहीं इसलिये जो उचित हो उसका अपनी विवेक बुद्धि के आधार पर निर्णय करना चाहिये और लोग क्या कहते हैं उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

स्वावलम्बन-परावलम्बन

एक खेत में एक लोमड़ी व उसके दो बच्चे रहते थे। एक दिन किसान और उसका बेटा दोनों मेंड़ पर घूम रहे थे। पिता बोला— बेटा खेत पक गया है कल नौकरों को बुला लाना, खेत काट लेंगे। लोमड़ी के बच्चे डर गये, माँ से सारा हाल कह सुनाया। लोमड़ी बोली अभी चिन्ता करने की बात नहीं। दूसरे दिन नौकर न पहुँचे, बाप बोला बेटा

कल अपने पड़ौसियों को ही ले आना, कल जरूर खेत काटना चाहिये। लोमड़ी के बच्चे फिर भागने की हठ करने लगे पर लोमड़ी ने इस बार भी मना कर दिया। तीसरे दिन किसान बोला भाई दूसरों के सहारे कब तक बैठें कल हँसिया ले आना हम दोनों ही काटेंगे। इस बार लोमड़ी बच्चों को लेकर खेत से चली गई। खेत उस दिन सच-मुच कट गया।

हिल-मिलकर परिश्रम करना

एक व्यक्ति आया बोला, महाराज ! आमदनी कम है बच्चे भूखों मरते हैं। सन्त ने पूछा बाल बच्चे क्या काम करते हैं ? आगन्तुक अकड़ कर बोला क्या वे किसी के नौकर हैं जो काम करें। सन्त ने कहा भाई घर का बोझ उठाने के लिये अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार सभी को कुछ न कुछ जरूर करना चाहिये। अकेले काम कैसे चलेगा ? आदमी सन्तुष्ट होकर चला गया। कुछ दिन में फिर आया। इस बार काफी भेंट आदि भी लाया था। सन्त के चरणों में रखकर बोला महाराज अब एक बच्चा जानवर चराता है दूसरा खेती करता है स्त्री भी हाथ बटाती है। किसी तरह की कमी नहीं है। सन्त बोले जिस घर के सब लोग हिल-मिलकर परिश्रम करते हैं उन्हें कभी भी तंगी नहीं आती।

हनुमानजी की सहायता कैसे मिले

एक आदमी की गाड़ी कीचड़ में फँस गई। बैलों ने बहुत जोर मारा पर गाड़ी बाहर न हुई। वह आदमी गाड़ी से उतर कर हनुमान जी की मनौतियाँ मनाने लगा। उधर से एक पंडितजी आ रहे थे बोले, भाई पहले पहिये में थोड़ा हाथ लगाओ तभी हनुमानजी भी कुछ सहायता करेंगे। पुरुषार्थी लोगों की देवता भी सहायता करते हैं।

संख्या बल नहीं उत्कृष्टता

एक समय वन के पशुओं में विवाद पैदा हो गया कि सबसे अधिक किसके बच्चे पैदा होते हैं सूअरी ने कहा मेरे, छछून्दरी बोली मेरे,

गीदड़ी बोली, यह सौभाग्य मुझे मिला है। इसी बीच में शेरनी आ गई। डपट कर बोली तुम्हारे सैकड़ों बच्चों से मेरा एक बच्चा अच्छा, जिसकी दहाड़ पर तहलका मच जाता है। संख्या बल बढ़ाने की अपेक्षा उत्कृष्टता बनाना ही अच्छा है।

त्याग का प्रतिफल

एक बूंद अंगार की ओर बढ़ी। अंगार ने धमकाया, बावरी मेरे पास आयेगी तो तेरा नाम-निशान भी न बचेगा। बूंद नहीं मानी, अंगारों की गोद में जा गिरी। अंगार बोले, क्योंरी अब तो तेरा अस्तित्व मिट गया। आकाश में एक आवाज सुनाई दी—नहीं अंगार—अभी तक मैं अधोगामिनी थी पर जब से शरीर तुझे समर्पित किया ऊर्ध्व-गामिनी हो गई हूँ।

कुन्ती द्वारा विपत्ति का वरदान माँगना

एक बार भगवान् कृष्ण कुन्ती पर बड़े प्रसन्न हुये। उस दिन उन्होंने कुन्ती से पूछ ही लिया—भद्रे, अपनी कोई कामना व्यक्त करो मैं उसे पूरा करूँगा। कुन्ती बोली भगवान् यदि आप मुझ पर सन्तुष्ट हैं तो मुझे विपत्तियाँ दीजिये। कृष्ण ने पूछा कुन्ती आखिर इससे तुझे क्या मिलेगा? कुन्ती ने उत्तर दिया—

विपदः सन्तु नः शाश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।

भवतो दर्शनं यत् स्याद पुनर्भवं दर्शनम् ॥

अर्थात् हे भगवान् आपका दर्शन तो विपत्तियों में ही होता है। इसी से मोक्ष मिलता है।

अकारण का भय दुःखदायी

रानी सरोवर में स्नान कर रही थी। उनका हार किनारे रखा था जिसकी एक दासी रखवाली कर रही थी। स्नान करते काफी समय बीत गया इधर दासी को नींद आ गई। इस बीच पेड़ पर बैठा हुआ

बन्दर उस हार की उठा ले गया । दासी की आँख खुली तो हार गायब था । खुद चोरी के इल्जाम से बचने के लिये चोर-चोर चित्लाने लगी । सिपाही एक ओर दौड़ पड़े । उधर एक किसान जा रहा था । सिपाहियों को अपनी ओर आते हुये देखकर वह डर गया और वहाँ से भागा । सिपाहियों को पक्का विश्वास हो गया कि यही चोर है उसे पकड़कर मरम्मत की ग्रीर जेल में बन्द कर दिया । दूसरे दिन हार एक पेड़ पर टंगा हुआ मिला तब बेचारा कहीं जेल से छूटा । अकारण भय करना भी अनर्थकारी होता है । सत्य के समर्थन में मनुष्य को दृढ़ता और धैर्य से काम लेना चाहिये । भय का सत्य भी असत्य की तरह दुःखदायी होता है ।

X

www.Xsp.org

X

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित ! शुश्रुम ।

पापो नृषद् वरो जन इन्द्र इचचरतः सखा ॥

चरैवेति ।...

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहि ।

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥

चरैवेति ।...

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥

चरैवेति ।...

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।

उत्तिष्ठन्स्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥

चरैवेति ।...

**चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुनुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥
चरं वेति ।...**

इन्द्र ने पुरुष रूप में आकर रोहित से कहा—

हे रोहित ! सुनते हैं कि जो श्रम से शान्त नहीं है, उसको श्री प्राप्त नहीं होती । भला मनुष्य भी, जो बैठा रहता है, निकम्मा समझा जाता है । इन्द्र उसी की सहायता करता है जो श्रमशील है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।

श्रमशील पुरुष की जाँघ स्फूर्ति के पुष्पों से पुष्पित होती है और उसके पुष्ट शरीर में स्वास्थ्य का फल लगता है । उसके सारे पाप श्रम से मानो मारे हुए निश्चेष्ट पड़े रहते हैं । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।

बैठे हुए का सोभाग्य बैठा रहता है, खड़े हुए का खड़ा हो जाता है । पड़े रहने वालों का सोभाग्य सोता रहता है और चलने वालों का सोभाग्य चलने लगता है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।

जो सो रहा है वह कलि है, निद्रा से उठ-बैठने वाला द्वापर है । उठकर खड़ा हो जाने वाला त्रेता है, पर श्रम करने वाला सतयुग बन जाता है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।

श्रम-शील मनुष्य ही मधु अर्थात् जीवन के माधुर्य को पाता है, वही स्वादिष्ट फल का आस्वाद लेता है । सूर्य श्रम को देखो, जो सदा चलता रहता है और कभी आलस्य नहीं करता । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।

गिरीन्करोति मृत्पिण्डान्सेतुलंघयांश्च सागरान् ।

नभस्तरति बाहुभ्यां संकल्पो हि महात्मनाम् ॥

महान् आत्माओं का सङ्कल्प मिट्टी के ढेलों को पहाड़ बना देता

है और अगाध समुद्र को सेतु द्वारा लघिने योग्य कर सकता है, यथा विस्तीर्ण आकाश को भुजाओं से तर सकता है। तात्पर्य यह है कि संसार में कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो सत्य सङ्कल्प की शक्ति के आधार पर पूर्ण न हो सके।

बन्धिः समुद्भवति निर्मथनेन काष्ठा-

दम्भो ददाति वसुधा च निखन्यमाना ।

गच्छन् प्रयास्यति शनैरपि सुदूरयात्रा,

मारब्धकार्यं इह किन्न नरः करोति ॥

काष्ठ के निरन्तर मन्थन करने अर्थात् रगड़ते रहने से उसमें अग्नि उत्पन्न हो जाती है। भूमि को गहराई तक खोदने से जल निकल आता है। बराबर चलते रहने से बहुत दूर की यात्रा भी पूर्ण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कार्य को आरम्भ कर उसमें बराबर संलग्न रहने वाला मनुष्य क्या नहीं कर सकता? अर्थात् सभी कुछ कर लिया करता है।

उद्यमं साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।

षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत ॥

उद्योग, साहस, धीरज, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम, ये छँ गुण जिस पुष्प में रहते हैं उसकी देवगण भी सहायता किया करते हैं।

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्देवमिति कथ्यते ।

तस्मात्पुरुषकारेण यत्र कुर्यादतन्द्रितः ॥

पूर्व जन्म में किये हुये काम ही को प्रारब्ध कहते हैं इसलिये मनुष्य को आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करना चाहिये।

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।

एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥

जैसे कुम्हार मिट्टी के लौदे से जो चाहता है सो बनाता है उसी भाँति मनुष्य भी अपना किया हुआ कर्म पाता है ।

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कर्माणि न मनोरथैः ।

नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं न कि मनोरथों से, जैसे सोते हुए सिंह के मुख में मृग अपने आप नहीं घुसते हैं ।

मातृपितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः ।

न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥

माता-पिता से अभ्यास कराया गया बालक गुणवान् होता है, गर्भ से निकलते ही पुत्र पण्डित नहीं हो जाता है ।

ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पंडिताः ।

तैस्तै किमिव लोकेऽस्मिन्वद दैवं प्रतीत्यते ॥

जो शूर हैं, ज्ञानी हैं, पण्डित हैं वे सब सर्वदा उन्नतिशील हैं । जरा बताओ तो, इनमें कौन भाग्य के भरोसे बैठा रहता है ? अर्थात् कोई नहीं । तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ से ही उन्नति होती है ।

न यथा यतते नित्यं यद्भावयति यन्मयः ।

यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति नान्यथा ॥

मनुष्य नित्य जैसा यत्न करता है, तन्मय होकर जैसी भावना करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है इसमें अन्यथा नहीं ।

उद्योगिनं पुरुषसिहमुपैति लक्ष्मी-

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

और दूसरे—उद्योगी तथा पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य को लक्ष्मी मिलती है और भाग्य में होगा सो मिलेगा यह पुरुषार्थहीन मनुष्य कहते हैं, इसलिये भाग्य को छोड़, यथाशक्ति यत्न करना चाहिए और यत्न करने पर जो कार्य सिद्ध न हो तो उसमें क्या दोष है ?

पुरुषार्थं फल प्राप्तिर्देश काल वशादिह ।

प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥

अपने किये हुए पुरुषार्थ का ही देश-काल की परिस्थिति के अनुसार जो देर सवेरे में फल प्राप्त होता है उसी को भाग्य इस नाम से कहा जाता है ।

विफलवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।

वीराः संभावितात्मानो न दैवं पयुपासते ॥

डरपोक और शक्तिहीन मनुष्य भाग्य के पीछे चलता है । परन्तु प्रतिष्ठित वीरजन दैव या भाग्य की उपासना नहीं करते ।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ।

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥

‘मेरा कार्य अवश्य ही सिद्ध होगा ऐसा दृढ़ निश्चय करके मनुष्य को आलस्य छोड़कर उठना चाहिए- जागना चाहिए और प्रसन्नता तथा आशावाद के साथ उन्नति के कार्यों में जुट जाना चाहिए ।

शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः ।

बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किञ्चन दुष्करम् ॥

जो शरीर की परवा नहीं करता, जो निपुण और व्यवसायी है, जो बुद्धि-पूर्वक कार्य प्रारम्भ करता है, उसके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है ।

अजरामृतवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

अपने आपको अजर (वृद्धता रहित) और अमर (कभी न मरने वाला), समझते हुए बुद्धिमान मनुष्य को विद्या और धन का उपाजन करना चाहिए । मृत्यु ने ले जाने के लिये मेरी चोटी पकड़ली है ऐसा समझते हुए धर्म का आचरण करना चाहिए ।

यथा यथा प्रयत्नः स्याद्भवेत्तस्य फलं तथा ।

इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च ॥

जैसा और जितना कार्य-सिद्धि के लिये प्रयत्न किया जाता है उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है । वस्तुतः यह पुरुषार्थ ही है, उसी को भाग्य भी कहते हैं ।

महतामथ क्षुद्राणामन्तराय उपस्थिते ।

कृभानौ कनकस्येव परीक्षा जायते ध्रुवम् ॥

वातेरिताः प्रकम्पन्ते वृक्षा एव, न पर्वताः ।

आपत्तिसमये वृत्तां क्षुद्राणां महतां तथा ॥

तस्मादापत्तिकाले ये महान्तोऽन्तरवेक्षिणः ।

तिष्ठन्ति निश्चला धैर्यमूर्त्तयो न विकुर्वन्ते ॥

अग्नि में जैसे स्वर्ण की परीक्षा होती है, उसी प्रकार विघ्न या बाधा के उपस्थित होने पर निश्चय रूप में महान् और क्षुद्र लोगों की परीक्षा होती है ।

तेज वायु या आंधी चलने पर वृक्ष काँपने लगते हैं, पर्वत नहीं। आपत्ति के आने पर क्षुद्र और महान् लोगों की ऐसी ही दशा होती है। अर्थात् आपत्ति के समय क्षुद्र लोग ही घबड़ाते हैं, महान् पुरुष अविचल ही रहते हैं।

इसलिये आपत्ति के समय जो अन्तरवेक्षी महापुरुष होते हैं, वे धैर्य-मूर्ति रूप से निश्चय ही रहते हैं और किसी प्रकार के विकार को प्राप्त नहीं होते।

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।

स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥

क्योंकि—जैसे जल की एक-एक बूंद गिरने से धीरे-धीरे घड़ा भर जाता है वही कारण सब प्रकार की विद्याओं का, धन का और धर्म का भी है।

उत्साहसम्पन्नमदीर्घं सूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः॥

जो उत्साह से सम्पन्न होता है, दीर्घसूत्री नहीं है, कर्तव्य कर्म की विधि जानने वाला है, विषयासक्त नहीं है, शूर है, कृतज्ञ है और दृढ़ सुहृद है ऐसे सज्जन के पास विजय-श्री स्वयं ही निवास के लिये आया करती है।

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम् ।

सोत्साहस्य लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥

हे आर्य ! उत्साह ही बलवान् है, उत्साह से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ बल नहीं है जो मनुष्य संसार में उत्साही है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

विहाय सौरुषं यो हि दैवमेवावलम्बते ।

प्रासादसिंहवत्तस्य मूर्ध्नि तिष्ठन्ति वायसाः ॥

जो मनुष्य पौरुष को छोड़कर केवल भाग्य का ही आश्रय करता है, ऐसे अनुद्यमी पुरुष के सिर पर भी पत्थर के सिंह की तरह कीवे बैठते हैं ।

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।

आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥

मूर्ख मनुष्य बुरी दशा को पाकर भाग्य की निन्दा करता है और अपने कर्म के दोषों को नहीं जानता है ।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अहं करोमीति वृथाऽभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥

सुख और दुःख देने वाला कोई भी नहीं है । दूसरा हमें दुःख देता है यह कुबुद्धि है । जो यह सोचता है कि मैं सुख दुःख करता हूँ वह उसका मिथ्या अभिमान है । क्योंकि यह सारा लोक अपने कर्म रूपी सूत्रों में गुँथा हुआ है ।

औटाये बहु औषधी, होत अधिक गुणवंत ।

बिपति कसौठी जे तपै, सोइ जन साँचे संत ॥

कष्ट परेहु साधु जन, नैक न होत मलान ।

ज्यों-ज्यों स्वर्ण तपाइये, त्यों-त्यों निरमल बान ॥

जो जैसी करनी करै, सो तेहि लहै न और ।

बनिज करै सो बानियाँ, चोरी करै सो चोरा ॥

करै बुराई सुख चाहै, कैसे पावै कोइ ।
 बोवै पेड़ बबूल को, आम कहाँ ते होइ ॥
 रावन रावन को हनेउ, दोष राम को नाहि ।
 निज हित अनहित देखु किन, तुलसी आपुहि माँहि ॥
 एक-एक अक्षर पढ़े, जाने ग्रन्थ विचार ।
 पेंड़-पेंड़ हू चलत जो, पहुँचत कोस हजार ॥
 आप बुरे जग है बुरौ, भलौ भले जग जानि ।
 तजत बेर की छाँह सब, गहत आम की आनि ॥
 मत चिंता पर की करौ, अपनौ करौ सुधार ।
 बिनु प्रयास सुधरै जगत, सब बातन कौ सार ॥
 चलत महाजन जा सुपथ, सो अनुसरत जहान ।
 धन्य युवक जो आप ही, करै स्वपथ निर्मान ॥
 जो यथार्थ बल बुद्धि ते, हो न सिद्ध परिणाम ।
 नहिँ ऐसौ कोई जगत में, कठिन कठिनतर काम ॥
 तुलसी जो करता करम, सो भोगत नहिँ आन ।
 जो बोबै सो काटिए, देनी लहइ निदान ॥
 पर भाषा पर भाव पर, भूषन पर परिधान ।
 पराधीन जन की अहै, यही पूर्ण पहिचान ॥
 उद्यम बुद्धि बल सों मिलै, तब पावत सुख साज ।
 अन्ध कन्ध चढ़ि पंगु ज्यों, सबै सुधारत काज ॥



विपति बड़े ही सहि सकें, इतर विपति से दूर ।
 तारे न्यारे रहत हैं, ग्रसें राहु शशि सूर ॥
 कोउ न सुख दुख देत है, देत करम भकभोर ।
 उरझै सुरझै आप ही, ध्वजा पवन के जोर ॥

यह अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत वन में श्री रामचन्द्रजी के भ्रमण के समय का प्रसंग है ।

राम सैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति पेमु ।
 तापस तप फलु पाइ जिमि, सुखी सिराने नेमु ॥

भौतिक उन्नति के लिये तप की आवश्यकता है । बिना इसके किसी को भी सफलता नहीं मिलती । बालकाण्ड में नारदजी पार्वती को तप करने की सलाह देते हुये कहते हैं कि—

तप बल रचइ प्रपंच विधाता ।
 तप बल विष्णु सकल जग त्राता ॥
 तप बल शंभु करहिंह संहारा ।
 तप बल शेष धरइ महि भारा ॥
 तप अधार सब सृष्टि भवानी ।
 करहिंह जाय तपु अस जिय जानी ॥

तप-बल के प्रभाव के कारण ही तो रावणादि ने ऐसी सम्पदा, बल, वैभव और ऐश्वर्य पा लिया जो त्रिलोकी में अन्यत्र दुर्लभ था—

कीन्ह बिबिध तप तीनहु भाई ।
 परत उग्र नहिं वरनि सो जाई ॥

गयेउ निकट तप देखि बिधाता ।

माँगहु वर प्रसन्न मै ताता ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत पार्वती परीक्षा, लेने आये हुए सप्तर्षियों से कहती है—

तुम्हरेँ जान कामु अब जारा ।

अब लगि संभु रहे सविकारा ॥

हमरेँ जान सदा सिव जोगी ।

अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥

नारदजी के उपदेश के प्रति आस्था प्रकट करती हुई पार्वती कहती है—

जन्म कोट लगि रगर हमारी ।

बपउं संभु न त रहउँ कुआरी ॥

यह प्रसंग अयोध्याकांड के अन्तर्गत उस समय का है जब भरत श्रीराम से मिलने के लिये जा रहे थे—

करम प्रधान विश्व करि राखा ।

जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

अयोध्याकांड के अन्तर्गत भगवान् राम जब पिता से वनवास जाने की आज्ञा माँगने गये हैं यह प्रसंग उसी समय का है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी ।

ईसु देह फल हृदय विचारी ॥

करइ जो करम पाव फल सोई ।

निगम नीति असि कह सबु कोई ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत जब श्रीराम व्याह करके अयोध्यापुरी आये हैं और उनके युवराज होने का निश्चय हुआ उसी समय का एक निम्न प्रसङ्ग है—

जीव करम बस सुख दुख भागी ।
जाउअ अवध देव हित लागी ॥
आगिल काजु बिचारि बहोरी ।
करिहहि चाह कुसल कबि मोरी ।

अयोध्याकाण्ड में वनवास के प्रसङ्ग में निषादराज लक्ष्मण से निवेदन करते हैं कि—

पिता जनक जग विदित प्रभाऊ ।
ससुर सुरेस सखा रघुरऊ ॥
रामचन्द्र पति सो वैदेही ।
सोवत यहि विधि राम सनेही ।
सिय रघुवीर कि कानन जोगू ।
कर्म प्रधान सत्य कह लोगू ॥

तब लक्ष्मणजी निषाद को इसका उत्तर देते हुए बड़ी ही मधुर वाणी में बोले—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत ही जब सुमन्त राम से मिलकर अयोध्या वापिस आ जाते हैं और राजा दशरथ से मिलते हैं तो वे धीरज धरकर मधुर और मृदुल वाणी से राजा दशरथ को प्रबोध देते हुए कह रहे हैं—

जनम मरन सब दुख सुख भोगा ।
 हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा ॥
 काल करम बस होहिं गुसाईं ॥
 बरबस रात दिवस की नाईं ॥

अयोध्याकाण्ड में ही इसी की पुष्टि में माँ कौशल्या भरत को अपनी गोदी में बिठालकर कहती हैं कि हे बत्स ! सुनों—

जनि मांनहु हिय हानि गलानी ।
 काल करम गति अघटित जानी ॥

माँ कौशल्या समय, परिस्थिति और वातावरण को समझकर बड़े धैर्य से सुमित्रा को समझाती हुई कहती हैं कि—

कौशल्या कह दोष न काहू ।
 करम बिबस दुख सुख छति लाहू ॥
 कठिन करम गति जानि विधाता ।
 जो सुभ असुभ सकल फल दाता ।

इसलिए मनुष्यको सदा सत-कर्म करने की ओर ही प्रेरित होना चाहिए ।

॥ आठवाँ प्रवचन समाप्त ॥





नवम-प्रवचन



[सब में एक ही आत्मा को देखना]

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुनः ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

[अध्याय ६ श्लोक ३२]

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति आत्मा की उपमा से
(अपने तुल्य) सर्वत्र सुख अथवा दुःख को सम देखता
है, वह परम योगी माना जाता है ।

सर्वभूतस्थितात्मानं सर्व भूतानिचात्मनि ।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

[अध्याय ६ श्लोक १६]

योग युक्तात्मा पुरुष समदृष्टि हुआ सब भूतों
में स्थित आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को
देखता है ।

अपने समान सबको समझने की मान्यता में अध्यात्मवाद
का सारा तत्त्वज्ञान सन्निहित है । दूसरों की कठिनाइयों को अपनी कठि-
नाई और दूसरों की सुविधा को अपनी सुविधा मानकर चलें । दूसरों के

दुःख को अपना दुःख और दूसरों के सुख को अपना सुख मानें तो फिर अधर्म किसी से बन ही न पड़ेगा, शुभ कर्मों की शृङ्खला निरन्तर बढ़ती ही रहेगी। ऐसी दशा में आत्म-संतोष एवं आन्तरिक उल्लास की अभिवृद्धि निरन्तर होती ही रहेगी। और इसका सत् परिणाम आत्मबल बढ़ने के रूप में प्राप्त होता ही रहेगा। आत्म-कल्याण का मार्ग यही है।

अध्यात्मवाद का सारा ढाँचा इसी उद्देश्य को लेकर खड़ा किया गया है कि व्यक्ति अपने आप में पवित्र, विवेकी, उदार और संयमी बने। दूसरों से ऐसा मधुर व्यवहार करे जिसकी प्रतिक्रिया लौटकर उसके लिये सुविधा और प्रसन्नता उपस्थित करे। ऐसी विचारणा और गतिविधि जो व्यक्ति अपना सका, समझना चाहिये उसने अध्यात्मवाद के तत्त्व-ज्ञान को समझ लिया और आत्म-कल्याण के लक्ष्य तक पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग पकड़ लिया।

सद्भावनाएँ ही दैवी सम्पत्ति हैं। सांसारिक सम्पत्तियों से केवल सांसारिक सुख मिलते हैं किन्तु दैवी सम्पत्ति के मिलने पर मनुष्य दुहरा लाभ प्राप्त करता है। उससे लौकिक जीवन आनन्दमय बनता है, किसी वस्तु का अभाव एवं कष्ट नहीं रहता। क्योंकि उसके पुरुषार्थ का जागरण होने से मनोयोग के सुसंतुलित होने से हर कार्य ठीक तरह बन पड़ता है और सफलताओं की सम्भावना अधिकाधिक बढ़ती जाती है। परिश्रमी और लगनशील व्यक्ति जिस कार्य में भी लगते हैं उसी में सफलता पर सफलता प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं। फिर यदि परिस्थितिवश कभी कोई कमी रह जाती है या असफलता मिलती है तो उसे वह मनस्वी व्यक्ति हँसी-हँसी में सहन कर लेता है और उससे निराशा, चिन्ता एवं खिन्नता जैसा प्रभाव मन पर नहीं पड़ने देता। अध्यात्म सिद्धान्तों का अनुकरण करने पर यह आत्मपरिष्कार का लाभ जिसे मिला उसको लौकिक जीवन में समृद्धि और प्रगति का मार्ग ही प्रशस्त हुआ है। उसने आनन्दमय जीवन का सुख लाभकर अपने को धन्य माना है।

अध्यात्म का दूसरा लाभ है अन्य शक्तियों के साथ मधुर संबंधों का होना । मनुष्य सामाजिक प्राणी है उसे दूसरों के साथ मिल-जुलकर रहना पड़ता है, अपनी सुविधाएँ दूसरों के सहारे प्राप्त करता है । सम्मान, प्रसन्नता एवं सहयोग का सुख भी उसी को मिलता है जो दूसरों की सद्भावना प्राप्त कर सके । जिसे दूसरों का स्नेह, सद्भाव एवं सम्मान प्राप्त नहीं है वह पग-पग पर कठिनाइयों को अनुभव करेगा और अपने आपको अकेला, तिरस्कृत एवं उपेक्षित अनुभव करता हुआ सदा उद्विग्न बना रहेगा । ऐसी दशा में जीवन की असफलता एवं नीरसता ही अनुभव होती रहेगी, इस खेदजनक स्थिति से बचने का एकमात्र उपाय है आध्यात्मिक मान्यताओं का अवलम्बन । जिसका पहला उपाय आन्तरिक पवित्रता और दूसरा उपाय अन्य व्यक्तियों के साथ मधुर व्यवहार करना ही हो सकता है ।

गीता के पूर्व प्रवचनों में आत्म परिष्कार के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है । प्रस्तुत श्लोक में उस रहस्य को प्रकट कर दिया गया है कि दूसरों का सद्भाव एवं सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है दूसरे लोग न भले हैं न बुरे । उनमें अच्छाईयाँ भी बहुत हैं और बुराईयों की भी कमी नहीं । हर मनुष्य के अन्दर देवी और आसुरी तत्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं । इन उभय पक्षीय वृत्तियों में से हम जिसके साथ अपना सम्पर्क बनाते हैं, जिसे प्रोत्साहित करते हैं वही उभर कर आगे आ जाती है । जब हम किसी से कटुवचन बोलते या दुर्व्यवहार करते हैं तो उसकी आसुरी शक्तियों के साथ सम्पर्क बनता है । हमारी असुरता को देखकर उसकी असुरता उभरती है । फलस्वरूप वह भी क्रुद्ध होकर बदले में कटुवचन बोलने या दुर्व्यवहार करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है । असुरता की प्रतिक्रिया असुरता के रूप में होनी ही चाहिये । इसमें आश्चर्य या दुःख की कोई बात नहीं । जब हम दूसरों के साथ प्रेम, मधुरता, उदारता एवं सज्जनता का व्यवहार करते हैं तो बदले में कटु-

स्वभाव का व्यक्ति भी नरम हो जाता है और अपेक्षाकृत अधिक मधुर व्यवहार करता है। बुरे व्यक्ति भी सबके लिये बुरे नहीं होते। किसी-किसी के लिये वे भी मधुर हो जाते हैं। जिसके साथ वे अच्छा व्यवहार करते हैं उसमें स्वार्थ भी एक कारण हो सकता है पर ऐसा भी निश्चित रूप से होता है कि जो सज्जन हैं उसके साथ दुर्जनों को भी अपेक्षाकृत अधिक सज्जनता बरतने के लिये विवश होना पड़ता है।

यह निर्विवाद है कि दूसरों के सहयोग की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति प्रगतिशील, सुखी एवं समृद्ध होना तो दूर, ठीक तरह जिन्दगी के दिन भी नहीं गुजार सकता। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को इस बात की आवश्यकता अनुभव होती है कि वह अपने परिवार का, मित्रों का, साथी-सहयोगियों का तथा सर्वसाधारण का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करे। और यह तभी सम्भव है जब हम दूसरों के साथ अधिक सहृदयता एवं सद्भावनापूर्ण व्यवहार करने का अभ्यास करें। गीता में इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये अर्जुन को—और अर्जुन के माध्यम से सर्व साधारण को प्रोत्साहित किया गया है।

दूसरों का हृदय जीतने और उसका सहयोग, सद्भाव प्राप्त करने का लाभ कैसे मिले ? इसका उत्तर ढूँढ़ने के साथ-साथ हमें यह जानना ही चाहिये कि यह संसार कुए की आवाज की तरह है जिसमें हमारे ही उच्चारण की प्रतिध्वनि गूँजती है। यह संसार दर्पण की तरह है जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से अपना ही स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस संसार के बाजार में कोई सुख-सुविधा अपने सद्गुणों में मूल्य पर ही खरीदी जाती है। जब हम अपने आपको सुधारने के लिये अग्रसर होते हैं तो निश्चित रूप से यह दुनियाँ हमारे लिए अपेक्षाकृत अधिक सुधरी हुई, सुन्दर और मधुर बन जाती है।

गीता के प्रस्तुत श्लोकों में कहा गया है कि हम अपने समान ही औरों को समझें। उनके सामाजिक स्तर और मानवीय अधिकारों को



अपने से तनिक भी न्यून न समझें। जाति-पाँति के आधार पर किसी को हेय, हीन या छोटा समझना, अध्यात्मवाद के सर्वथा विपरीत है। दुष्टता और सज्जनता के आधार पर किसी को नीच-ऊँच माना जाय, किसी कुकर्मी का तिरस्कार और श्रेष्ठ सत्पुरुष का सम्मान किया जाय यह बात दूसरी है, उसमें औचित्य है पर केवल इसलिये किसी को नीच मानना कि वह अमुक जाति में पैदा हुआ है सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार स्त्रियों को पुरुषों से कम दर्जे के अधिकार देने की बात सोचना अनुचित है। नर और नारी दोनों ही ईश्वर की दाहिनी-बाईं भुजा हैं। दाँये-बाएँ नेत्र हैं। इनके अधिकार और स्तर में हीनता-महत्ता का अन्तर नहीं किया जा सकता। इसलिये सबको अपने समान समझना, समता के आदर्श पर पूरी-पूरी आस्था रखना आध्यात्मपथ पर चलने वाले के लिए एक नितान्त आवश्यक धर्म कर्त्तव्य माना गया है।

दूसरों की परिस्थिति में हम अपने को रखें और अपनी परिस्थिति में दूसरे को रखें और फिर विचार करें कि इस स्थिति में क्या सोचना और क्या करना उचित है। यदि हम बीमार हैं तो दूसरों से किस प्रकार से सहयोग एवं व्यवहार की आशा एवं आवश्यकता हमें होगी, इसकी कल्पना करनी चाहिए और तब घर में पड़े बीमार के साथ अपने कर्त्तव्य एवं व्यवहार का निर्धारण करना चाहिये। कोई व्यक्ति हमारे साथ ठगी, धोखेबाजी, बेईमानी एवं अनीति का व्यवहार करे तो हमें कितना कष्ट एवम् क्षोभ होगा इसकी कल्पना करते हुए हमें औरों के साथ इस प्रकार के अनीतियुक्त व्यवहार करने से बचना चाहिये। हर मनुष्य चाहता है कि दूसरे उसके साथ सहानुभूति, सहृदयता एवं उदारता का व्यवहार करें, तब अपने को औरों की स्थिति में और, औरों को अपनी स्थिति में रखकर हमें अपना कर्त्तव्य वैसा ही निर्धारित करना चाहिये जैसा कि औरों से अपने प्रति व्यवहार की आशा कर रहे थे।

दूसरों के सुख को देखकर अपने सुख जैसी कल्पना करना और

प्रसन्न होना प्रत्येक अध्यात्मवादी का—गीता के अनुयायी का—स्वभाव होना चाहिये। उसी प्रकार दूसरों के दुःख में अपना दुःख अनुभव करना और दुःखी होना आध्यात्मिकता का चिन्ह माना जाना चाहिये। जो दूसरों को दुःखी देखकर अपने दुःखी होने के समान दुःखी नहीं होता, जिसे दूसरों के सुख में अपने सुख जैसा आनन्द एवं सन्तोष नहीं मिलता, वह व्यक्ति अध्यात्मवादी कहलाने लायक नहीं। पाषाण जैसा हृदय केवल स्वार्थी लोगों का होता है। अपने थोड़े से सुख के लिये दूसरों को अपार कष्ट देते हुए उन्हें सङ्कोच नहीं होता। ऐसे निष्ठुर व्यक्ति एक प्रकार के असुर ही हैं, जिन्हें दूसरों को सुखी, लाभान्वित या सफलता प्राप्त करते देखकर प्रसन्नता के स्थान पर ईर्ष्या एवम् कुद्वेद होती है उन्हें नर पिशाच ही मानना चाहिए। अपने और पराये के बीच जितनी अलग-गाव की दीवार बड़ी और चोड़ी होगी उतना ही वह व्यक्ति ओछा और पापी बनता चला जायगा। यह पर्दा जितना ही हल्का होगा उतनी ही आत्मिक प्रगति हुई समझी जा सकती है। जब अपने और पराये का भेदभाव मिट जाता है, औरों के कष्टों को अपना कष्ट समझकर जब कोई सहृदय व्यक्ति करुणा से विचलित हो उठता है और उन व्यवस्थाओं के शमन के लिये तत्परतापूर्वक लग जाता है तो समझना चाहिए कि इसकी आत्मा में ऋषि-तत्त्व उदय हुआ और परमात्मा की उपलब्धि समीप आ गई।

प्राणी मात्र के भीतर एक ही आत्मा समाई हुई है। सब अपने ही हैं। अपनों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करना ही पड़ता है और वह आत्मीयता, त्याग, प्रेम, सेवा एवं क्षमा से भरा हुआ ही होता है। इसी प्रकार की आन्तरिक स्थिति बनाई जानी चाहिये और उसे दिन-दिन विकसित एवं परिपुष्ट किया जाना चाहिये। एक ही आत्मा को सब से समाया हुआ देखने वाला, अपने को सब में और सबको अपने में अनुभव करने वाला व्यक्ति वस्तुतः हर घड़ी ईश्वर को ही देखता है। यह मान्यता जिसके अन्तःकरण में जागृत होगी वह सीमावद्ध स्वार्थी



सङ्कीर्ण न रहकर विश्वहित के लिये अपने आपको उत्सर्ग करने में ही प्रसन्नता अनुभव करेगा और निरन्तर उसी मार्ग पर चलते हुए अपने जीवन की सार्थकता समझेगा। जिसने यह मार्ग अपना लिया वस्तुतः सच्चा योगी वही है बाकी तो लाल-पीले कपड़े पहनकर कौतुक करने फिरने वाले विदूषक मात्र हैं। गीता का योगी वनवासी भी हो सकता है और गृहवासी भी। उसे दोनों ही स्थितियों में पीड़ित मानवता की सेवा के लिये आत्मोत्सर्ग करना ही पड़ता है।



आत्मवत् सर्व भूतेषु की भावना

ईश्वर के बाद मनुष्य का उत्तरदायित्व

कुरुक्षेत्र के मैदान में दूर दूर तक लाशों पर लाशें बिछी पड़ी थीं। शिष्यों समेत शमीक ऋषि उधर से निकले तो लाशों के बीच गज घण्टा के पास दो पक्षियों को चह-चहाते देखा। शिष्यों ने आश्चर्य से पूछा “देव ! इतने घमासान युद्ध में यह पक्षी कैसे जीवित बने रहे ?” ऋषि कहा—“युद्ध हो रहा था, एक चिड़िया को तीर लगा और वह जमीन पर गिर पड़ी और वहीं दो अण्डे दे दिये। संयोग से एक हाथी का घण्टा टूट कर इन्हीं के ऊपर गिर गया और इन अण्डों की रक्षा होती रही। अब ये बच्चे मिट्टी कुरेद कर बाहर निकल आये हैं। चलो इन्हें आश्रम में ले चलो यहाँ इनका पाल-पोषण कौन करेगा ?” एक शिष्य ने पूछा गुरुदेव जिस परमात्मा ने इनकी रक्षा की है वह इनका पालन भी कर लेगा। गुरुदेव बोले, जहाँ से परमात्मा का काम समाप्त हो जाता है वहाँ से मनुष्य का कर्तव्य शुरू होता है। परमात्मा ने इनकी रक्षा की और हमें इनका पालन-पोषण करना चाहिये। शिष्यों ने पक्षी-शावकों को उठा लिया।

युधिष्ठिर का जीव-प्रेम

हिमालय पहाड़ की विषमताओं के कारण एक-एक करके अर्जुन नकुल, सहदेव, भीम, द्रोपदी, कुन्ती आदि मर गये, युधिष्ठिर ही आगे बढ़ते रहे। उनके साथ मार्ग में से एक कुत्ता भी लग गया और वे अपने उस साथी के साथ ही आगे बढ़ रहे थे। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि इन्द्र विमान लेकर खड़े हैं और स्वर्ग में चलने की प्रार्थना कर रहे हैं। युधिष्ठिर ने कुत्ते को भी साथ ले चलने को कहा लेकिन नियमानुसार कुत्ता वहाँ नहीं जा सकता था। इस पर युधिष्ठिर ने अपने मित्र के बिना वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा 'जिसने मेरा यहाँ तक साथ दिया उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ?' इतने में ही धर्म जो कुत्ते के रूप में थे प्रकट होकर युधिष्ठिर के जीव प्रेम की सराहना करने लगे।

मिल-बाँटकर खाओ

सुधन्वा के पुत्र ऋभु, विभु और बाज, त्वष्टा के विशेष कृपा पात्र थे। त्वष्टा ने उन्हें अनेकों विद्यायें सिखाई थीं। एक दिन ऋभुओं ने सोम का अभिषव करके चमस में रखा ही था कि उन्हीं के आकार का एक और व्यक्ति उपस्थित हुआ। सोम कोई साधारण वस्तु न थी किन्तु अतिथि की अवहेलना भी तो अक्षम्य थी। ऋभु ने प्रसन्नता पूर्वक सोम के चार भाग कर अतिथि का सत्कार किया। उनके इस आदर्श-व्यवहार पर मानव देहधारी अतिथि भगवान् अग्नि में प्रकट हुये और उन्हें देवत्व प्रदान किया।

गांधारी और युधिष्ठिर की महानता

महाभारत शुरू होने को था। दुर्योधन जानता था कि यदि उसकी माँ उसे आशीर्वाद दे देतो वह युद्ध में अवश्य विजयी होगा। यह सोचकर वह गान्धारी के पास गया। माता ने पुत्र से बड़ा स्नेह किया पर आशीर्वाद नहीं दिया। कुछ देर बाद दुर्योधन इसी लालसा से पुनः



माता के पास गया। गान्धारी ने कहा—बेटा ! जीत उसी की होती है जो सत्य और न्याय का समर्थक होता है।

दुर्योधन अपनी माता की पतिव्रत जन्म सिद्धि को जानता था, इसलिये उसने विजय का उपाय पूछने के लिये बहुत आग्रह किया। इस पर गान्धारी ने उसे युधिष्ठिर के पास जाकर उपाय पूछने को कहा। दुर्योधन ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा वे तो हमारे शत्रु हैं, भला हमारी विजय का उपाय वे कैसे बतावेंगे ? गान्धारी ने कहा—श्रेष्ठ पुरुष अपने, पराये का और मित्र, शत्रु का भेद नहीं करते। वे बिना भेद-भाव सबको सत्परामर्श देते हैं। तुम उनके पास जाओ। उचित परामर्श मिलेगा। दुर्योधन गया। पूछा—उत्तर में युधिष्ठिर ने बताया कि आपकी माता खुले नेत्रों से आपका शरीर देख ले तो उस पर किसी शस्त्र का आघात न पहुँचेगा। दुर्योधन ने वैसा ही किया भी। कटिवस्त्र पहने रहने के कारण उनका वह अंग दुर्बल रह गया और भावी-वश उसी से मारा भी गया। पर गान्धारी का आशीर्वाद न देना और युधिष्ठिर का अपने शत्रु को भी सत्परामर्श देना सदा अमर रहेगा।

पिप्पलाद के प्रतिशोध का शमन

पिप्पलाद को एक बार देवताओं पर बड़ा क्रोध आया। उसने शिवजी की तपस्या की और वर देने के लिये उन्हें प्रसन्न कर लिया। पिप्पलाद ने माँगा कि देवताओं ने मेरा तिरस्कार किया है इसलिये मैं उनसे प्रतिशोध लूँगा, आप तीसरा नेत्र खोल कर उन्हें भस्म कर दीजिये।

शिवजी ने उन्हें समझाया कि क्रोध के वशीभूत होकर छोटे कारण के लिये बड़ा दण्ड देना उचित नहीं। पिप्पलाद फिर भी न माने। तब शङ्कर जी ने कहा—आपको मनोकामना तो पूर्ण करेंगे पर उससे पहले आप जलते समय होने वाले कष्ट का थोड़ा अनुभव कर लें, तब अन्तिम निश्चय करें। यह कहकर शंकरजी ने अपने तीसरे नेत्र की

एक किरण निकाली जो ऋषि के शरीर प्रविष्ट हुई, तो वे दाह की प्रचंडता से व्याकुल होकर चीत्कार करने लगे ।

अपने शरीर में होने वाले कष्ट से दूसरों के कष्ट का अनुमान कर पिप्पलाद का मन बदल गया और उन्होंने देवताओं को नष्ट करने का विचार छोड़ दिया ।

रावण का कर्त्तव्य पालन

रामचन्द्रमी ने समुद्र तट पर शङ्कर जी की स्थापना करने का निश्चय किया । इसके लिये योग्य विद्वान् की आवश्यकता हुई । सबसे समीप रावण ही था । उसे आदर सहित बुलाया गया । रावण आया और उसने एक ब्राह्मण की तरह देव प्रतिष्ठा का अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया । रामचन्द्रजी ने ससम्मान रावण को प्रणाम करके दक्षिणा दी रावण ने राम को मङ्गल तिलक किया और आशीर्वाद देते हुए कहा राम ! तुम्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिले । तुम्हारे शत्रुओं का नाश हो ।" रावण की इस विशाल भावना से राम का हृदय द्रवति हो गया ।

दुष्कर्मों का प्रतिफल अटय

महर्षि माण्डव्य के आश्रम में छिपे डाकू पकड़े गये, चोरी का माल भी उनके पास मिला, डाकुओं के साथ माण्डव्य भी पकड़े गये । न्यायालय में उपस्थित किये गये तो डाकुओं के साथ-साथ माण्डव्य को भी शूली का दण्ड मिला ।

अन्य ऋषि मिलकर राजा के पास पहुँचे और माण्डव्य की निर्दोषिता बताई । राजा ने तुरन्त शूली रुकवा दी और उन्हें तख्ते पर से नीचे उतार लिया गया । तब तक जितना कष्ट उन्हें हो चुका था उसके लिए राजा ने क्षमा माँगी ।

माण्डव्य ने कहा पूर्व जन्म में मैंने अनेक पशु-पक्षियों को सताया था, उसके फलस्वरूप मुझे भारी यातनाओं के साथ मरना था । पर मेरी इस जन्म की तपस्या ने उन कष्टों को घटा दिया फिर भी कोई प्रारब्ध

पूर्णतया शमन नहीं हो सका उसका कुछ तो दण्ड मिलना चाहिये । मेरे अशुद्ध कर्मों का ही यह प्रतिफल था, आप निर्दोष हैं ।

घटोत्कच का प्रत्युपकार

भीम ने वनवास के समय हिडिम्बा नामक एक वनवासी स्त्री से विवाह कर लिया था । वही उसका घटोत्कच नामक पुत्र हुआ । माता-पुत्र वनवास में ही रहते थे । जब पाण्डवों का अपना ही रहने का कोई ठिकाना न था तो हिडिम्बा ही उनके साथ कहाँ रहती ?

इतने में महाभारत आरम्भ हो गया । कर्ण से घमासान लड़ाई होने लगी । कर्ण के पास एक ऐसा अचूक अस्त्र था जिससे पाण्डवों का संहार निश्चित था । उसके प्रयोग का अवसर जब आया तब हिडिम्बा ने अपने पुत्र को कहा—बेटा, अपने अभिभावकों के प्रति प्रत्युपकार, ऋण चुकाने का यही अवसर है । प्राणों का मोह न करके कर्त्तव्य पालन करना चाहिये । उस शस्त्र के प्रयोग के समय घटोत्कच सामने आ गया वह मारा गया और पाण्डव बच गये ।

अधिकार घातक का नहीं रक्षक का

राजकुमार सिद्धार्थ और मन्त्री-पुत्र देवदत्त दोनों साथ-साथ बाग में घूमने जा रहे थे । सहसा सिद्धार्थ ने देखा दो सुन्दर राजहंस आकाश में उड़ते जा रहे हैं । उन्हें देखकर वह प्रसन्न हो उठा, “देवदत्त ! देखो ये कितने सुन्दर पक्षी जा रहे हैं ।” देवदत्त ने उपर देखा और अपना धनुषबाण उठाया, एक पक्षी को मार कर गिरा दिया ।

सिद्धार्थ की प्रसन्नता शोक और व्याकुलता में परिणत हो उठी । सिद्धार्थ दौड़े और रक्त से सने राजहंस को गोदी में उठा लिया और सीने से लगाकर रोने लगे ।

“इस पक्षी पर मेरा अधिकार है सिद्धार्थ । देखते नहीं हो, इसे मैंने अपने बाण से मारा है ।” देवदत्त ने कहा ।

सिद्धार्थ बिना कुछ कहे-सुने पक्षी को लेकर चले गये अपने भवन में और वहाँ उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे ।

देवदत्त ने उस समय राजकुमार समझकर कुछ भगड़ा नहीं किया किन्तु पक्षी के बारे में लालसा मिटी नहीं । उसने फिर सिद्धार्थ से पक्षी माँगा किन्तु जवाब इन्कारों में ही मिला । सिद्धार्थ बड़े प्यार से उसकी सेवा करने लगे ।

देवदत्त ने न्याय प्राप्ति के लिये महाराज के पास जाकर शिका-यत की । महाराज ने दोनों को राज-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी । एक ओर देवदत्त खड़े थे दूसरी ओर सिद्धार्थ अपनी गोद में पक्षी को लिये हुए । देवदत्त ने अपना तर्क प्रस्तुत किया—“महाराज मैंने पक्षी को बाण मारा, इसलिये इस पर मेरा अधिकार है ।”

“किन्तु मैंने इसे बचाया है । मारने वाला नहीं, बचाने वाला बड़ा होता है । इसलिये उसका ही अधिकार होना चाहिए ।” सिद्धार्थ ने बिना पूछे कहा । महाराज ने पक्षी को दोनों के बीच में छुड़वा दिया और वह स्वयं बुद्ध के पास चला गया ।

उपगुप्त और वासवदत्ता

भारत की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी वासवदत्ता किसी भी तरह उपगुप्त को आकृष्ट न कर सकी । आत्मा पर प्रीति रखने वाले योगी के लिए शरीर का भला क्या महत्त्व हो सकता था । वासवदत्ता के सारे प्रयास निष्फल गये । अब वह वृद्धा हो गई, रूप और यौवन के लोलुप भौरे अब उसके पास नहीं आते । आज वह निःसहाय पड़ी है सारे बदन में घोर पीड़ा है, प्यास से व्याकुल है, कोई पानी देने वाला भी नहीं है । सहसा द्वार खुले । उपगुप्त आये हैं आज । वासवदत्ता को उन्होंने अपने हाथ से पानी पिलाया, उसकी सेवा की और अपने घर आजीवन सेवा करने के लिये ले आये । उन्होंने कहा वासना के लिये नहीं मानवीय कर्तव्यों के लिये किसी को प्यार करना यही प्यार का सच्चा स्वरूप है ।

भामाशाह की उदारता

मेवाड़ की रक्षा के लिये महाराणा प्रताप अन्तिम प्रयत्न करते हुए निराश हो गये थे । अकबर की विशाल सेना और अपरिमित साधनों का मुकाबला करते-करते छोटे-से मेवाड़ प्रदेश के साधन समाप्त हो चुके थे । प्रत्येक लड़ाई में राजपूतों ने चिरस्मरणीय शौर्य और वीरता का परिचय दिया, महाराणा प्रताप ने दो-चार हजार सैनिकों को लेकर बड़ी बादशाही सेनाओं का मुँह मोड़ दिया, पर मुगल सल्तनत के साधन बहुत अधिक थे । एक सेना नष्ट हो जाती तो दूसरी भेज दी जाती । एक स्थान का रसद-पानी खत्म हो जाता तो दूसरे स्थान से अन्नादि सामग्रियाँ भेज दी जातीं । पर महाराणा प्रताप अकेले अपने ही बल पर जूझ रहे थे ।

अन्त में ऐसा समय आ गया जब उनके पास न तो रुपया पैसा बचा, न सिपाही और हथियार रहे । बादशाही सेना को निरन्तर आगे बढ़ते देखकर और पहाड़ों के भीतर रहकर अपने तथा अपने साथियों के लिये सूखी रोटी मिल सकना भी असम्भव समझकर उन्होंने मेवाड़ को त्यागकर सिन्ध की तरफ जाने का विचार किया ।

जिस समय महाराणा प्रताप देश त्याग का निश्चय करके और अपने बचे-खुचे साथियों को लेकर अरावली पर्वत को पार करके सिन्धु में जाने का कदम बढ़ाने लगे कि किसी ने उनको पीछे-से पुकारा—‘ओ मेवाड़ पति ! राजपूती वीरता की शान दिखाने वाले ! हिन्दू धर्म के रक्षक ! जरा ठहर जाओ !’ राणा ने चौंककर पीछे मुड़कर देखा तो उनके राज्य के पुराने जमाने के मन्त्री भामाशाह उनकी तरफ दौड़े चले आ रहे थे । भामाशाह किसी प्रकार राणा के देश त्याग का समाचार सुनकर तुरन्त ही उठकर दौड़े चले आये थे ।

वे समीप पहुँचते ही आँखों में आँसू भरे हुए भर्राये स्वर से बोले—“स्वामी ! आज कहाँ जा रहे हैं और क्यों ? इतने व्यथित तथा उदास जान पड़ते हैं ?” महाराणा का निराशापूर्ण उत्तर सुनकर भामा-

शाह कहने लगा—‘नहीं, एक बार आप फिर अपने घोड़े की बाग मेवाड़ की तरफ मोड़िये और नये सिरे से तैयारी करके मातृ-भूमि के उद्धार का प्रयत्न कीजिये । इसमें जो खर्च होगा वह मुझसे लीजिये । आपके पूर्वजों की दी हुई पर्याप्त सम्पत्ति मेरे पास है, वह सब मैं आपके चरणों में भेंट करता हूँ । वह मातृ-भूमि के उद्धार में लग सके इससे बढ़कर उसका सदुपयोग क्या हो सकता है ? इसलिये आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करके उस सम्पत्ति द्वारा लड़ाई की तैयारी करें । यदि सफल हो जायें तो ठीक है अन्यथा फिर जहाँ स्वामी, वहीं सेवक भी चलेगा’ भामाशाह के अपूर्व त्याग और देश-भक्ति को देखकर महाराणा प्रताप का हृदय भर आया और उसके अनुरोध को मानकर वापस लौट आये । कहा जाता है कि भामाशाह के भण्डार में इतना धन था कि जिससे पच्चीस हजार सेना का बाहर वर्ष तक खर्च चल सकता था । भामाशाह ने अपना सुख ठुकरा दिया और सारे देश के उज्ज्वल भविष्य के लिये अपना सब कुछ दान कर दिया ।

पीड़ितों की सेवा, भगवान् की पूजा

स्वामी विवेकानन्द ने कलकत्ते में प्लेग पीड़ितों की सेवा के लिये बहुत बड़ा काम किया । अपने सभी साथियों को उन्होंने इस ओर लगा दिया और कहा—“सबसे बड़ा कार्य सेवा है ।” धन की आवश्यकता पड़ी तो वे रामकृष्ण मिशन मठ के लिये ली गई जमीन को भी बेचने के लिये तैयार हो गये थे, उन्होंने कहा—“जब हम अभी पीड़ितों की सेवा नहीं कर सकते तो इन मठ-मन्दिरों का क्या करेंगे ?”

गधे में रामेश्वर के दर्शन

एक बार एकनाथ जी अन्य सन्तों के साथ प्रयाग से गङ्गाजी का जल काँवर में लेकर रामेश्वरम् जा रहे थे । रास्ते में एक रेतीला मैदान आया । वहाँ एक गधा प्यास के मारे छटपटा रहा था । एकनाथ जी ने तुरन्त काँवर से लेकर गङ्गाजल गधे के मुख में डाला । एकनाथ

केसाथी सन्त प्रयाग के गंगाजल का इस प्रकार प्रयोग होते देखकर क्रुद्ध हुए। एकनाथ ने उन्हें समझाया—अरे सज्जन वृन्द ! आप लोगों ने तो बार-बार सुना है कि भगवान् घट-घट वासी हैं। तब भी ऐसे भोले बनते हो ! जो वस्तु या ज्ञान समय पर काम न आवे वह व्यर्थ है। काँवर का जो जल गधे ने पिया, वह सीधे श्रीरामेश्वर पर चढ़ गया।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की सेवा वृत्ति

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक दिन अपने मित्र के साथ एक गाँव जा रहे थे। रास्ते में हैजा से आक्रान्त एक दीन-हीन व्यक्ति मूर्च्छित अवस्था में पड़ा मिला। विद्यासागर उसकी सफाई करके पास के अस्पताल में पहुँचाने का उपक्रम करने लगे।

साथी मित्र ने कहा—हम लोग आवश्यक काम से जा रहे हैं। इस छोटे काम को कोई और कर लेगा, हम लोग अपना कार्य क्यों छोड़ें ?

विद्यासागर ने कहा—मानवता की सेवा से बढ़कर और कोई काम बड़ा नहीं हो सकता। उस निस्सहाय पीड़ित की उपेक्षा करके अपनी निष्ठुरता ही तो हम लोग प्रमाणित करेंगे। निष्ठुर व्यक्ति का कोई कार्य भला नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह एक दिन स्टेशन पर एक नवयुवक कुली-कुली चिल्ला रहा था। छोटे स्टेशन में कुली कहाँ ? ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सादे वेष में खड़े थे। उन्होंने नवयुवक का बक्स ले लिया और चल पड़े। अपने घर के सामने आकर विद्यासागर रुककर बोले भाई यही विद्यासागर का घर है। युवक पैसे देने लगा तो उन्होंने सरलता से कहा मैं ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हूँ। युवक उनके पैरों में गिरकर क्षमा माँगने लगा और भविष्य में अपना काम स्वयं करने की प्रतिज्ञा ली।

मालवीय जी की परदुःखानुभूति

मालवीय जी के विद्यार्थी काल की घटना है कि उन्होंने एक कुत्ते

को देखा कि जिसके कान के पास एक घाव था, उसमें पीव पड़ गई थी, मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। इससे उसे बहुत पीड़ा हो रही थी और वह पागलों की तरह इधर-उधर भाग रहा था। बीसियों व्यक्ति उसको देखकर जा ही रहे थे। किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि उसे देखकर अपना मुँह ही फेर लेते थे।

मालवीयजी ने सोचा “इस समय यदि मेरी यही दशा होती तो मैं क्या करता ? इसका इलाज करवाना चाहिये। इस बेचारे का कौन है, भगवान् के सिवाय ?” वह तुरन्त वैद्य जी के पास गये और कुत्ते के घाव सम्बन्धी सभी बातें उन्हें बताईं। वैद्य जी ने दवा तो दे दी, पर वह बोले—‘मदनमोहन ! कुत्ते के लक्षण ऐसे हैं कि उसके पागल होने की सम्भावना है। पागल कुत्ते छूने पर काट लेते हैं। तुम इस चक्कर में न पड़ो तो अच्छा है।’

मालवीय जी कब मानने वाले थे। उन्हें तो अपनी धुन सवार थी। दवा लेकर कुत्ते को ढूढ़ने लगे। उसे पीड़ा तो हो ही रही थी। बेचारा दुम दबाकर एक गली में बैठ गया था। मालवीय जी उसे दवा लगाने लगे। दवा लगाने से उसे कुछ विशेष पीड़ा हुई जिससे वह गुराया, दांत निकाले, झपटने का भी ढङ्ग बनाया, किन्तु मालवीय जी तो अपने काम में मस्त थे, उन्होंने कुत्ते की गुराहट को सुना तक नहीं।

जब दवा अच्छी तरह से लग गई, तो कुत्ते की पीड़ा कुछ कम हुई वह सो गया और मालवीय जी ने शान्ति की सांस ली।

इसीलिये तो श्री चिन्तामणि जी उनके बारे में कहा करते थे कि “मालवीय जी में तो सिर से पैर तक हृदय ही हृदय है।”

अपने सुख के लिये दूसरों को दुःख नहीं

सेवाग्राम में गांधी जी के पास एक कुष्ठ रोगी परचुरे शास्त्री रहते थे। उनके कुष्ठ रोग के लिये किसी ने दवा बताई कि—“एक काला सांप लेकर डाँड़ी में बन्द किया जाय, फिर उस हाँड़ी को कई घण्टे उपलों की



आग में जलाया जाय । जब साँप की भस्मी हो जाय तो उसे शहद में मिलाकर खाने से कुछ अच्छा हो जायगा ।” गाँधी जी ने पूछा “क्या आप ऐसी दवा खाने को तैयार हैं ?” शास्त्री जी ने उत्तर दिया— “बापू ! यदि साँप की जगह मुझे ही हाँड़ी में बन्द करके जला दिया जाय तो क्या हानि है ? साँप ने क्या अपराध किया है कि उसे इस प्रकार जलाया जाय ?”

परचुरे शास्त्री की वाणी में उस दिन मानवता की आत्मा बोली थी । वे लोग जो पशु-पक्षियों का मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहते हैं, इस मानवता की पुकार को यदि अपने बहरे कानों से सुनपाते तो कितना अच्छा होता ।

कोढ़ी का उद्धार

बंगाल के राजमहल जिले में रूप और सनातन नामक दो भगवद् भक्त हुए हैं । सनातन को कोढ़ था । चैतन्य महाप्रभु से सनातन की भेंट हुई, उन्हें मालुम हुआ कि यह भगवद्भक्त है तो उन्होंने यह जानते हुए भी कि यह कोढ़ी है, उठाकर छाती से लगा लिया । कोढ़ का मवाद उनके शरीर पर लग गया तो भी उनने उससे किसी प्रकार की घृणा न की । उन्होंने सनातन को पढ़ाया भी । उस शिक्षा के आधार पर सनातन ने भक्ति-रस के कई ग्रन्थ भी लिखे । कोढ़ी होते हुए भी वे महान् भगवद्भक्त बन सके ।

पतित और तुच्छ दीखने वालों में भी कितनी ही ऐसी आत्माएँ होती हैं जिन्हें उत्कर्ष का अवसर मिले तो वे महान् बन सकती हैं ।

नानकजी का बढ़िया सौदा

पिता ने पुत्र को कुछ रुपये दिए और सौदा करके कुछ कमाने के लिये भेज दिया । रास्ते में एक गरीबिनी का घर पड़ता था । बच्चे कई दिन के भूखे थे । नानकजी ने सारे पैसे उन्हें दे दिए । खाली हाथ घर लौटे तो पिताजी बहुत झल्लाये । नानकजी ने सरलतापूर्वक उत्तर दिया—

पिताजी गरीबों की सेवा से बढ़कर और दूसरा बढ़िया सौदा कौन हो सकता है ?

आत्मीयतामय रामतीर्थ

रामतीर्थ अमेरिका गये । वे वहाँ पर जहाज से उतरे, न कोई सामान था उनके पास । स्वयं भी एक संन्यासी के भेष में थे । एक अमेरिकन को उनकी यह स्थिति देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कौतूहल पूछा “आपका सामान कहाँ है ?” स्वामीजी ने जवाब दिया— “बस मेरे पास यही सामान है जो तुम्हारे समक्ष है ।” “तो तुम्हारा यहाँ कोई मित्र है ?” स्वामी जी ने बड़े विश्वास के साथ उस व्यक्ति के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा— “हां मेरा एक मित्र है आप ।” वह व्यक्ति स्वामी रामतीर्थ से इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें अपने घर ले गया और उनके अमेरिका में भ्रमण की सारी व्यवस्था की ।

एक के स्थान में तीन की भी गुजर है

सन्त के पास एक छोटी-सी झोंपड़ी मात्र थी जिसमें वह सो सकता था । एक दिन जोरों की वर्षा हुई किसी ने दरवाजा खट-खटाते हुए आवाज दी “क्या अन्दर जगह है ?” सन्त ने कहा “इसमें एक व्यक्ति सो सकता है लेकिन दो बैठे रह सकते हैं । आप अन्दर आ जाइये ।” उसे अन्दर ले लिया गया और वे दोनों बैठ गये । इतने में ही फिर किसी ने कुण्डी खट-खटाई । “जगह है क्या ?” सन्त ने जवाब दिया “यहाँ दो आदमी बैठ सकते हैं किन्तु तीन खड़े रह सकते हैं” और दरवाजा खोल दिया गया । तीनों ने उस बरसात की रात को खड़े होकर काटी । आध्यात्मिक, समाजवाद की यह व्यावहारिक परिभाषा यदि मनुष्य अपना ले तो संसार कष्टों से मुक्त हो जाय ।

पिता का ऋण चुकाना

श्री चितरञ्जनदास भारत की महान् विभूतियों में से थे । इनके पिता बड़ी दानशील प्रवृत्ति के थे जिससे मरते समय दासबाबू पर बहुत



सा कर्जा छोड़ गये, जिसके बोझ से एक नवयुवक के जीवन में उठने की सम्भावना ही न थी। लेकिन दासबाबू ने बड़ी लगन से, पुरुषार्थ से, धन कमाया और कर्जदारों का पैसा चुकाया। वे नहीं चाहते थे कि अपने लाभ के लिए दूसरों को सताया जाय।

उच्छ्रण होने की प्रेरणा

चन्द्रावती नगरी में एक रत्नभद्र नामक वैश्य रहा करता था। वह बहुत ही चालाक एवं लोभी वृत्ति का था। बहुत से धनिकों का कर्ज उस पर चढ़ा हुआ था। यद्यपि उसके पास पर्याप्त धन एवं नियमित आय थी। लेकिन किसी का पैसा देने को तैयार नहीं था। एक दिन वह तेल खरीदने के लिए कांचीपुर नगरी को गया और वहाँ एक तेली के यहां ठहरा। रात्रि को सब सो गये। लेकिन रत्नभद्र को नींद न आई। उसी समय तेली के दो बैलों में परस्पर बात-चीत होने लगी। एक बोला “भाई मैं तो आज इस तेली के ऋण से मुक्त हो गया।” दूसरा बोला ‘भाई अभी मेरे ऊपर तो बहुत सा ऋण बकाया है अभी कई वर्ष तक कष्टमय जीवन बिताना पड़ेगा।’ रत्नभद्र पशुओं की भाषा समझता था। दूसरे दिन तेली का एक बैल मर गया। इस घटना ने रत्नभद्र का हृदय झकझोर दिया। उसे भारी असन्तोष हुआ और जिन-जिनका कर्ज उसके ऊपर था उनकी तस्वीरें उसके मस्तिष्क में घूमने लगीं। उसने सोचा मैं लोगों को धोखा दे सकता हूँ किन्तु ईश्वर के न्याय को नहीं। कभी न कभी इस तरह कष्टपूर्ण जीवन बिताकर ऋण चुकाना पड़ता है तो यह धन किस काम का? वह बिना कुछ खरीदे ही अपने नगर आया और सभी ऋणदाताओं को बुलाकर उनका कर्ज चुका दिया। दूसरों का धन अपहरण करके अपना वैभव बढ़ाने की नीति पर उसे घृणा हो गई।

किसान का त्याग

एक बार विदर्भ देश में बड़ा जोर का अकाल पड़ा। एक गांव

में किसी के पास कुछ भी न बचा। उसी गाँव के एक किसान के पास एक कोठी भरा धान था। वह उससे कई महीने तक अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता था, लेकिन उसे ख्याल आया कि अगले वर्ष मौसम के समय खेतों में बोने के लिये बीज न मिलेगा तो फिर से सबको अकाल का सामना करना पड़ेगा। किसान से उस धान के स्टॉक को नष्ट नहीं किया और सपरिवार सहर्ष मृत्यु की गोद में सो गया। लोगों ने देखा कि काफी अन्न होते हुए भी किसान परिवार क्यों मर गया? लेकिन उसकी वसीयत को पढ़कर सभी किसान की महानता पर हर्ष के आँसू बहाने लगे। उसमें लिखा था, 'मेरा समस्त अन्न खेतों में फसल बोने के समय गाँव में बीज के लिये बाँट दिया जाय।' और चारों ओर नई फसल लह-लहाती फसल से लग रहा था मानो किसान मरा नहीं अपितु असंख्यों जीवधारी के रूप में हरे-भरे खेतों में लह-लहाता फिर से धरती पर उतर आया हो।

दूसरों का अहित क्यों करें ?

एक सेना एक गाँव के पास से गुजर रही थी। घोड़ों के चारे की आवश्यकता थी। सेनापति ने एक किसान को बुलाकर पूछा सबसे अच्छा चारा किस खेत में है? किसान सेनापति को एक दूर के मामूली से खेत में ले जाकर बोला—इसका चारा सबसे अच्छा है सेनापति ने कहा इससे अच्छा चारा तो गाँव के आस-पास ही था। इतनी दूर क्यों लाये? किसान बोला किसी दूसरे की फसल को अच्छा बताकर काटवाने से अच्छा है मैं अपनी ही फसल काट दूँ। मुझे दूसरों का नुकसान कराने का क्या अधिकार है?

जब भगवान् बीमार पड़े

एक भक्त रोज गंगा स्नान करके भगवान् पर जल चढ़ाता था। एक दिन रास्ते में एक प्यासा मनुष्य रात भर के बुखार का मारा पड़ा था। पानी लाते देखकर उसने भक्त से पानी पिलाने की याचना की।

भक्त डपटकर बोला—“मूर्ख यह जल भगवान् को चढ़ाना है, तुम्हारे जैसे अनेकों बीमार पड़े होंगे। उन्हें कौन पानी पिलाता घूमें?” रात के भक्त ने सपने में देखा भगवान् बीमार हो गये हैं। भक्त ने बीमारी का कारण पूछा—भगवान् बोले “तूने पीड़ित मनुष्य की सहायता नहीं की, प्यासे मनुष्य की आवश्यकता पूरी न कर मेरे स्नान में जो जल काम आया वह मेरे लिये पाप रूप सिद्ध हुआ और उससे मैं बीमार पड़ गया।” दूसरे दिन से वह मनुष्य सच्चे हृदय से दीन-दुःखियों की सेवा करने लगा। इसी को उसने ईश्वर भक्ति का सच्चा स्वरूप समझना आरम्भ कर दिया।

अन्धा भी राह दिखा सकता है

बरसात की अँधेरी रात थी। जमीन घँस जाने से एक गहरा गड्ढा पड़ गया था। एक अन्धा हाथ में लालटेन लिये हुए आने वालों को उससे सचेत करता जाता था। एक राहगीर ने व्यंग किया, सूरदास तुम्हें खुद तो दिखाई नहीं देता, दूसरों को राह बताते हो। सूरदास जी बोले, “हाँ भाई, आँखों की ज्योति तो बुझ गई है पर हृदय का प्रकाश नहीं मिटा, उसी से कुछ बनता है दूसरों की भलाई में लगा रहता हूँ।”

उदारता का लाभ लेना ही नहीं देना भी सीखे

एक राजा अपने नौकरों के साथ कुटुम्बियों जैसा व्यवहार करता था। जरूरत पड़ने पर धन भी उधार दे देता था। एक कर्मचारी पर बहुत दिन का एक हजार रुपया बकाया था। सिपाही उसे एक दिन पकड़ लाये और राजा के सामने उपस्थित किया। राजा को उसकी दशा देखकर दया आ गई और उसका कर्ज माफ कर दिया। उस कर्मचारी को कुछ रुपया एक अन्य व्यक्ति से लेना था। वह उसी समय उसके पास गया और रुपयों के लिये जबरदस्ती करने लगा। उस व्यक्ति ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा ने उस कर्मचारी को देखा तो बड़े नाराज हुए और बोले—अपनी तरह दूसरों का भी ध्यान रखना चाहिये।

पर तुमने वैसा नहीं किया, इसलिये राज्य का एक हजार रुपया तुरन्त जमा करो ।

मन्त्री ने ठण्डी सांस छोड़ते हुए कहा हम मनुष्य कितने कृतघ्न हैं कि परमात्मा के इतने उपकारों का कभी स्मरण भी नहीं करते ।

तीर्थों का पुण्य फल

एक तीर्थ में कोई सन्त विश्राम कर रहे थे । पास ही दो तीर्थ-देवताओं में परस्पर वार्ता हो रही थी । एक ने पूछा भगवन् ! क्या तीर्थ में आने वाले सभी लोगों को पुण्य मिलता है ? “नहीं देव, लोगों की श्रद्धा के अनुसार ही उन्हें पुण्य मिलता है । कई तो ऐसे होते हैं जो यहाँ से पाप कमा ले जाते हैं ।” पहले देवता ने पूछा—क्या घर बैठे भी किसी ने तीर्थ करने का पुण्य पाया है ? दूसरे देव ने बताया—एक तो केरल प्रान्त का रामू चमार ही है । उसे तीर्थयात्रा की बड़ी इच्छा थी किसी तरह कुछ पैसे इकट्ठे किये । एक दिन उसे पता चला कि गरीब पड़ोसी का बेटा दस दिन से बीमार है और उसके पास दवा के पैसे तक नहीं हैं । चमार ने सारे पैसे उस गरीब को दे दिये । उसी दिन उसे सब तीर्थों का पुण्य फल मिल गया ।

भगवान् के लिए सर्वश्रेष्ठ उपहार

एक दुःखी व्यक्ति अपनी दुःख कथा भगवान् से एकान्त में कहना चाहता था, इसलिये रात के सुनसान में मन्दिर में पहुँचा । दरवाजे पर देवदूत खड़े थे उन्होंने कहा—“भाई भगवान् के लिये कोई उपहार लाये बिना आप इसमें नहीं जा सकते ।” हरिदास ने रातोंरात तीन चोरियाँ कीं । पहली बार वह राजमुकुट लाया । पर राजधिराज परमात्मा के लिये मुकुट की क्या आवश्यकता है ? तलवार भी उस सर्वशक्तिमान् के लिये व्यर्थ थी । जो स्वयं ज्ञान स्वरूप हो उसके लिये वेदों की क्या आवश्यकता ? तीनों बार देवदूत ने उसे वापस लौटाया । अब वह क्या लेकर जाय यही खड़ा सोच रहा था कि एक दुःखी को अन्धकार में भटक कर

ठोकर लगने से गिरते देखा। उसे जाकर उठाया, उसकी आंखों में आंसू आ गये। इस बार वह खाली हाथ भगवान् के पास दुःखियों की सहायता के लिये चल पड़ा। द्वार पर पहुँचा तो देखा रोकने वाला देवदूत वहाँ नहीं है और मन्दिर का द्वार खुला है।

सहयोग वृत्ति हीन शरीर भी बेकार

एक बार मनुष्य के हाथ पैरों, इन्द्रियों ने निश्चय किया कि हम व्यर्थ ही क्यों परिश्रम करें। सारी कमाई तो पेट खा जाता है। सर्व-सम्पत्ति से हड़ताल कर दी गई। पेट में अन्न पहुँचना बन्द हो गया तो सारे अवयव शिथिल और शक्तिहीन होने लगे। वे इससे व्याकुल होने लगे। इसी बीच मस्तिष्क ने समझाया “भाई पेट को खिलाने वाला पदार्थ रक्त, रस, मांस, मज्जा के रूप में परिणित होकर तुम्हें ही प्राप्त हो जाता है। इसलिये परहित की भावना से शुभ कार्य करने में कंजूसी न करो।” समाज को पुष्ट करने, परहित एवं सामूहिकता की दृष्टि से किए जाने वाले शुभ कृत्यों का परिणाम मूलतः कर्ता को ही परिवर्तित होकर मिल जाता है इसलिये अपना कर्त्तव्य धर्म समझकर जन-सेवा के शुभ कार्यों में मनुष्य को लगे रहना चाहिये।

कर्म त्याग प्राणी की भूल

एक व्यक्ति ने भरी जयानी में सैन्यास ले लिया और वे जीवन भर भजन करते रहे। मरने पर चित्रगुप्त ने उनके कर्मों का लेखा-जोखा देखा तो यही कहा—आपका पुण्य तो उतने ही दिन का है जितने दिन तक परिवार में रहे और अपने परिश्रम से अपना तथा विरानों का सैन्यास भिया और दूसरों की रोटी पर गुजर की तो जो थोड़ा-सा पुण्य था वह उन रोटी देने वालों के पास चला गया। सन्त दुःखी हुए और सोचने लगे यदि श्रमपूर्वक गुजारा करके संसार का उपकार करता रहता तो उस व्यर्थ के सैन्यास से वही अच्छा रहता।

जनसेवी का आदर्श

भिक्षु पूर्ण ने तथागत से जन समाज में धर्मोपदेश करने की आज्ञा मांगी। भगवान् बुद्ध ने शिष्य से कहा—वत्स ! वहाँ के लोग बड़े कठोर हैं, तुम्हें गालियाँ देंगे। शिष्य ने कहा— भगवन् फिर भी अच्छा है कि वे मारेंगे तो नहीं। और यदि मारने ही लगें तो ? तो क्या हुआ भगवन् वे मेरे प्राण तो न ले लेंगे। कदाचित् ऐसा ही हो गया तो ? बुद्ध ने पूछा—भगवन् ! यह शरीर परोपकार में नष्ट हो जाय तो यह जीवन सार्थक ही होगा। पूर्ण का उत्तर सुनकर भगवान् बुद्ध बहुत प्रसन्न हुये, बोले—जाओ वत्स ! धर्म ही तुम्हारी रक्षा करेगा।

उपकारी राजा

बिना किसी प्रतिफल सबके प्रत्युपकार की इच्छा से लोक-कल्याण के लिये अपना जीवन सेवा धर्म में लगा देने वाले सन्त एवम् महापुरुष ही नहीं अनेक राजा भी हुए हैं। राजा जनक स्वयं हल जोतते थे, अपनी खेती करते। खेत जोतते समय ही उन्हें सीता मिली थी। अपना सारा समय राज-काज चलाने में लगाते थे, पर अपना निज का गुजारा खेती-वाड़ी करके ही चलाते थे।

वाजिस्रवा का सर्वमेघ यज्ञ प्रसिद्ध है। उसने सारा राज्य संसार में ज्ञान प्रसार के लिये ऋषियों को दान कर दिया था। महाराज हर्ष प्रतिवर्ष अपनी सारी कमाई भी परमार्थ के लिए दान कर देते थे। प्रजा के धन को प्रजा के कार्य में ही लगाते थे। एकबार उन्हें अपने वस्त्र भी दान करने पड़े तब उन्होंने अङ्ग ढकने के लिए बहिन से माँगकर कपड़े पहने। राजा विक्रम के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे चटाई पर सोते थे, गरीबों की तरह रहते थे और क्षिप्रा से अपने लिये जल भर कर स्वयं लाते थे। महाराज अशोक ने अपना सारा राज-पाट बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये बुद्ध संघ को समर्पित कर दिया था। उन्होंने पीड़ित पशु-पक्षियों की पीड़ा से विचलित होकर ऐसे अस्पताल भी खुल-



वाये थे जिनमें सभी जीव-जन्तुओं की चिकित्सा की जाती थी । रुद्दीन बादशाह टोपी सीकर गुजारा करता और उसका राज्य अपनी रानी के लिये एक नौकर भी न लेना प्रसिद्ध है ।

असाधारणता उदारता

साधारण नीति यह है कि दुष्टों को उनकी दुष्टता के लिये मिले, ताकि वे भविष्य में वैसा दुष्कर्म करने का साहस न करें ही समाज में दूसरों को भी यह भय रहे कि अमुक व्यक्ति को करने पर यह दण्ड मिला था, इसलिये वैसे दण्ड से बचने के लिये अपराध न करें । साधारणतया यही रीति-नीति सनातन काल से हित के पक्ष में चलती आ रही है ।

पर कभी-कभी कुछ ऐसे असाधारण महापुरुष भी होते अपकारी के प्रति उदारता करने का भी उदाहरण प्रस्तुत कर महर्षि वशिष्ठ के सौ पुत्र विश्व मित्र ने मार डाले । फिर भी ने अवसर आने पर जो तपश्चर्या, कष्ट सहिष्णुता आदि गुण विश्व में थे, उनकी प्रशंसा की । एक रात्रि विश्वामित्र वशिष्ठ के मारने कर्म में उनकी कुटिया के पीछे छिपे थे । अरुन्धती ने अपने पति से अपराध की चर्चा छोड़ी तो वशिष्ठ ने कहा—यह दोष तो उनका है पर उ उनमें हैं वे भी कम नहीं । कुटिया के पीछे छिपे हुए विश्वामित्र की उदारता देखकर नतमस्तक हुए और अपनी भूल पर पश्चात् करने लगे ।

अश्वत्थामा ने द्रोपदी के सोते हुए पाँचों पुत्र मार दिये अश्वत्थामा पकड़ा गया और उसे दण्ड देने के लिये द्रोपदी के सामने स्थित किया गया । द्रोपदी ने सोचा मैं जैसे अपने पुत्रों के शोक विलाप कर रही हूँ, वैसे ही गुरुपत्नी गौतमी को भी अश्वत्थामा के पर विलाप करना पड़ेगा । यह सोचकर उसने अश्वत्थामा को मर दिया ।

स्वामी दयानन्द को उनके विरोधी पाखंडियों ने विष देकर मार डाला था। भोजन में विष देने वाले जगन्नाथ को मरने से पूर्व स्वामीजी ने बुलाया और उसे कुछ रुपये किराये के लिये देकर भाग जाने की व्यवस्था करदी ताकि उसकी जान बच सके।

इन उदाहरणों में महानता और उदारता की झाँकी तो है पर न्याय व्यवस्था की नहीं।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहञ्च मानवाः ।

सर्वभूतसमा दान्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन पुरुष कठोरता तथा परद्रोह को सर्वथा त्याग देते हैं और शान्त रहते हैं। तथा प्राणियों के लिए समान होते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः ।

धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो श्रद्धावान् हैं तथा दयावान् हैं और धार्मिक तथा धार्मिक जनों के प्रिय होते हैं तथा जो धर्म तथा अधर्म का ज्ञान रखने वाले हैं वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

दुःखं ददाति योऽन्यस्य ध्रुव दुःखं स विन्दति ।

तस्मान्न कस्याचित् दुःखं दातव्यं दुःखभीरुणा ॥

जो मनुष्य दूसरे को दुःख देता है निश्चय ही वह स्वयं दुःख पाता है, इसलिये दुःख से डरने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह दूसरों को दुःख न दे।

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति राणिणां,

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।



**अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,
निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनम् ॥**

रागी पुरुष को वन में भी दोषों की जागृति हो जाती है
में रहकर पांचों इन्द्रियों का संयम किया जाय तो वह परम विरत
है और उसके लिये घर ही तपोवन होता है ।

**अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥**

जिसका प्रणाम करने का स्वभाव होता है और सर्वदा वृ
सेवा किया करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये
बढ़ते हैं ।

**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥**

उपदेशक कहता है कि तुम धर्म का उपदेश सुनो उसे
चित्त में धारण करो । जो आत्मा के विरुद्ध हैं जिन कामों को ह
लिए बुरा समझते हैं वह कार्य दूसरों के साथ भी नहीं करने च
जो अपने विरुद्ध कर्म है वे दूसरों के लिये भी भले नहीं हैं यह
चाहिए ।

**प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कृवन्ति साधवः ॥**

जिस प्रकार अपने प्राण प्यारे हैं, वैसे ही और प्राणियों
अपने-अपने प्राण प्यारे हैं, इसलिये साधुजन अपने प्राणों के समान
पर दया करते हैं ।

परेषां सुख सौकर्यं सर्वदा चिन्तयेन्नरः ।

स्वार्थ एव सदा लग्नः समाजार्हे भवेन्नच ॥

मनुष्य को सर्वदा दूसरों के सुख एवं सुविधा की ओर पूर्ण विचार करना चाहिए । जो व्यक्ति सदा अपने ही मतलब के कार्य में लगा रहता है और दूसरों का बिल्कुल ध्यान ही नहीं रखता ऐसा मनुष्य समाज में रहने योग्य नहीं होता ।

ऋतं मितं प्रियं सत्यमुच्चरेद्वचनं सदा ।

प्रियत्वेनापि नानृतं ब्रूयाज्जातुचिन्नरः ॥

मनुष्य को सर्वदा मधुर, परिमित, प्रिय और सत्य वचन बोलना चाहिये । प्रिय होते हुए भी मिथ्या वचन कभी नहीं बोलना चाहिए ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

आप सबके विचार समान हों, परस्पर संगति भी समान हो । आप सबका अन्तःकरण भी समान हो, चित्त भी एक-दूसरे के समान हो । मैं आप लोगों को समान विचार वाला बनाता हूँ और एक समान अन्न से तुम सबका पालन-पोषण करता हूँ ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

जो समस्त प्राणियों को अपने में और अपने को समस्त प्राणियों में देखता है, वह उपर्युक्त एकात्म-दर्शन के कारण किसी को घृणा या उपेक्षा का पात्र नहीं समझता । अर्थात् वह सबके हित में ही अपने हित को समझता है ।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

और दूसरे यह अपना है या यह पराया है, यह अल्प बुद्धियों की गिनती है । उदार चरित्र वालों को तो सब पृथ्वी ही कुटुम्ब है ।

प्रिय वाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।

तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥

मधुर और श्रुति प्रिय वचन बोलने से समस्त प्राणी सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होते हैं । अतएव सर्वदा मनुष्य को मधुर एवं प्रिय वचन ही बोलना चाहिए । मधुर वचन बोलने में क्यों दरिद्रता प्रदर्शित की जावे :

कागा काको धन हरे, कोयल काको देत ।

मीठे शब्द सुनाय के, जग अपना कर लेत ॥

दोष पराया देख कर, चले हसंत हसंत ।

अपना याद न आवही, जाका आदि न अन्त ॥

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर ।

वशीकरण यह मन्त्र है, तज दे वचन कठोर ॥

टूटे सुजन मनाइये, जो टूटे सौ बार ।

रहिमन फिर फिर पोहिये, टूटे मुक्ता हार ।

जो पै जैसी होइ तेहि, तैसौ ही मिल जाय ।

मिले गठकटा चोर कों, साहहि साह मिलाय ॥

धन बल जन बल बाहु बल, कहिं काहू के घाट ।

एकहि एका बल बिना, सब बल बारा बाट ॥

प्रिय भाषण पुनि नम्रता, आदर प्रीति विचार ।
 लज्जा क्षमा अयाचना, ये भूषण उरधार ॥
 प्रिय भाषी शीतल हृदय, संयम सरल उदार ।
 जो जन ऐसो जगत में, तासों सबको प्यार ॥
 चोटी से हस्ती तलक, जितने लघु गुरु देह ।
 सब कों सुख दैबौ सदा, परम भक्ति है येह ॥
 आपु-आपु कह सब भलो, अपना कह कोइ-कोइ ।
 तुलसी सब कह जो भलो, सुजन सराहिय सोइ ॥
 काबा कासी त्यागि अब, देखहु दीनन गेह ।
 दरिद नरायन ही जहाँ, दर्शन देत सदेह ॥
 कबीर नबै सो आपको, पर को नबै न कोय ।
 डालि तराजू तोलिये, नबै सो भारी होय ॥
 जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
 संत हस गुन गहहि पय, परिहरि बारि बिकार ॥
 दीनन देखि घिनात जे, नहि दीननु सों काम ।
 कहा जानि ते लेत हैं, दीनबन्धु कौ नाम ॥
 नारायण या जगत में, यह दो वस्तु सार ।
 सबसों मीठौ बोलिबो, करबौ पर उपकार ॥
 पशु पक्षी हू जानही, अपनी अपनी पीर ।
 तब सुजान जानों तुम्हें, जब जानो पर पीर ॥

तुलसी एहि संसार में, भाँति भाँति के लोग ।
सब सो हिा मिल बोलिए, नदी नाव संयोग ॥

उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्र जी अपने नगरवासियों से
कह रहे हैं —

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई ।
एहि आचरन बस्य मै भाई ॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा ।
सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारम्भ अनिकेत अमानी ।
अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्ग ।
तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्ग ।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए ।
सब ते अधिक मनुज मोहि भए ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं ।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत सज्जन की विशेषताओं का वर्णन करते
हुए कहा है—

जग बहु नर सर सरि सम भाई ।
जे निज बाढ़ि बढ़हि जल पाई ॥
सज्जन सुकृत सिंधु सम कोई ।
देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ।

यह प्रसङ्ग सुन्दर काण्ड के अन्तर्गत उस समय का है जब रावण ने विभीषण पर पद-प्रहार करते हुए उसको दुर्वचन कहे—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई ।
मन्द करत जो करइ भलाई ॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा ।
राम भजें हित नाथ तुम्हारा ॥

अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत जब नारदजी श्री रामचन्द्र जी से वन में मिलने आये तब श्री रामचन्द्र जी उन्हें सन्तो के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ ।
जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा ।
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥
अमितबोध अनीह मित भोगी ।
सत्यसार कबि कोबिद जोगी ॥
सावधान मानद मदहीना ।
धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥

दोहा—गुनागार संसार दुख रहित विगत सन्देह ।
तजि मम चरन सरन प्रिय तिन्ह कहूँ देह न गेह ॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं ।
पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥

सम सीतल नहिं त्यागहि नीती ।

सरल सुभाउ सर्वाहि सन प्रीती ॥

उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत अयोध्या लौटने पर श्री रामचन्द्र जी महर्षि वशिष्ठ को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे ।

इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ॥

उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत भरत जी श्री रामचन्द्र जी से सन्तों के गुण पूछ रहे हैं । उसके अनुसार श्री रामचन्द्र जी अपने भ्राता को सन्तों के गुण समझा रहे हैं ।

संतन्ह कै महिमा रघुराई ।

बहु विधि बेद पुरानन्ह गाई ॥

संत असंत भेद बिलगाई ।

प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई ॥

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता ।

अगनित श्रुति पुरान विख्याता ॥

संत असन्तन कै असि करनी ।

जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥

काटइ परसु मलय सुनु भाई ।

निज गुन देइ सुगन्ध बसाई ॥

दोहा—ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखण्ड ।

अनल दाहि पीटत घनाहि परसु वदन यह दण्ड ॥

विषय अलम्पट सील गुनाकर ।
 पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
 सम अभूतरिपु बिमद विरागी ।
 लोभामरष हरष भय त्यागी ॥

यह प्रसङ्ग अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत उस समय का है जब श्रीराम वन जाने के लिये अपनी सहमति प्रकट कर रहे हैं और सभी भाँति अपने आपको बड़भागी समझ रहे हैं—

देस काल अवसर अनुसारी ।
 बोले बचन बिनीत बिचारी ॥
 तात कहउँ कठुँ करउँ ठिठाई ।
 अनुचित छमव जानि लरिकाई ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत जब भरत परिवार, पुरजनों सहित राम से मिलने वन में गये हैं उस समय का यह प्रसङ्ग है—

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं ।
 अग्नि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत भरतजी और उनके साथ आये पुर-वासीजनों को श्री रामचन्द्रजी द्वारा विदा करने का प्रसङ्ग है—

जथा जोगु करि बिनय प्रनामा ।
 बिदा किए सब सानुज रामा ॥
 नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे ॥
 सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत जब भरतजी रामचन्द्रजी से वन में मिलने गये हैं उस समय भरत उनसे कह रहे हैं—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोहो ।
हारेहुँ खेल जितावाहि मोही ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्रजी क्रोधी परशुरामजी से
बिनय बचत बोलते हुए कहते हैं—

छमहु चूक अनजानत केरी ।
चहिअ विप्र उर कृपा घनेरी ॥

अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्रजी नारदजी को सन्तों का
स्वभाव बताते हुए उनके गुणों का बखान कर रहे हैं—

जप तप ब्रत दम संयम नेमा ।
गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा ॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया ।
मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
विरति विवेक बिनय बिग्याना ।
बोध जथारथ बेद पुराना ॥
दम्भ मान मद करहि न काऊ ।
भूलि न देहि कुमारग पाऊ ॥
मुनि सुनु साधुन्हू के गुन जेते ।
कहि न सकहि सारद श्रुति तेते ॥

दोहा—दीप सिखा सम जुबति तन मन अनि होसि पतंग ।

भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सत संग ॥

॥ नवम प्रवचन समाप्त ॥





दसवाँ-प्रवचन



[विराट् ब्रह्म—प्राणी मात्र में एक आत्मा]

तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
इव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमीश्वरम् ॥

परन्तु तू अपने इन (स्थूल) नेत्रों से मुझे देखने
समर्थ नहीं है । इसलिए मैं तुझे दिव्य नेत्र प्रदान
रता हूँ । उनसे तू मेरे ईश्वरीय योग को देख ।

भगवान् के दर्शन की, उसकी प्राप्ति की आकांक्षा सभी को रहती
यही जीवन का लक्ष्य भी है । जो प्रभु को प्राप्त कर लेता है, उनके
सात्कार का लाभ उठा लेता है, उसे और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं
जाता है । अग्नि के समीप पहुँचने वाली वस्तु भी अग्नि-रूप हो जाती
उसी प्रकार ईश्वर के समीप पहुँचने वाला व्यक्ति भी ईश्वर रूप ही हो
ता है । जो गुण ईश्वर में हैं वे ही ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने वाले
ही उत्पन्न हो जाते हैं । अनन्त ऐश्वर्य के अधिपति परमात्मा को
॥ और प्राप्त करना भला कौन न चाहेगा ? यह इच्छा तो रहती है
जोग यह समझ नहीं पाते कि प्रभु का दर्शन कैसे किया जाय ? गीता
परोक्त श्लोक में इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया है ।
र को चमड़े की आँखों से नहीं विवेक की दिव्य दृष्टि से ही देखा जा
ता है । चमड़े की आँखों से जो कुछ देखा जाता है वह परमात्मा के

दर्शन में सहायक हो सकता है, माध्यम बन सकता है पर वास्तविक स्वरूप तो व्यापक विवेक दृष्टि से ही देखा जाना सम्भव हो सकता है ।

अर्जुन की इच्छा भगवान् के दर्शन करने की थी । उन्होंने उसे कराया भी । पर वह किसी आकृति विशेष के रूप में नहीं, वरन् विराट् विश्व के रूप में कराया था । यह समस्त संसार भगवान् का ही स्वरूप है । उसके भीतर एक ही अविच्छिन्न, सर्वव्यापक आत्मा की विद्यमानता अनुभव करना और उसी आधार पर अपना आचरण बना लेना भगवान् के दर्शन का वास्तविक स्वरूप है । कहा गया है कि—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णकृतीनि च ॥

www.awgp.org

www.vicharkrantibooks.org

[अध्याय ११ श्लोक ५]

श्री भगवान् बोले—“हे अर्जुन ! तू मेरे सैकड़ों और हजारों प्रकार के अर्थात् अनेकों प्रकार के नानावर्ण एवं आकृतियों वाले रूपों को देख ।”

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं मध्यं न पुनस्तत्त्वादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

[अध्याय ११ श्लोक १६]

आपको मैं अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्रों वाला और सर्व आर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ । हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं न आपके अन्त को, मध्य को और न आदि को ही देखता हूँ ।

समस्त जड़ चेतन में भगवान् को देखना, प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी को भगवान् का स्वरूप समझना, उसके अन्तरात्मा में प्रभु की ज्योति का दर्शन करना ईश्वर का यही वास्तविक स्वरूप है । जिसे इस स्वरूप की झाँकी हो जगती है वह सबके साथ केवल सज्जनता एवं उदारता का ही



हार कर सकता है । भला कोई ईश्वर के साथ दुर्व्यवहार करने का साहस करेगा ? ऐसा करके कोई अपने हित की क्या कल्पना करेगा ? आत्मा संसार की सर्वोपरि शक्ति है उसकी पूजा, आराधना करके तो भला हो भी सकता है पर उसके साथ दुष्टता बरती जाय तो अप्रसन्न एवं कोप का भाजन ही बनना पड़ेगा । यह जानने वाला कोई भी रे के साथ अनीति बरतने या बुरा सोचने का साहस न कर सकेगा । स्थिति जिसे प्राप्त है वह सज्जन, सदाचारी व्यक्ति ईश्वर का दर्शन ने और उसकी प्रसन्नता, अनुकम्पा प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता जिसे ईश्वर का ज्ञान है उसकी स्थिति कैसी होती हैं, इसका विश्लेषण ने निम्न प्रकार किया है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

[अध्याय ६ श्लोक ३०]

जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसको भूलता हूँ और न वह मुझे भूलता है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

[अध्याय ६ श्लोक ३१]

जो व्यक्ति सब प्राणियों में समाये हुए मुझ भगवान् को एकात्म से भजता है, वह जो कुछ करता है वह मेरे निमित्त ही होता है ।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हि नस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

[अध्याय १३ श्लोक २८]



जो सब में स्थिति परमात्मा को समान भावना से देखता है, वह आत्माघात नहीं करता और परमगति को प्राप्त होता है ।

सबको स्वामी परमात्मा, 'सबमें समाया परमात्मा, विराट् ब्रह्म के रूप में सर्वत्र प्रस्तुत परमात्मा का वास्तविक स्वरूप समझने की चेष्टा जिनने की होगी, उनकी ईश्वर सम्बन्धी भ्रान्तियों का समाधान हो गया होगा । प्रतिमाओं को उन्होंने ईश्वर की प्रतिमा का माध्यम माना होगा, इसलिए किसी एक स्थान की प्रतिमा को उन्होंने विशेष महत्व न दिया होगा वरन् भगवान् की सभी प्रतिमाओं में उन्हें समान रूप से परमेश्वर दृष्टिगोचर हुआ होगा । हर तीर्थ में, हर उपासना मन्दिर में उन्हें समान रूप से प्रभु की आभा प्रकाशित होती दिखाई पड़ रही होगी । मतवादियों की कट्टरता ऐसी स्थिति में एकक्षण के लिए भी टिक नहीं सकती । सभी धर्म सम्प्रदायों के मूल में सदाचारमूलक निष्ठा उन्हें आसानी से दृष्टिगोचर हो सकती है । इसी प्रकार विभिन्न नामों और आकार-प्रकार से वर्णित किये जाने पर भी उन्हें एक ही ईश्वर की महिमा की चर्चा प्रतीत होती है । धार्मिक सहिष्णुता का आदर्श, ईश्वर को विराट् ब्रह्म के रूप में मानने से सहज ही निभ जाता है । साम्प्रदायिक उन्माद के लिये ऐसी दशा में कोई स्थान नहीं रहता । जब सब में सर्वत्र एक ही परमात्मा है तो उसकी व्याख्या विवेचना के अन्तरों को लेकर लड़ा क्यों जाय ?

विराट् ब्रह्म की मान्यता से मनुष्य के अन्तःकरण में इस संसार के प्रति उत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न होती है । फिर इसे भव-बन्धन, मायाजाल, स्वप्न आदि कहने का अवसर ही नहीं रहता । विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों के रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाला भगवान् स्वप्न कैसे कहा जायगा ? उसे माया जञ्जाल या भव-बन्धन कैसे माना जायगा ? और संसार को घृणित या दुःखमूलक समझकर उससे कहीं अन्यत्र भागने की चेष्टा कौन करेगा ? फिर जब सर्वत्र ब्रह्म ही विद्यमान है तो उससे बाहर भागने का स्थान भी कहाँ मिलेगा ? गीता की विराट् ब्रह्म मान्यता को

स्वोकार करने के बाद न स्वप्नवाद के लिए कोई स्थान रहता है, न मायावाद के लिये और न पलायनवाद के लिये। इन भ्रान्तियों से मनुष्य सहज ही छूट जाता है। उसे घर छोड़कर कहीं एकान्त स्थान खोजने की जरूरत नहीं पड़ती। जिसे हर जगह प्रभु की झांकी मिल रही होगी, उसके लिए कण-कण में, पत्ते-पत्ते में ईश्वर की समीपता का आनन्द हर घड़ी उपलब्ध रहेगा। हर स्थान में उसे तीर्थ स्थान जैसी पवित्रता प्रतीत होती रहेगी।

ईश्वर प्रेम का अर्थ उस आदर्श के अनुसार प्राणीमात्र का प्रेम ही रह जाता है। जीते-जागते भगवान् जब विभिन्न आकृतियों में सामने प्रस्तुत दीखे तो तुलसीदास जी के मन में उठने वाली उस भावना के अनुरूप ही अपनी भी भावना उठेगी जिसको व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था—

सिया राम मय सब जग जानी ।

करों प्रणाम जोरि युग पानो ॥

(हर किसी के लिए श्रद्धा और सद्भावना यदि मनमें उमड़े तो निश्चित रूप से सद्व्यवहार ही बन पड़ेगा। किसी के साथ अशिष्टता एवं अनीति बरतने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। भला भगवान् को ठगने, सताने, तिरस्कृत करने का साहस कौन करेगा? यदि भगवान् शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म हाथों में लिये सामने आ खड़े हों तो भला कौन स्वागत-सत्कार न करेगा? उन्हें प्रसन्न करने के साधन कौन न जुटावेगा? यही स्थिति उसकी होती है जो विराट् ब्रह्म के रूप में हर किसी में परमेश्वर को उपस्थित देखता है। उसके लिये नम्रता, सज्जनता, शिष्टता, उदारता बरतने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। यह नीति जिसने भी अपना ली वह दूसरों का हृदय जीत लेगा, अपने लिये दूसरों की अपार श्रद्धा, सद्भावना अर्जित करेगा, सहयोग के बदले में सहयोग का और सम्मान के बदले में सम्मान का लाभ प्राप्त करेगा। उसके व्यक्तिगत



जीवन में इस आदर्शवाद की प्रतिक्रिया इतनी सुन्दर होगी कि वह अपने को स्वर्गीय परिस्थितियों में रहता हुआ अनुभव करेगा। उसके लिए यह संसार ही स्वर्ग होगा।)

जहाँ चारों ओर ईश्वर का ही निवास हो, हर घड़ी अपने प्राण प्रिय परमात्मा का दर्शन होता हो, वहाँ भी यदि स्वर्ग न माना जाय तो और कहाँ माना जायगा? यह मान्यता अपना लेने पर कोई भी व्यक्ति ईश्वर दर्शन के उस आनन्द को निरन्तर प्राप्त करता रह सकता है जिसके लिए भक्तजन तरसते हैं। एकबार ईश्वर का दर्शन हो जाय तो धन्य हो जाय, ऐसी आकांक्षा अगणित लोग रखते हैं और उसे प्रायः अपूर्ण ही लेकर जीवन लीला समाप्त कर लेते हैं। ऐसे लोग यदि भगवान् के कहे अनुसार—गीता प्रतिपादित विराट् ब्रह्म भावना को हृदयङ्गम कर सर्वत्र ईश्वर दर्शन का आनन्द लाभ करें तो उनकी अतृप्त आकांक्षा तत्काल तृप्त हो सकती है।)

(भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी है कि चमड़े की आँखों से ईश्वर दर्शन कर सकना असम्भव है। इस प्रकार आज तक न किसी को दर्शन हुआ है और न आगे होगा। ध्यान की परिपक्वावस्था में कोई अपनी आराध्य प्रतिमा दृष्टिगोचर होने भी लगे तो उसे चित्तवृत्ति निरोध अथवा भाव एकाग्रता का एक छोटा सा चमत्कार मात्र ही माना जायगा। ईश्वर का वस्तुनः कोई रूपा नहीं, वह निराकार, निर्विकार है फिर उसे किसी रूप में देख सकना सम्भव हो भी कैसे सकता है? परमात्मा केवल विवेक रूपी दिव्य चक्षुषों से देखा जाता है और अपने अन्तःकरण में ज्वलन्त-ज्योति के रूप में एवं विराट् विश्व के कण-कण में विद्यमान होने की भावना के साथ ही देखा जा सकता है। जिन्हें ईश्वर दर्शन की लालसा है उन्हें उसके दर्शन का स्वरूप भी समझ ही लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में गीता द्वारा हर प्रकार की भ्रान्तियों का भली प्रकार समाधान हो जाता है।)



जन-साधारण के मन में यदि विराट् ब्रह्म की मान्यता गहराई तक उत्तर जाय तो किसी को किसी से दुर्व्यवहार करने की गुञ्जायश न रहे। एक-दूसरे के साथ सद्व्यवहार की नीति बरतें फलस्वरूप सज्जनता और श्रेष्ठता का वातावरण उत्पन्न होने से इस धरती पर स्वर्गीय सुख-शान्ति ही बिखरी दीखे। कलह-क्लेशों का अन्त हो जाय और विघट-नात्मक प्रवृत्तियाँ रचनात्मक कार्यों में लग पड़े। यह परिवर्तन संसार को कितना सुखी, कितना सुविकसित एवम् सुख-शान्तिमय बना सकता है उसकी आज तो कल्पना भी कर सकना कठिन है। आमतौर से मनुष्य अपनी आधी शक्तियों को शरीर यात्रा में लगाता है और आधी निरर्थक एवम् अनर्थकारी बिचारों एवम् कार्यों में नष्ट करता रहता है। सद्विवारों एवम् सत्कार्यों के लिये उसके पास बहाने मात्र को भी अवसर नहीं रहता। इस प्रकार गुजारे के अतिरिक्त बचा हुआ औसत मनुष्य का समय संसार के लिये सङ्कट उत्पन्न करने का ही निमित्त बनता रहता है। यदि यह स्थिति बदल जाय और लोग अपनी विचारणा एवम् कार्य पद्धति रचनात्मक दिशा में लगाने लगे तो कुछ ही समय में चमत्कार उत्पन्न हो सकता है (फौज, पुलिस, जेल, कचहरी, आदि प्रतिरोधात्मक कार्यों में लगे हुए व्यक्ति यदि शिक्षा, लोक-निर्माण आदि कार्यों में लग जायें, हथियार बनाने में लगा हुआ पैसा यदि गरीबी, बीमारी दूर करने में लग जाय तो इस धरती को स्वर्ग बनने में देर न लगे।)

पर यह हो कैसे? यह होना तभी सम्भव है जब मनुष्य की मूल आस्था में परिवर्तन हो। आस्तिकता की परम्पराओं को मानव-जाति अतीत काल से अपनाये रही है। उसका परिष्कार अपेक्षित है। यह परिष्कार विराट् ब्रह्म की मान्यता के रूप में ही हो सकता है। यदि ईश्वर-भक्ति या ईश्वर-प्राप्ति का यह स्वरूप अपना लिया जाय तो मनुष्य की व्यक्तिगत और समाज की समष्टि-गत सभी समस्याओं का ऐसा मङ्गलमय हल निकल सकता है जिसका परिणाम सब प्रकार सबके लिये शुभ ही शुभ हो।)

==:-*:-==



दिव्य दृष्टि से ईश्वर दर्शन

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को नाना विधि अपने सर्वव्यापी ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति तथा ऐश्वर्यों के बारे में तरह-तरह से समझाया । अपनी विराट् सत्ता को बिस्तार से बताया । अर्जुन को इससे सन्तोष नहीं हुआ और भगवान् से विराट् स्वरूप दिखाने के लिए कहने लगा । इस पर श्रीकृष्ण राजी हो गये और अर्जुन को उन्होंने दिव्य दृष्टि प्रदान की । तत्पश्चात् अपने विराट् स्वरूप को दिखाया जो नानावर्ण, नाना प्रकार के दिव्य सैकड़ों, हजारों रूपों से युक्त था । उस विराट् स्वरूप में समस्त विश्व ब्रह्माण्ड, चराचर जीव मात्र सभी दिखाई दे रहे थे । हजारों सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान था उनका विराट् स्वरूप ।

काकभुसुण्डि का प्रभु दर्शन

बालक रामचन्द्र जी आङ्गन में बैठे हुए दही और चावल खा रहे थे । उधर काकभुण्डि पक्षी के रूप में वहाँ आ पहुँचे और उन्हें उनकी बाल सुलभ चेष्टायें देखकर ईश्वरीय अवतार होने में शंका हुई । भगवान् अपने भक्त के मन की स्थिति जान गये और उन्होंने जब चावल का ग्रास मुँह में रखा तो काकभुसुण्डि जी भी अन्दर प्रवृष्टि हो गये । पेट में जाने पर काकभुसुण्डि ने देखा कि वे विश्वव्यापी विराट् भगवान् का दर्शन कर रहे हैं । वहाँ उन्हें तीनों लोक, चौदह भुवन दिखाई दिये । समस्त विश्व ब्रह्माण्ड लोक चराचर जीवमात्र उस विराट् सत्ता में इसी तरह दिखाई दे रहे थे जैसे मनुष्य के शरीर में बाल । काकभुसुण्डि जी ने चारों ओर घुम-फिरकर देखा लेकिन उन्हें आदि-अन्त भी न मिला और इससे उनका भ्रम दूर हो गया ।

परम शान्ति का उपाय जीवन शोधन

देवगुरु बृहस्पति से कन ने ब्रह्मविद्या जानने की इच्छा प्रकट की । देवगुरु ने अपने पुत्र को प्रथम उपदेश दिया “वत्स जो भौतिक सुखों

का परित्याग कर देता है उसी को परमात्मा मिलते हैं ।” कच ने प्रसन्नतापूर्वक घर बार छोड़ दिया और जंगल में तपश्चर्या करने लगे पर इन्हें शान्ति न मिली । पुत्र की अवस्था जानने के लिए एक दिन वृहस्पति कच के आश्रम में गये । पुत्र ने पिता को प्रणाम कर अपनी स्थिति बताई । देवगुरु पुनः सर्वस्व त्याग का दूसरा उपदेश देकर चले गये । कच कमण्डलु, यज्ञोपवीत आदि का भी परित्याग कर अवधूत वेष में भुखे रहकर तपस्या करने लगे । तीन वर्ष बीत गये पर उनको आत्म-शान्ति न मिली । देवगुरु पुनः पुत्र की इच्छा जानने के लिये आये तो कच ने अपनी व्यग्रता प्रकट की । देवगुरु ने तीसरा उपदेश देते हुए बताया वत्स, आत्म-शान्ति के लिए जीवन-शोधन और आत्म परिष्कार की आवश्यकता है । यही सर्वस्व त्याग का अर्थ है । कच की समझ में आ गया और इस बार उसने आत्म-शुद्धि करके परम शान्ति प्राप्त की ।

धैर्य और श्रद्धा से ईश्वर दर्शन

नारदजी विष्णुलोक को जा रहे थे । एक महात्मा जी ने आग्रह किया, भगवान् ! मेरे लिये भी भगवान् से पूछना कि वे मुझे कब तक दर्शन देंगे ? नारद ने भगवान् से पूछा—उन्होंने बताया अभी उसे चौरासी लाख योनियों के १८ चक्कर लगाने पड़ेंगे । वापस लौटकर नारद ने महात्मा जी को सारी बात बता दी । महात्मा जी अधीर नहीं हुए । दर्शन तो होंगे ही इस आशा से दूने उत्साह से तपश्चर्या करने लगे । भगवान् उसकी निष्ठा देखकर प्रसन्न हुए और दूसरे ही दिन दर्शन दे दिये । नारद को बात मालूम पड़ी तो भगवान् विष्णु से गुस्सा करने लगे । भगवान् बोले नारद जो धैर्य और निष्ठापूर्वक हमारी उपासना करता है उसके तो मैं सदैव समीप ही हूँ । देर से तो उन्हें दर्शन देता हूँ जो अधिक उतावली करते हैं । अध्यात्म को प्रथम कसौटी धैर्य और श्रद्धा ही है । जो इन पर खरा उतरता है उसे भगवान् जल्दी ही मिल जाते हैं ।

चित्रकेतु का शोक शमन

राजा चित्रकेतु के एकमात्र पुत्र को भी दूसरी रानियों ने ईर्ष्यावश विष दे दिया। पुत्र वहीं मर गया। यह देखकर राजा शोक में डूब गया और शिर पीटकर रोने लगा। महर्षि अङ्गिरा तथा देवर्षि नारद शोक सन्तप्त राजमहल में पधारे। महर्षि ने तत्त्वज्ञान देकर राजा को समझना चाहा पर मोह, ममतावश राजा को प्रबोध न हुआ। देवर्षि ने अब मृत जीवात्मा का आवाहन किया और उससे बोले, देखों तुम्हारी मृत्यु से तुम्हारे माता-पिता कितने दुःखी हैं। ज्योति बोली—भगवन् ! कई जन्मों में ये मेरे पिता रहे, कई में मैं इनका। यह सम्बन्ध तो शरीर के हैं। आत्मा तो ईश्वर का अंश है तब मैं इनके पराधीन कैसे रह सकता हूँ ? यह सुनते ही चित्रकेतु का दुःख जाता रहा।

सद्गति का अधिकारी तीर्थयात्री

एकबार पार्वती जी ने शङ्कर भगवान् से पूछा— गङ्गा में स्नान करने वाले प्राणी पापों से छूट जाते हैं ? शङ्कर जी बोले जो भावना-पूर्वक स्नान करता है उसी को सद्गति मिलती है, अधिकांश तो मेला देखने जाते हैं। पार्वती जी ने गंगा स्नान का बड़ा महत्त्व सुना था। सन्तोष नहीं हुआ। शङ्कर जी ने कहा—अच्छा चलो तुम्हें प्रत्यक्ष दिखाते हैं। कोढ़ी का रूप बनाकर वे रास्ते बैठ गये, साथ में पार्वती जी सुन्दर स्त्री के रूप में उनके साथ हो गईं। गंगा स्नान का पर्व था। अनेकों लोगों ने कोढ़ी के साथ सुन्दर स्त्री को देखा तो किसी ने कोढ़ी को गाली दी, किसी ने उस स्त्री से कहा—तुम हमारे साथ चलो। जो भी देखता वह उस स्त्री की ही ओर आकर्षित होता। अन्त में एक ऐसा व्यक्ति भी मिला जिसने उस स्त्री के पतिव्रत की सराहना की और कोढ़ी को गंगा स्नान कराने में मदद दी। शङ्करजी प्रकट हुए और बोले—प्रिये ! यही श्रद्धालु सद्गति के सच्चे अधिकारी हैं।

रैक्य का जनश्रुति को उपदेश

महाराज जनुश्रुति ने भल्लाक्ष हंस की बातें सुनी तो उन्हें बड़ा



आश्चर्य हुआ। वे समझते थे अभी तक सदाचार और सत्कर्मों में उनका बराबरी करने वाला दूसरा नहीं है, पर अब गाड़ीवान् रैक्य के बड़ा होने की बात से उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। दूसरे दिन उन्होंने उस गाड़ीवान् की खोज कराई और बहुत-सा धन, अश्व और आभूषण लेकर मुनि रैक्य के पास गये और बोले—भगवान् ! आपकी कीर्ति सुनकर यहां आये हैं हमें ब्रह्म-विद्या का उपदेश दीजिये। रैक्य मुनि ने उत्तर दिया—राजन् ! ब्रह्म-विद्या सीखना है तो अपना अभिमान दूर करो और श्रद्धा-विश्वास तथा नम्रता धारण करो। यह सुनकर राजा अपने ऊपर बड़ा लज्जित हुआ। अन्त में इन्हीं सद्गुणों के द्वारा उनकी ब्रह्म-विद्या प्राप्ति की इच्छा पूर्ण हुई।

परीक्षित का मृत्यु भय निवारण

राजा परीक्षित मौत के भय से क्षुब्ध हो रहे थे। शुकदेव ने यह कथा प्रारम्भ की एक दिन "एक राजा बन में भटककर एक बहेलिये की झोपड़ी में पहुँचा और रात बिताने की याचना करने लगा। बहेलिया बोला—भाई ! इस झोपड़ी में जगह-जगह माँस, हड्डियाँ, खाल आदि रखे हैं। इनकी खुशबू से जो भी यहाँ आता है दूसरे दिन जाने का नाम ही नहीं लेता। इससे झगड़ा करना पड़ता है। इसलिये आपको यहाँ नहीं ठहरा सकते। पर राजा ने वैसा न करने का वचन दिया। बहेलिये अन्दर आने की स्वीकृति दे दी। रात भर में ही राजा के मन में वहाँ के संस्कार भर गये। प्रातःकाल न जाने का हठ करने लगा।" शुकदेव जी जहाँ रुके और परीक्षित से पूछा—क्या उस राजा का हठ करना उचित था ? राजा बोले, बिल्कुल नहीं। शुकदेव बोले, फिर आप ही हाड़-माँस और खाल की कोठरी इस देह के छोड़ने में क्यों क्षुब्ध हो रहे हैं ? राजा सारी बात समझ गये और प्रसन्नतापूर्वक अपना शरीर त्याग दिया।

पत्थर में मेंडकी

छत्रपति शिवाजी सामन्तगढ़ किले का निर्माण करा रहे थे।



हजारों मजदूर काम में लगे थे, यह देखकर शिवाजी को अहङ्कार आ गया कि वे इतने व्यक्तियों का पेट पालन करा रहे हैं। उसी समय समर्थ-गुरु रामदास भी वहां जा पहुँचे। अन्तर्यामी गुरु को शिष्य की भावनायें समझते देर न लगी। उन्होंने शिवाजी के पास ही पड़े भारी शिलाखण्ड को तुड़वाने के लिये कहा। कई मजदूर लग गये। पत्थर के दो टुकड़े हो गये। बीच में एक ओखली जैसी पोला स्थान था जिसमें पानी भरा था, एक मेंढकी भी थी उसमें। यह देखकर समर्थगुरु ने व्यङ्ग्य से कहा— “वाह शिवाजी ! पत्थर के बीच में मेंढकी के लिये आपने यह कितना अच्छा प्रबन्ध किया है।” शिवाजी अपने अहङ्कार की व्यर्थता को समझ गये और यह मान लिया कि संसार का भरण-पोषण करने वाला परमात्मा ही है।

नारद का अहङ्कार भङ्ग

नारदजी को अभिमान हो गया कि वे भगवान् को सबसे अधिक प्रेम करते हैं। भगवान् ने इस बात को जाना। नारद को साथ लेकर एक दिन वे भ्रमण को निकले। रास्ते में एक तपस्वी मिला जो सूखे-सूखे पत्ते खाता था और तलवार चलाने का निरन्तर अभ्यास करता था। नर-वेषधारी भगवान् ने इन दोनों बातों का कारण पूछा। तपस्वी ने बताया महाराज ! सूखे पत्ते मैं इसलिये खाता हूँ कि फल फूल परमात्मा को दूसरे पुत्रों को खाने के लिये बचे रहें और तलवार का अभ्यास मैं अपने शत्रुओं को मारने के लिये करता हूँ। भगवान् ने पूछा—तुम्हारे वे शत्रु कौन-कौन हैं ? पहला अर्जुन जिसने भगवान् से रथ हँकवाकर उन्हें कष्ट दिया, दूसरी द्रोपदी जिसने मेरे भगवान् को तंगे पैरों दौड़ाया और तीसरा नारद जो अकारण ही अनेकों प्रश्न पूछ-पूछ कर भगवान् का सिर खाता रहता है।

भगवान् ने व्यंग्य करते हुए नारद से कहा—स्वाधलम्बन का महत्त्व समझने वाला, ईश्वर से केवल सदबुद्धि माँगने वाला और संसार

के अन्य प्राणियों की सुख-सुविधा रखने वाला ही मेरा सच्चा मित्र हो सकता है ।

आस्तिक को एकान्त कहाँ ?

सन्त वादिराज अपने अत्यन्त शिष्य कनक दास पर बहुत अधिक स्नेह रखते थे । यह बात अन्य शिष्यों को भली नहीं लगती थी । कनक दास की सच्ची ईश्वर-निष्ठा पर उन्हें संदेह था । एक दिन स्वामी जी ने शिष्यों को एक-एक केला देकर कहा लोगों के सामने फल खाना अच्छा नहीं होता तुम लोग एकान्त में फल खा आओ । थोड़ी देर में सभी शिष्य फल खाकर आ गये अकेले कनकदास के हाथ में केला बाकी था । सन्त ने केला न खाने का काणर पूछा । शिष्य बोला—“भगवन् आपने एकान्त में फल खाने को कहा था पर एकान्त तो कहीं भी नहीं है । भगवान् तो सर्वत्र व्याप्त हैं फिर एकान्त कहाँ हो सकता है ?” इस उत्तर से दूसरे शिष्य बड़े लज्जित हुए ।

तुलसीदास का परिवर्तन

तुलसीदास की पत्नी अपने पिता के घर गई हुई थी । उन्हें पत्नी से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा हुई । अंधेरी रात में वर्षा ही रही थी । उसकी परवा न किये बिना चल दिये । रास्ते में उमड़ती नदी पड़ी । एक बहते हुए मुर्दे के सहारे उन्होंने नदी पार की । सुसराल पहुँचे तो वहाँ लोगों को जगाना उन्होंने उचित न समझा और पिछवाड़े से परनाले पर लटके साँप को रस्सी समझकर उसे पकड़ा और ऊपर चढ़ गये और पत्नी के पास पहुँचे ।

पत्नी रत्नावली ने कहा—यदि आपकी इतनी ही प्रीति भगवान् से हो जाय तो उन्हें प्राप्तकर आप जीवन को धन्य बना सकते हैं । तुलसीदास को यह वचन चुभ गये और उनसे सच्चे भक्त—अजर-अमर लोकसेवक बनकर दिखा दिया ।

बिनोबा की माँ का पक्षपात ?

बिनोबा के पिताजी अपने घर में हमेशा एक लड़का बाहर से



लाकर रख लेते और उसे घर के सदस्य की तरह रखा जाता। उसके खाने-पीने, अध्ययन आदि की व्यवस्था घर की तरह की जाती। यह सब विनोबा जी की माता ही करतीं। विनोबा भी उस समय बालक थे। घर में ठण्डी रोटियाँ बचतीं तो उनमें से पहले माताजी खातीं फिर बच जातीं तो उन्हें विनोबा को दिया जाता, लेकिन उक्त बालक को सदैव गर्म, ताजा भोजन दिया जाता। एक बार विनोबा जी ने हँसी में ही पूछ लिया “मां तू मुझे ठण्डी और उसे गर्म रोटी क्यों देती है? यह भेद-भाव अभी तुम्हारा गया नहीं?” इस पर मां बोली, “बेटा मुझे वह बालक भगवत्स्वरूप दीखता है और तू पुत्रस्वरूप। तुझ में मेरी आसक्ति है ही। जब तू भी भगवत् स्वरूप लगने लगेगा तो यह भेद-भाव छोड़ दूँगी।”

कावा कहाँ नहीं?

नानक एक बार मक्का गये। वहाँ पर वे सोये हुए थे तो मुसलमानों ने आकर कहा—तू कैसा बेअदब है जो कावा की तरफ पैर करके सो रहा है? नानक ने नम्रतापूर्वक कहा—मुझे हर दिशा में खुदा का घर दीखता है। जिधर उसका घर न हो वह दिशा मुझे बता दीजिये ताकि मैं उधर ही पैर कर लूँ। इस पर वे धमकाने वाले मुसलमान निरुत्तर हो गये।

“वह देख रहा है...”

एक बार एक चोर अपने लड़के के साथ चोरी करने गया। लड़का स्वभाव से आस्तिक और भगवान् का भक्त था। चोर ने लड़के को रखवाली के लिये नियुक्त कर दिया और कहा कि कोई देखे तो मुझे कह देना और स्वयं चोरी करने में लग गया। थोड़ी देर बाद बालक ने पिता के पास जाकर कहा “पिताजी वह देख रहा है, वह देख रहा है।” चोर ने चारों ओर निगाह दौड़ाई किन्तु कुछ भी दिखाई नहीं दिया। उसने लड़के से धमकाते हुए कहा “कौन देख रहा है?” बालक



बोला 'पिताजी ! सर्वव्यापी भगवान् देख रहे हैं इसीलिए मैंने आपके कहे अनुसार सूचना दी थी ।' बालक की बात सुनकर चोर के मन में ज्ञान का उदय हुआ और उसी दिन से चोरी करना छोड़ दिया ।

नाम ही नहीं काम भी

एक राजा ने दो मालियों को एक-एक बगीचा सौंप दिया । उनकी रखवाली, सुरक्षा का भार उन पर डालकर राजा निश्चिन्त हो गया । उनमें से एक राजा को भगवान् की तरह मानकर पूजा किया करता था उसने बगीचे में एक कुटिया बनाकर राजा की मूर्ति की पूजा करना शुरू कर दिया, वह दिन-रात इसी में लीन रहता । दूसरा माली अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को समझकर दिन-रात बगीचे की सम्हाल में लगा रहता । बहुत समय बाद राजा आया और उसने देखा कि एक बगीचा सूखा पड़ा है और दूसरा हरा भरा । राजा ने दूसरे माली को राज्य के सभी बगीचों और उत्पादन केन्द्रों का संचालक बना दिया और पहले वाले माली को देश निकाला दे दिया । ईश्वर को नाम स्मरण से नहीं उसके कामों के प्रति लगनशील रहकर ही प्रसन्न किया जा सकता है ।

पाप का पत्थर फेंकों

एक चोर एक बार एक महात्मा के पास जाता और उससे ईश्वर दर्शन कराने की प्रार्थना करता । एक दिन महात्मा ने चोर को अपने साथ लिया और एक पहाड़ी की चोटी पर पहुँचकर ईश्वर दर्शन कराने की बात कही । दोनों चल दिये । पहाड़ी के नीचे पहुँचकर महात्मा ने चोर के सिर पर चार पत्थर रख दिये और उन्हें लेकर चढ़ने के लिये कहा । कुछ दूर तक चलकर वह हाँफने लगा और बोझा उतारने की प्रार्थना की । इस पर महात्मा ने एक पत्थर उतरवा दिया । कुछ दूर चलने पर उसे फिर कठिनाई पड़ी । महात्मा ने एक और पत्थर उतरवा दिया । थोड़ी दूर बाद एक पत्थर और उतारने को विविश होना पड़ा



और अन्त में चौथा पत्थर उतार दिया गया तब कहीं जा कर चोर का महात्मा के साथ पहाड़ की चोटी पर चढ़ सकना सम्भव हुआ ।

चोटी पर पहुँचकर महात्मा ने कहा—जब तक पापों का बोझ सिर पर रखा हुआ है तब तक पहाड़ की चोटी पर चढ़ने की तरह ईश्वर दर्शन भी कठिन है । जैसे पत्थर फेंकने पर तुम आसानी से चोटी तक चढ़ सके उसी तरह पापों का बोझ हटा देने पर, आचरण को शुद्ध, पवित्र बना लेने पर, ईश्वर को प्राप्त कर सकने के अधिकारी बनोगे ।

आत्मा का प्रभुत्व राज्य से अधिक

एक दिन एक राजा और एक महात्मा की भेंट हुई । महात्मा जी आत्मा का प्रभुत्व बड़ा मानते थे, लेकिन राजा राज्य को सर्वोपरि मानता था । इस पर विवाद चल पड़ा । साधु ने पूछा यदि तुम रेगिस्तान में प्यास से मर रहे हो और कोई एक लोटे के बदले आधा राज्य माँग रहा हो तो दोगे या नहीं ? राजा बोला देन ही पड़ेगा । यदि प्राण निकल रहे हों और अच्छा करने के लिये कोई वैद्य आधा राज्य माँगे तो दोगे या नहीं ? राजा बोले—जरूर दे दूँगा । महात्मा जी हँस पड़े, बोले जिस जीवन की रक्षा के लिए एक लोटे पानी और थोड़ी-सी दवा के लिये अपना राज्य दे सकते हो वह आत्मा से बड़ा तो है नहीं । फिर आत्मा की रक्षा के लिये—आत्म-कल्याण के लिये बड़े से बड़ा त्याग भी स्वल्प माना जाना चाहिये ।

स्वार्थ की दीवाल तोड़ें—असीम बनें

महात्मा जी की बात पर एक व्यक्ति को सन्देह था कि जब ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान है तथा जीव अल्पज्ञ और कम सामर्थ्य वाला है तो फिर दोनों में एकता कैसे हो सकती है ? संत ने एक लोटा गंगा-जल मँगाकर पूछा, इसमें नाव चल सकती है ? जिज्ञासु बोला नहीं । तब वह जल महात्मा जी ने गंगा में डाल दिया और पूछा, अब इसमें नाव चल सकती है ? जिज्ञासु ने उत्तर दिया हाँ ! महात्मा जी ने समझाया

इसी तरह मनुष्य भी लोटे के जल के समान जब तक संकीर्णताओं से घिरा रहता है तब तक वह अल्प शक्ति वाला रहता है, पर जैसे ही वह संकीर्णता का परित्याग कर देता है उसे ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है।

ईश्वर के लिए छटपटाहट

एक महात्मा से किसी ने पूछा, भगवान् किस प्रकार की मनोदशा होने पर मिल जाते हैं ? इसके उत्तर में महात्मा उस व्यक्ति को नदी स्नान के लिए ले गए। गहरे पानी में वह व्यक्ति भी महात्मा के साथ घँसता चला गया। अवसर पाकर महात्मा ने उस व्यक्ति की गर्दन पकड़ कर पानी में दबोच दिया। वह बाहर निकलने के लिए छटपटाने लगा। एक-दो गोता लग जाने पर महात्मा ने उसे बाहर निकाल लिया। पूछने पर उसने कहा—डूबते समय मुझे प्राण संकट लग रहा था और संसार की हर वस्तु को चिन्ता छोड़कर केवल मात्र प्राण बचाने के प्रयत्न में था। साधु ने कहा जिस क्षण भी ऐसी ही तीव्र लगन मनुष्य को आत्म-कल्याण की लग जाती है तब उसे भगवत् प्राप्ति में देर नहीं लगती।

पाप से बचने का भय

एक राजा अपने मन्त्री के साथ महात्मा से मिलने के लिये चल पड़े। मन्त्री ने बताया जो रास्ते में कीड़े-मकोड़े से बचाकर नहीं चलता महात्मा जी उसे श्राप दे देते हैं। राजा इस भय से रास्ते भर कीड़े-मकोड़े बचाता हुआ आश्रम में पहुँचा। महात्मा जी ने पूछा—“राजन् ! आपने रास्ते में क्या-क्या देखा ?” राजा ने उत्तर दिया—“मैं तो कीड़े-मकोड़ों को ही बचाता हुआ आया हूँ और कुछ देखने का अवसर ही नहीं मिला।” महात्मा बोले—इसी तरह जो मनुष्य ईश्वर के दण्ड से बचते हुए चलते हैं वे सामान्य कार्य करते हुए भी परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

राजा के पास बैठने (उपासना) का लाभ

एक ब्राह्मण ने किसी सेठ के यहां अपने पाँच सौ रुपये जमा करा

दिये ताकि कन्या के ब्याह के समय ब्याज समेत वे रुपये उसे मिल जावें । बहुत वर्ष बीत गये । आवश्यकता पड़ने पर वह ब्राह्मण अपने रुपये वापिस लेने पहुँचा । पर सेठ की नीयत में बदी आ गई । उसने उस ब्राह्मण को पहचानने तक से इन्कार कर दिया और कहा—हमारे यहाँ आपका कोई पैसा नहीं है ।

ब्राह्मण राजा के पास पहुँचा । उसने पुकार की । प्रमाण के प्रभाव से राजा कुछ कर तो नहीं सकते थे पर उन्हें एक युक्ति सूझी और दूसरे दिन अपनी शोभा यात्रा नगर में निकालने की घोषणा कर दी । ब्राह्मण से कह दिया कि—आप उस सेठ ने मकान में कुछ पहले ही खड़े रहना । शोभा-यात्रा निकली । सभी नागरिक अभिवादन करने खड़े थे । सेठ के मकान के पास से जब सवारी निकली तो राजा ने सवारी रोक कर नियत स्थान पर खड़े ब्राह्मण को अपने पास बिठा लिया और उसे गुरुदेव कहकर सम्बोधन किया । कुछ आगे चलकर उस ब्राह्मण को सवारी से उतार दिया ।

सेठ का हृदय काँपने लगा । राजा का गुरुदेव यह ब्राह्मण है । मेरी शिकायत कर देगा तो न जाने क्या दण्ड मिले ? सेठ ने उस ब्राह्मण की तलाश में सेवक दौड़ाये । कुछ दूर आगे जाने पर ही वे मिल गये । सेठ ने उसका बहुत सम्मान किया और कहा—बहीखातों में आपका धन जमा था, हमें स्मरण नहीं रहा था, उसके लिये क्षमा करें । सेठ ने ब्याज समेत सारा रुपया और उसकी कन्या के विवाह के लिए कुछ विशेष दान देकर विदा किया ।

ब्राह्मण मन-ही-मन सोचने लगा—राजा के पास थोड़ी देर बैठने का यह परिणाम होता है तो राजाओं के राजा ईश्वर के पास बैठने, उसकी उपासना करने का तो न जाने कितना बड़ा प्रतिफल होगा ?

सच्चे-भूँठे प्रेमी की परीक्षा

एक राजा बड़े सरल स्वभाव का था । अनेक लोग झूठी प्रशंसा



करके खूब धन ठगा करते थे । कुछ दिन में भीड़ बढ़ी कि राजा स्वयं हैरान रहने लगा । अतः उसने राजपुरोहित से उसका उपाय पूछा । विमर्श के बाद एक युक्ति निकाली । राजा बीमारी का बहाना बनाकर लेट गये और यह खबर फैला दी कि अच्छे होने के लिये पाँच व्यक्तियों का खून चाहिए । सारे शुभाचिन्तक गायब हो गये । केवल राजा और पुरोहित ही वहाँ शेष रहे । पुरोहित राजा से बोले—महाराज इसी तरह भगवान् की उपासना सच्चे हृदय से करने वाले विरले ही होते हैं अधिकांश तो स्वार्थ और कामना पूर्ति के लिये झूठी उपासना ही करते हैं । भगवान् अपने भक्त एवं प्रेमियों की परीक्षा करते रहते हैं और उनकी आन्तरिक महानता को परख लेते हैं तो अपना अनुग्रह प्रदान करते हैं ।

मैं और मेरे का त्याग

क्युने ने अपने पिता से शिकायत की, आप सभी नदी-नालों को आश्रय देते हो पर मुझसे दुराव क्यों रखा है ? समुद्र ने उत्तर दिया—वत्स ! असीम और अनन्त का प्यार पाने के लिये “मैं” और “मेरा” का क्षुद्र दृष्टिकोण त्यागना पड़ता है । अपने आस-पास स्वार्थ की दीवार बनाये बैठे हो, इसीसे मुझे नहीं पा सके । अपनी सीमाओं को त्यागकर उन्मुक्त बनो तभी मुझे पा सकोगे ।

×

×

×

**एको देवः सर्वभूतेषु मूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥**

वह एक परमदेव ही सब प्राणियों के अन्दर व्यापक है, सबके अन्तरात्मा में छिपा हुआ है । वह सब कार्यों का अध्यक्ष है, सब प्राणियों के अन्दर बसने वाला है, वह सबका साक्षी है । सबको जानने वाला है वह निर्गुण अकेला ही सर्वत्र विद्यमान है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
 नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
 तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
 तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति ॥

उस ईश्वर की शक्ति के बिना सूर्य, चन्द्र तथा तारे कोई भी प्रकाशित नहीं हो सकते । यह विद्युत् तथा अग्नि भी उस ईश्वर की सहायता के बिना प्रकाशित नहीं हो सकती । उसकी परम ज्योति से ही यह सब प्रकाशित होते हैं । वही सबका प्रकाशक है ।

भूः पादौ यस्य खञ्चोदरमसुरनिलश्चन्द्रसूर्यो-
 च नेत्रे कर्णवाशा शिरो द्यौर्मुखमपि दहनो
 यस्य वास्तव्यमब्धिः । अन्तस्थं यस्य विश्वं
 सुरनरखगगोभोगिगन्धर्वदैत्यैश्चित्रं रंरम्यते
 तन्त्रिभुवनवपुषं विष्णुमीशं नमामि ॥

जिस परमेश्वर के पृथ्वी ही पैर है, और आकाश जिसका उदर है, वायु जिसका प्राण है, चन्द्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, दिशायें जिसके कान हैं, द्युलोक जिसका सिर है, अग्नि जिसका मुख है, यह समुद्र ही जिसका निवास-स्थान गृह है, यह समस्त संसार जिसके अन्दर स्थिर है । मनुष्य, देवता, गौ, पशु, पक्षी, गन्धर्व दैत्यों से जिसका यह विश्वरूपी शरीर चित्रित होकर शोभा दे रहा है, उस सबके स्वामी विष्णु को मैं नमस्कार करता हूं ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
 तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

सर्वत्र ओत-प्रोत वह महान् देवाधिदेव सूर्य के समान अपने तेजो-मय रूप को सर्वत्र फैलाये हुए भी हमारे अज्ञानान्धकार के कारण हमसे छिपा हुआ है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु अथवा क्षुद्र भावना को दूर कर सकता है। अमृतत्व अथवा विशाल जीवन की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात् ॥

जो बुरे आचरण से नहीं हटा है, जो अशान्त है, जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह प्रज्ञान से—केवल बुद्धिवाद से—आत्म-तत्त्व को नहीं पा सकता।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वरट् ।

स एव विष्णुः स प्राणः स कालोग्निः स चन्द्रमाः ॥

वह परब्रह्म परमेश्वर ही ब्रह्म है, वही शिव है, वही इन्द्र तथा वही अविनाशी प्रकाशक है। वह परमेश्वर ही विष्णु और प्राण है। वही काल है, वही अग्नि है तथा वही चन्द्रमा है। वह परमात्मा ही विभिन्न रूपों में सर्वत्र विद्यमान है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

यह आत्मा (अथवा परमात्मा) सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्म-चर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन यति (= संयत जीवन व्यतीत करने वाले) देखते हैं। वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इसी शरीर



के अन्दर वर्तमान है। अर्थात्, मनुष्य अपने अन्दर ही अपने विशुद्ध स्वरूप अथवा परमात्मा के दर्शन कर सकता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो,
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां—
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

उस परमात्मा को बलहीन जन नहीं प्राप्त कर सकता, न कोई प्रमादी हो उसे जान सकना है। उस ईश्वर को व्यर्थ के तप से तथा किसी लिंग से भी नहीं जाना जा सकता है। जो श्रेष्ठ विद्वान् पाप-पुण्य धोकर श्रेष्ठ उपायों से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही उस ब्रह्म को प्राप्त होता है।

कस्तूरी तन में वसै, मृग ढूँढ़े बन माहि ।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाहि ॥
कबीर माला ना जपों, जिह्वा कहो न राम ।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पावो विश्राम ॥
कठिन राम कौ काम है, सहज राम कौ नाम ।
करत दाम कौ काम जे, परत राम सो काम ॥
ज्यों तिल माही तेल है, ज्यों चकमक में आग ।
तेरा साँई तुझ में, जागि सके तो जाग ॥
ज्यों नैनो में पूतली, त्यों मालिक घर मांय ।
मूर्ख लोग ना जानिये, बाहर ढूँढ़न जांय ।

घट बढ़ कहीं न जानिये, ब्रह्म रहा भरपूर ।
 जिन जाना तिन निकट है, दूर कहैं ते दूर ॥
 घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक ही सब ठौर ।
 दाढ़ बकता बहुत हैं, मथि काढ़ें ते और ॥
 औगुन तजिये आप ते ज्यों केबुल ते साँप ।
 तबहि मिलै भगवत-गति, हृदय होय निष्पाप ॥
 प्रभुता को सब मरत हैं, प्रभु को मरै न कोय ।
 जो कोई प्रभु को मरै, तो प्रभुता चेरी होय ॥
 बासर सुख ना रैन सुख, ना सुल सुपने माँह ।
 कबीर बिहृटा राम से, ना सुख धूप न छाँह ॥
 साँई सो साँचा रहो, साँई साँच सुहाय ।
 भावै लम्बेकेश रख, भावै सूँढ़ मुड़ाय ॥
 तेरा साँई तुझी में, पुहुपन में है बास ।
 कस्तूरी का हिरण ज्यों, फिर फिर दूँढ़त घास ॥
 मुक्ति सत्य के साथ है, या तन करौ मत कोय ।
 खेती करौ अनाज की, सहज घास भुस होय ॥
 जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह ।
 तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहि कि गेह ॥

दोहा-दिखरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखंड ।
 रोम रोम प्रतिलागेहु, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥

इसी क्रम में भगवान् ने विराट् रूप दर्शन जो कौशल्या को कराया, दर्शनीय है—

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन ।
 बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥
 काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ ।
 सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥
 देखी माया सब विधि गाढ़ी ।
 अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥
 देखा जीब नचावहिं जाही ।
 देखी भगति जो छोरइ ताही ॥
 तन पुलकित मुख वचन न आवा ।
 नयन मूँद चरनन सिर नावा ॥

इसी प्रकार लङ्काकाण्ड के अन्तर्गत भगवान् राम को ईश्वर मानकर मन्दोदरी अपने पति लंकेश रावण की समझाती हुई प्रभु के विराट रूप का वर्णन करती है। यथा—

दोहा-विश्वरूप रघुवंस मणि, करहु वचन विश्वास ।
 लोक कल्पना वेद कर, अंग अंग प्रतिजासु ॥

पद पाताल सीस अज धामा ।
 अपरलोक अंग अंग विश्रामा ॥
 भृकुटि विलास भयंकर काला ।
 नयन दिवाकर कच घन माला ॥

जासु घ्रान अस्विनी कुमारा ।
 निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
 श्रवन दिसा दस बेद बखानी ।
 मारुत स्वांस निगम निज बानी ॥
 अधर लोभ जमदसन कराला ।
 माया हास बाहु दिग पाला ॥
 आनन अनल अम्बुपति जीहा ।
 उत्पत पालन प्रलय समीहा ॥
 रोम राजि अष्टादस भारा ।
 अस्थि सैल सरिता नस जारा ॥
 उदर उदधि अधगो जातना ।
 जगमय प्रभु की बहु कल्पना ॥

दोहा-अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान ।

मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान ॥

इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में काकभुसुण्डि जी गरुड़ के प्रति कहते हैं कि हे गरुड़ सुनो मैंने स्वयं ज्ञान प्राप्त करके प्रभु की अलौकिक लीलाओं का दर्शन किया है। यह सब मात्र प्रभु की कृपा से ही संभव है। यथा—

उदर मांभ सुन अंडजराया ।

देखहुँ बहु ब्रह्मांड निकाया ॥

अति विचित्र तँह लोक अनेका ।

रचना अधिक एक ते एका ॥

कोटिन्ह चतुरानम गौरीसा ।
 अगनित उडगन रवि रजनीसा ॥
 अगनित लोकपाल जमकाला ।
 अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥
 सागर सरि सर विपिन अपारा ।
 नाना भाँति सृष्टि विस्तारा ॥
 सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर ।
 चारि प्रकार जीव सचराचर ॥

दोहा-जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाय ।
 सो सब अद्भुत देखेऊँ, बरनि कवन विधि जाय ॥
 एक एक ब्रह्मांड मह, रहेऊँ बरस सत एक ।
 एहि विधि देखत फिरउँ मैं, अंड कटाह अनेक ॥
 भगवान् शङ्कर जी अपना अनुभव सुनाते हुए कहते हैं कि—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।
 प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥
 देस कालदिसि विदिसिहुँ माँही ।
 कहहु सो कहां जहाँ प्रभु नाहीं ॥
 अग जगमय सब रहित विरागी ।
 प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत भगवान् श्रीराम जब बाल्मीक आश्रम पर पहुँचे तब आवभगत के पश्चात् महर्षि श्रीराम को निवास स्थान बताते हुए कहते हैं—

सुनहु राम अब कहउँ निकेता ।
 जहां बसहु सिय लखन समेता ॥
 तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं ।
 प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥
 सीस नवाहि सुर गुरु द्विज देखी ।
 प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी ॥
 काम कोह मद मान न मोहा ।
 लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
 जिन्ह कें कपट दम्भ नहीं माया ।
 तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया ॥
 सब के प्रिय सब के हितकारी ।
 दुख सुख सरिस प्रशंसा गारी ॥
 कहहि सत्य प्रिय बचन बिचारी ।
 जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
 जननी सम जानहि परवारी ।
 धनु पराब बिष तें बिष भारी ॥
 जे हरषहि पर संपत्ति देखी ।
 दुखित होहि पर बिपत्ति बिसेषी ॥
 अवगुन तजि सबके गुन गहहीं ।
 बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥



नीत निपुन जिन्ह कइ जग लीका ।
 घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ॥
 गुन तुम्हार समुझई निज दोषा ।
 जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
 सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई ।
 तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई ॥
 सरगु नरकु अपबरगु समाना ।
 जहँ तहँ देख धरें धनु बाना ॥
 करम बचन मन राउर चेरा ।
 राम करहु तेहि कें उर डेरा ॥

दोहा—जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु ।

बसुहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत तुलसीदास जी भगवान्, राम को प्रणाम करते हुए कहते हैं ।

दोहा—जड़ चेतन जग जीव जन, सकल राममय जानि ।

वन्दहु सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानी ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत तुलसीदास जी श्रीराम-सीता को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी ।

जाति जीव जल थल नभ बासी ॥

सिया राममय सब जग जानी ।

करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

बालकाण्ड के अन्तर्गत भगवान् शङ्कर ने भगवती पार्वती को निराकार ईश्वर की महत्ता बताते हुए कहा था कि—

बिनुपद चलिअ सुनिअ बिनु काना ।
 कर बिन कर्म करिअ विधि नाना ॥
 आनन रहित सकल रस भोगी ।
 बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी ॥
 तन बिनु परस नयन बिनु देखा ॥
 ग्रहइ घ्रान बिनु वास असेषा ॥
 अस सब भाँति अलौकिक करनी ।
 महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

॥ दसवाँ प्रवचन समाप्त ॥

— × × —



ग्यारहवाँ-प्रवचन



(मानसिक संतुलन, संयमी जीवन)

यस्मान्नोद्विजतेलोको लोकान्नोद्विजते चयः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

(अध्याय १२ श्लोक १५)

जिससे संसार उद्विग्न नहीं होता और जो संसार को उद्विग्न नहीं करता जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित है वह मुझे (भगवान् को) प्रिय है ।

गीता के इस श्लोक में उस व्यक्ति की प्रशंसा की है जो अपना मानसिक सन्तुलन हर स्थिति में बनाये रहता है । छोटे-छोटे प्रिय-अप्रिय कारणों को लेकर उद्विग्न नहीं होने लगता । कारण स्पष्ट है—विचारों की उचित श्रद्धा और कार्यों की उचित गतिविधि बनाये रखना केवल उसी के लिए सम्भव हो सकता है जिसे स्थिर मन और शान्त चित्त से विचारने तथा करने का अभ्यास हो । यदि यह स्थिति न रहे, मनुष्य पग-पग पर आवेशग्रस्त होता रहे, कभी अति उत्साह, कभी अति निराशा के झूले में झूलता रहे तो उस ज्वार-भाटा आने वाले समुद्र में सामान्य जीवन की किस्ती का चल सकना ही न हो सके । अपनी गतिविधियों को रचनात्मक दिशा में लगाये रहने पर ही कुछ महत्त्वपूर्ण सफलताएँ

सम्भव हो पाती है और इसकी सम्भावना तभी रहती है जब मानसिक स्थिरता ठीक तरह बनी रहे। अव्यवस्थित चित्त, पग-पग पर आवेश में आने वाले व्यक्तियों का धैर्य एवं साहस स्थिर नहीं रह पाता और उनका सब कुछ अधूरा एवं अस्त-व्यस्त ही पड़ा रहता है।

◀ मानसिक स्थिरता अध्यात्मवाद का प्रमुख चिन्ह है। प्रत्येक विचारशील को शान्त, गम्भीर और सन्तुलित मन होना चाहिए। भली और बुरी, प्रिय और अप्रिय परिस्थितियों के ताने-वाने से मनुष्य का जीवन बनाया गया है। धूप छांह की तरह, रात-दिन की तरह, हानि एवं लाभ की, असफलता एवं सफलता की परिस्थितियाँ आती रहती हैं। इस ससार में आज तक कोई व्यक्ति ऐसा पैदा नहीं हुआ जिसे केवल सफलताएँ ही मिली हैं, कभी असफलता न हुई हो। सच तो यह है कि हर सफलता के पीछे ढेरों बार असफलताओं का इतिहास छिपा रहता है बच्चा खड़ा होकर चलना सीखने में सफलता प्राप्त करने से पहले कितनी ही बार गिरता और चोट खाता है। सफलता याद रखी जाती है और असफलता भुला दी जाती है यह ठीक है और उचित भी। यह सोचना तो असंगत ही होगा कि असफलताओं से टकराये बिना हर काम में सीधी सफलता ही मिलती जाय। जो ऐसी कल्पना किये बैठे रहते हैं उन्हें पग-पग पर निराश एवं उद्विग्न होना पड़ता है।

इसी प्रकार हर परिस्थिति अपने अनुकूल ही रहे यह भी सम्भव नहीं। यह संसार केवल हमारे ही लिए नहीं बना है, इसमें केवल हमारे ही स्वार्थ सन्निहित नहीं हैं, वरन् उनके भी स्वार्थों का ध्यान रखा गया है जिनका लाभ हमारी हानि होने पर ही सम्भव है। एक का घाटा दूसरे के लिए लाभ का कारण बनता है। एक की मृत्यु जहाँ एक परिवार के लिए शोक का कारण बनती है, वहाँ दूसरे परिवार में उसी आधार पर बच्चे के जन्म की खुशी मनाये जाने का अवसर मिलता है। इस विश्व की रचना ही इस प्रकार हुई है कि ज्वार-भाटे की तरह विभिन्न

व्यक्तियों के जीवन में विभिन्न प्रकार के कटु-मधुर अवसर आते रहें। जो इस स्वाभाविक स्थिति को अस्वाभाविक मानकर अपने मन को असंतुलित कर बैठते हैं, शोक, सन्ताप और नैराश्य उद्वेग में पड़ते रहते हैं वे न तो मानव-जीवन का स्वरूप समझते हैं और न इस संसार की बनावट का। विचारशील व्यक्ति अपनी मनोभूमि पहले से ही ऐसी बनाये रखते हैं ताकि अप्रिय अवसर आने पर मानसिक सन्तुलन बिगड़ने न पावे। वे जानते हैं कि उद्वेग की जूड़ी, तिजारी मस्तिष्क पर चढ़ बैठेगी तो वह बेचारा बिलकुल निकम्मा हो जायगा, फि उसके बूते कोई बात सोचना तक सम्भव न होगा। कठिनाई का हल निकालने के योग्य सूझ-बूझ तो उसमें रहेगी ही कहां से ?

(असंतुलित एवं उद्विग्न मन एक प्रकार के पागलपन से ग्रसित ही माना जा सकता है। पागल कितने ही तरह के होते हैं। जो पागलखानों में बन्द रहते, कपड़े फाड़ते, ईंट मारते या गाली बकते हैं उन्हें ही पागल नहीं कहते, वरन् हलकी किस्म के वे भी पागल ही हैं जो जरा-जरा-सी बात पर तिनक जाते हैं, रूठे-मटके बैठे रहते हैं, निराशा व्यक्त करते एवम् खिन्न, चिन्तित बने रहते हैं। यह एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसके कारण प्रस्तुत समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझती चली जाती हैं। उद्वेग से ग्रस्त 'अधपगला' आदमी उलटी ही बात सोच सकता है, उसके मन में विघटनात्मक, विनाशात्मक विचार ही आ सकते हैं। मरने-मारने की, भागने-छोड़ने या तोड़ने-फोड़ने की बात ही वह सोच सकता है। यह सोचना जितना कार्य रूप में परिणित होने लम्बता है उतनी ही बड़ी विभीषिकाएँ भी सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।

यह आवश्यक नहीं कि अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्ति सज्जन या विचारशील ही हों। उनमें से कई ओछे और अविवेकी भी हो सकते हैं। उनसे उन्हीं के ढंग का व्यवहार करना पड़ता है। अपने कुटुम्ब के भी कई सदस्य ऐसे हो सकते हैं जो अपनी दृष्टि में कई दोष-

बुगुंणों से ग्रसित हों। उनका सिर तो नहीं काटा जा सकता और न कोई ऐसा ही जादू किसी के पास है कि वे अपनी स्वतन्त्र प्रकृति को तुतं फुतं छोड़कर अपने आज्ञानुवर्ती बन जायें। इस दिशा में प्रयत्न जारी रखे जा सकते हैं, पर कितनी सफलता कितने समय में मिलेगी, इसका कुछ भी निश्चय नहीं, ऐसी दशा में यहीं उचित हो सकता है कि मध्यम मार्गी नीति अपनाकर परिस्थितियों को सुधारने तक धैर्य रखा जाय और जो कुछ है उसी का किसी प्रकार ताल-मेल बिठाते हुए आगे बढ़ा जाय। बुद्धिमानी का तरीका यही है। पर जो आवेशग्रस्त होते हैं वे तत्काल इधर या तत्काल उधर की बात सोचते हैं और उनकी इस उतावली का परिणाम परिस्थितियों में और भी अधिक बिगाड़ उत्पन्न कर देता है।

छोटे-छोटे कारणों को लेकर आत्म-हत्या, कत्ल, फौजदारी, खून खराबी, दलबन्दी एवम् भयङ्कर विनाशात्मक प्रवृत्तियाँ पनपते देखी गई हैं। जिनके कारण अनेकों व्यक्तियों को बहुत समय तक दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। भयानक काण्डों के मूल में भी अधिकतर इतने छोटे कारण होते हैं कि सन्तुलित मन होने पर उन्हें हँसी-हँसी से चुटकी बजाते थोड़ी-सी उदारता का सहारा लेकर हल किया जा सकता है। पर आवेश की प्रतिक्रिया आवेश, क्रोध की प्रतिक्रिया क्रोध, दुर्व्यवहार की प्रतिक्रिया दुर्व्यवहार इस क्रम से बात बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ी कि उस फैली हुई बेल को समेटना ही कठिन हो गया। इस संसार में अधिकतर झगड़े इसी प्रकार बढ़ते हैं। भयङ्कर उत्पातों के मूल में वास्तविक कारण उतने गहरे नहीं होते जितना कि स्वभावों में रहने वाली उत्तेजना एवं अशिष्टता। यही दुष्प्रवृत्ति संसार में अगणित विभीषिकाएँ उत्पन्न करने का कारण बनी हुई है।

एक दार्शनिक का कहना है कि—“संसार में आधे उत्पात अनैतिकता के कारण और आधे मानसिक उद्विग्नता के कारण होते हैं। यदि आवेश एवं उद्वेग जैसी मानसिक दुर्बलता पर विजय प्राप्त करली

जाय तो संसार में फैले हुए संकटों में से आवे तो तुरन्त ही समाप्त हो सकते हैं ।” अनैतिकता की तरह उद्विग्नता भी मानव-जीवन के लिए समान रूप से हानिकारक है । दुःख-दारिद्र्य की, शोक-संताप की अभिवृद्धि में दोनों ही एक समान रूप से उत्तरदायी हैं । इसलिए जहाँ हमें पापों को दूर करने और धर्म को बढ़ाने के लिये प्रयत्न करना है, वहाँ आवेश-ग्रस्त होने के पागलपन को भी ध्यान में रखना है । यदि पाप मिट भी जाय और असहिष्णुता एवं तुनक मिजाजी इसी प्रकार बने रहें तो संसार की नारकीय स्थिति इसी प्रकार बनी रहेगी । रुचि भिन्नता एवं विचार शैली की छोटी-मोटी भिन्नताओं को लेकर लोग परस्पर सिर फोड़ते रहेंगे । धर्म जैसे पवित्र विषय को माध्यम बनाकर जब लोग खून-खच्चर करने में नहीं चूकते तो फिर अन्य स्वभाव—भिन्नता, विचार—भिन्नता जैसे व्यक्तिगत कारण तो ऐसे हो ही सकते हैं जिनको लेकर स्वयं दुःख सागर में डूबे रहने एवं दूसरों से भिड़ पड़ने का अवसर मिल जाय ।

गीता ने इस अवांछनीय स्थिति को मानव-जीवन में से बहिष्कृत करने का निर्देश किया है और सुझाया है कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को मानसिक सन्तुलन बनाये रहने का अम्यासी होना चाहिये । प्रिय परिस्थितियों में न तो अहंकार एवम् हर्षातिरेक में डूब जाना चाहिए और थोड़ी-सी प्रतिकूलता एवं अड़चन प्रस्तुत देखकर हड़बड़ा जाना चाहिये । दोनों ही स्थितियों में अपनी गम्भीरता बनाये रहनी चाहिये और संसार के स्वरूप एवं प्रवाह को समझते हुए धैर्यपूर्वक सब कुछ सुनना, समझना चाहिए । इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बिगड़ी परिस्थितियों को सुधारा न जाय और हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहा जाय । ऐसी अकम्प्यता अपनाने से तो और भी अधिक नाश होगा । जहाँ आवेश बुरा है वहाँ आलस्य भी कम बुरा नहीं । एक को गरम आग तो दूसरी को ठण्डी बर्फ कहा जा सकता है, दोनों ही अति समान रूप से घातक सिद्ध हो सकती हैं । अस्तु विपन्नताओं को हटाने लिए उद्योग तो पूरी शक्ति

एवं सामर्थ्य के साथ करना ही चाहिये पर साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये कि कठिनाइयों का सही हल ढूँढ़ने लायक सूझ-बूझ केवल उसी मस्तिष्क में उत्पन्न होती है जो उद्धिग्न एवम् असन्तुलित न हो रहा हो। यह हमारे ही हित में है कि प्रत्येक परिस्थिति में अपना सन्तुलन सुदृढ़ बनाये रहें। गीता ने इस स्थिति को आध्यात्मिक प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक माना है। देखिए—

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥**

[अध्याय २ श्लोक ५६]

दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग रहित मन वाला हो और सुखों की प्राप्ति में दूर हुई स्पृहा वाला हो। राग, भय, क्रोध आदि से रहित मुनि स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥**

[अध्याय ६ श्लोक १७]

युक्त आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में युक्त चेष्टा वाले का, व युक्त सोने व जागने वाले का योग दुःखनाशक अर्थात् सिद्ध होता है।

**अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ॥
स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ् मयं तप उच्यते ॥**

(अध्याय १७ श्लोक १५)

उद्वेग न करना, प्रिय सत्य और हितकर वचन बोलना, तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है।

**मनःप्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसांशुद्विरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥**

(अध्याय १७ श्लोक १६)

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्मनिग्रह, भावनाओं की शुद्धि इतना यह मानस तप कहलाता है ।

**अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्माभूयाय कल्पते ॥**

(अध्याय १६ श्लोक १८)

अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रह को त्यागकर, ममता रहित और शान्त अन्तःकरण हुआ सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकी-भाव होने के लिये योग्य होता है ।

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥**

(अध्याय २ श्लोक ३८)

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार को समान मान करके फिर तू युद्ध के लिये युक्त हो । इससे तू पाप को प्राप्त नहीं होगा ।

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥**

(अध्याय २ श्लोक ४७)

कर्म करने में ही तेरा अधिकार है । फलों में नहीं । कर्म-फल के लिये तेरा कर्म न हो और अकर्म में तेरा संग न हो अर्थात् कर्म न करने में प्रीति न रख ।

गीता में कहा गया—‘अनासक्ति योग’ स्थिति प्रज्ञा अवस्था योग—स्थिति कर्मयोग आदि की जो व्याख्या की गई है, उसे सरल शब्दों में कहा जाय तो “मन को संतुलित रखते हुए कर्त्तव्य कर्मों में संलग्न रहना” इतनी विवेचना से भी काम चल सकता है। आत्मिक उन्नति इसी स्थिति पर निर्भर है। लौकिक प्रगति के लिये आवश्यक सूझ-बूझ एवं क्षमता इसी आधार पर उपलब्ध होती है और आत्मिक शान्ति से लेकर जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति तक सारे प्रयोजनों की पूर्ति उसी आधार-शिला पर सम्भव होती है। सुविकसित जीवन के लिये एवं अनिवार्य आवश्यकता के रूप में सन्तुलन की अनुद्वेग स्थिति को प्राप्त करने के लिये हमें शक्ति भर प्रयत्न करना ही चाहिए।

इस सन्तुलित स्थिति को संयमी जीवन भी कह सकते हैं। आहार-विहार का संयम रखना उसी के लिये संभव है जो वासनाओं के आवेश पर नियंत्रण कर लेगा। तृष्णाओं को वही रोक सकेगा जिसे लालच का नशा वेकार नहीं बनाये रहता। इन्द्रिय भोगों एवं मानसिक लिप्साओं के आवेशों एवं उफानों को जो रोक सकता है वह संयमी व्यक्ति अपनी प्रगति का पथ निरन्तर प्रशस्त ही करता रहेगा।

—X X—

सन्तुलन और धैर्य की महत्ता

भगवान् विष्णु का बड़प्पन

एका बार महर्षि भृगु ने त्रिवेदों की परीक्षा लेने की सोची कि इनमें कौन बड़ा है। वे सर्व प्रथम पितामह ब्रह्मा की सभा में गये और उन्हें अभिवादन किये बिना ही सबसे आगे आ खड़े हुए। इस पर ब्रह्माजी बड़े क्रुद्ध हुए और भृगु को दण्ड देने के लिये तत्पर हो गये। भृगु वहाँ से चल दिये और महेश के पास पहुँचे। शंकर पार्वती जी के साथ बैठे हुए विनोद कर रहे थे। महर्षि भृगु ने उन्हें देखकर व्यंगपूर्ण हँसी-हँस



दी । इस पर शंकर जी को बड़ा क्रोध आया और वे त्रिशूल लेकर भृगु के पीछे दौड़े । महर्षि अपनी जान बचाकर आगे भागे और शङ्कर पार्वती के समझाने पर शान्त हो गये । तत्पश्चात् भृगुजी विष्णु के पास पहुँचे । भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर सो रहे थे । लक्ष्मी उनके पैर दबा रहीं थीं । भृगुजी ने एकदम जाते ही उनकी छाती में लात मार दी । विष्णु भगवान् शान्त भाव से उठे और क्षमा माँगते हुए बोले — “ऋषिवर आपके इन कोमल पैरों में चोट तो नहीं लगी ।” ऐसा कहकर उनके पैरों को दबाने लगे । लक्ष्मी हवा करने लगीं । भृगुजी का मन्तव्य पूरा हुआ । जो सब परिस्थितियों में सन्तुलित रहे वही बड़ा है ।

अम्बरीष का धैर्य

महर्षि दुर्वासा अकारण ही अम्बरीष पर क्रोधित हो गये और क्रोधावेष में उसे बुग-भला कहने लगे । लेकिन अपनी कोई भूल न जानकर अम्बरीष शान्त रहे । उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई । राजा की चुप्पी से दुर्वासा और भी क्रोधित हुए । उनके शरीर से भयङ्कर आकर वाला एक राक्षस प्रकट हुआ और अम्बरीष के चारों ओर डरावने हाव-भाव करता हुआ कूदने लगा । अम्बरीष इस पर भी परेशान न हुए और शान्त मन होकर भगवान् का स्मरण करते रहे । इसी बीच भगवान् ने दुर्वासा के इस अकारण क्रोध और एक सज्जन को तंग करने पर दुःखी होकर अपना सुदर्शन चक्र छोड़ा जिससे दुर्वासा अम्बरीष से क्षमा माँगने पर ही बचे ।

साधना की सफलता का मार्ग

वैराग्य होने के पश्चात् गौतम बुद्ध ने कई वर्ष तक जंगल में रह कर बड़ा कठोर तप किया । वहाँ उनका आहार लगभग बन्द ही हो गया था । इससे शरीर सूखकर अस्थि-चर्म मात्र रह गया । लेकिन इतने पर भी आत्म-ज्ञान नहीं हुआ और इससे उनका चित्त भ्रमित रहता था ।

एक दिन गौतम के तपस्या स्थान के पास होकर नगर की कुछ गाणिकायें निकलीं। वे मार्ग में एक गीत गाती हुई चली जा रही थीं, जिसका पूरा आशय यह था कि—“वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ो, अन्यथा उनसे मधुर स्वर नहीं निकलेगा। पर उनको इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायें।”

इस गीत की ध्वनि गौतम के कान में पड़ी तो अकस्मात् उनको अपनी भूल का पता लग गया। सुफल प्राप्त करने के लिये अत्यधिक कष्टपूर्ण तपस्या उचित नहीं, वरन् संयमित आहार, विश्राम, निद्रा आदि का जीवनयापन करने से ही साधना पूरी हो सकनी सम्भव है। चाहे सांसारिक लक्ष्य हो और चाहे आध्यात्मिक, सफलता के लिये मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उचित है।

दुर्वचनों की वापिसी की विधि

भारद्वाज नामक किसी ब्राह्मण ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया और वह भिक्षु बनकर बुद्धदेव के पास रहने लगा। समाचार पाकर ब्राह्मण का एक सम्बन्धी वहाँ पहुँचा और बुद्धदेव को गालियाँ देने लगा। तथागत कुछ न बोले केवल गालियाँ सुनते रहे। अन्त में थककर वह ब्राह्मण भी चुप हो रहा। अब बुद्ध ने पूछ—“ब्राह्मण ! आपके घर यदि अतिथि आए तो आप उसका सत्कार करोगे ?” क्यों नहीं, वह ब्राह्मण बोला। ‘यदि वह मेहमान आपकी वस्तुएँ स्वीकार न करे तो आप उसका क्या करेंगे ?’ अपने पास रख लूँगा और क्या करूँगा—इस बार वह झल्लाकर बोला। “तो यदि मैं आपकी गालियाँ स्वीकार नहीं करता तो अब यह किसके पास जायेंगी ?” ब्राह्मण वड़ा लज्जित हुआ अपने किए पर पश्चाताप करने लगा।

शङ्का से पूर्व छान-बीन करें

महर्षि घोर के पुत्र कण्व और प्रगाथ दोनों में बड़ा प्रेम था। प्रगाथ अपने बड़े भाई कण्व को पिता के समान मानते थे। कण्व की

पत्नी भी प्रगाथ को पुत्र के समान मानती थीं। एक दिन कण्व समिधायें लेने गये थे। उनकी धर्मपत्नी यज्ञ वेदी के सामने बैठी थीं, पास ही प्रगाथ सामगान कर रहा था। आलस्यवश प्रगाथ को निद्रा आ गई और वह ऋषि पत्नी के अङ्ग में सिर रखकर सो गया। कण्व वन से लौटे तो उनके हृदय में भाई के लिए शङ्का उत्पन्न हुई। उन्होंने जोर से प्रगाथ की पीठ पर पाद प्रहार किया और कटुशब्द कहने लगे। प्रगाथ ने भाई के चरण पकड़ लिये, ऋषि पत्नी ने भी कण्व की आशङ्का दूर की। प्रगाथ की सरलवृत्ति देखकर कण्व को अपने किए पर बड़ा पश्चाताप हुआ।

जीवन मुक्ति का आधार समता

महाराज विम्बसार जीवन मुक्त बनना चाहते थे, इसके लिए वे महावीर के चरणों में सारा राज्य तक अर्पित करने को तैयार थे। महावीर ने उन्हें पुष्पदन्त नामक श्रावक के पास जाकर एक सामायिक-फल प्राप्त करने का आदेश दिया। महाराज उधर ही चल पड़े। श्रावक ने बताया “महाराज ! सामायिक का नाम तो समता है अतः इसे दिया तो नहीं जा सकता, आप भेद-भाव का परित्याग कर सभी को आत्मवत् देखिए इसीसे जीवन-मुक्ति मिलेगी।” महाराज ने समझ लिया और उसी का अभ्यास करने लगे।

वेषभूषा में सादगी ही ‘लोक शिक्षक’ का गौरव

श्रीराम शास्त्री जितने न्यायप्रिय थे उतना ही उनका जीवन सादा था। उनकी वेषभूषा में कोई बनावट या तड़क-भड़क नहीं होती थी। किसी पर्व में उनकी पत्नी रनिवास में पधारी। राज-पुरोहित की स्त्री को साधारण वेषभूषा में देखर उन्हें पेशवाओं का अपमान जान पड़ा। उन्होंने अनेक वस्त्र आभूषणों से गुरुमाता को अलंकृत किया और पालकी में बिठाकर घर भेजा। कहार द्वार पर आये, दरवाजा खुला और एकदम बन्द हो गया। कहार बोले— शास्त्री जी यह आपकी ही

धर्मपत्नी हैं। “अरे भाई मेरी ब्राह्मणी ऐसी नहीं हो सकती। वह तो बड़े सादे वेष में रहती है।” आखिर उनकी पत्नी ने जब सारे आभूषण वापस कर दिये तभी घर का दरवाजा खुला।

श्रीराम शास्त्री ने अपनी पत्नी से कहा—भद्रे ! हम लोक-शिक्षण करने वाले ब्रह्मा हैं हमें उस तरह की वेषभूषा ही धारण करनी चाहिए जिसका अनुकरण करने वाले भी सज्जन जैसे दृष्टिगोचर हों। श्रेष्ठ व्यक्तियों की वेषभूषा सादगी की ही होनी चाहिए।

ज्योतिषी के असन्तुलित वचनों का दुष्परिणाम

एक व्यक्ति एक ज्योतिषी के पास गया और अपने भविष्य के बारे में पूछने लगा। ज्योतिषी ने कहा—“तुम्हारे सभी सम्बन्धी तुम्हारे देखते-देखते मर जायेंगे और तुम अकेले रह जाओगे।” यह सुनकर वह मनुष्य बड़ा गुस्से में हो गया। ज्योतिषी जी पिटाई से बच गये लेकिन दक्षिणा जाती रही।

वही व्यक्ति फिर दूसरे ज्योतिषी के पास गया। उस ज्योतिषी ने बताया—“भाई आपकी उम्र बहुत है। आप बहुत समय तक जीयेंगे, आप अपने नाती-पोतों को भी पढ़ा-लिखा सकेंगे और उनकी शादी करेंगे।” वह मनुष्य बड़ा खुश हुआ और पर्याप्त दक्षिणा भी ज्योतिषी को दी।

बात वही थी, सिर्फ उसे कहने से घटनाक्रम में परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ बन गईं। कटुवचन सदा सबके लिए हानिकारक ही होता है।

धनुषयज्ञ में श्री रामचन्द्र की नम्रना

श्री रामचन्द्र जी के द्वारा सीता स्वयंवर में शिव-धनुष तोड़ने पर परशुराम बड़े रुष्ट हुए और वे अपने क्रोधानेश में ही सभा मंच पर आ धमके। परशुराम तरह-तरह से धनुष तोड़ने वाले की भर्त्सना करने लगे। लक्ष्मण से नहीं रहा गया और वे परशुराम को कटुवचन सुनाने



लगे । इस पर धैर्यवान् राम ने बीच-बचाव किया और परशुराम जी से नम्रतापूर्वक क्षमायाचना करते हुए अपने आपको धनुष तोड़ने का दोषी बताया । राम के हृदय पर परशुराम जी के कटु शब्दों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा । आखिर श्री रामचन्द्रजी की नम्रता, सहनशीलता और शान्ति के सम्मुख परशुराम जी का गर्व दूर हो गया ।

साहस की शोभा शील से

महर्षि बोधायन एक दिन शिष्यों समेत वन-विहार के लिये गये । दोपहर तक सभी थक गये और एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे । नींद आ गई सब सो गये । दिन ढले महर्षि की आँख खुलीं उन्होंने सभी शिष्यों को जायगा । सभी उठ बैठे पर गार्ग्य ज्यों का त्यों पड़ा रहा । महर्षि पास गये तो देखा गार्ग्य आँखें खोले चुपचाप पड़ा है । उसने उठने को कहा । गार्ग्य ने लेटे हुये ही उत्तर दिया, भगवान् मेरे पैरों में एक सर्प सो रहा है । मेरे उठने से उसकी नींद टूट जायगी । दो घन्टे के बाद उसकी नींद टूट जायगी और वह चला जायगा । सभी लोग रुक गये । सर्प की नींद टूटी तो वह पास की झाड़ी में चला गया । महर्षि गार्ग्य के शील की प्रशंसा करने लगे तो अन्य शिष्य मैत्रायण ने पूछा—“देव ! यह तो साहस का कार्य था आप इसे शील क्यों कहते हैं ?” महर्षि बोले, वत्स शील से साहस की शोभा होती है । दुःशील से दुःस्साहस ही होता है । इसलिये शील ही सदैव सराहनीय होता है ।

कौशल नरेश की उदारता और सहृदयता

मिथिला के राजा ने कौशल पर चढ़ाई करदी और उसे जीत लिया । कौशलराज युद्ध-भूमि से भाग गये । उन्हें जीवित पकड़कर लाने के लिये मिथिलाधिपति ने एक हजार स्वर्ण मुद्राओं के इनाम की घोषणा की । कौशल नरेश उस समय एक ऐसे गाँव में थे जहाँ के सारे नवयुवक उनके साथ युद्ध में जान गँवा चुके थे । गाँव की असहाय अवस्था से उनका जी बड़ा दुःखी हुआ । उन्होंने गाँव के वृद्धजनों को साथ लिया

और मिथिला नरेश के दरबार में जा पहुँचे। उन्होंने अपना परिचय देकर उन ग्रामीणों को इनाम देने के लिये कहा। सभी आश्चर्यचकित थे। मिथिला पति उनकी उदारता के आगे बड़े लज्जित हुए और उनका राज्य वापस कर दिया।

स्वास्थ्य सन्तुलन का आधार

राजा शीलभद्र स्वस्थ होकर आश्रम से विदा होने लगे तो उन्होंने वहाँ के लोगों के स्वास्थ्य संरक्षण और उपचार आदि के लिये कुशल वैद्य की व्यवस्था कर दी। काफी समय बीत गया पर वैद्य के पास कोई भी उपचार के लिये नहीं आया। वे अपने निष्क्रिय जीवन से बड़े धुब्धुबे हुए, इसकी सूचना कुलपति को दी। आचार्य ने बताया, 'वैद्यराज! यहाँ सभी कड़ी मेहनत करते हैं, स्वल्प और सात्त्विक आहार करते हैं इस-लिये किसी के बीमार होने का प्रश्न ही नहीं उठता।' वैद्यराज ने कहा, सब ही जहाँ यह नियम पालन किये जाते हों वहाँ वैद्यों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह कहकर वैद्यराज आश्रम से वापस चले गये।

सुदृढ़ स्वास्थ्य से सुदृढ़ राष्ट्र

राष्ट्रीय महासभा के प्रारम्भिक काल के प्रमुख कर्णधार सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बहुत ही सुलझे हुए विचारों के नेता थे। जब राष्ट्र-निर्माण की ठोस योजना पर कभी गम्भीर विमर्श होता, तो वे सदैव यह कहा करते थे—“सुदृढ़ स्वास्थ्य ही वह नींव है, जिसके ऊपर सुदृढ़ राष्ट्र खड़ा हो सकता है।” उनका विश्वास था कि सबसे अधिक रचनात्मक कार्य यह है कि देशवासियों को उत्तम स्वास्थ्य बनाने की शिक्षा दी जाय। कसरत, व्यायाम लाठी, तलवार आदि के द्वारा शारीरिक शक्तियों को विकसित किया जाय। क्योंकि उत्तम शरीर में उत्तम मस्तिष्क का और उत्तम मस्तिष्क में उत्तम आत्मा का निवास हो सकता है। इन्हीं उत्तमताओं के आधार पर किसी महान् राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। शारीरिक उन्नति के बिना कोई भी उन्नति नहीं हो सकती।

वृद्धावस्था में सर बनर्जी के सारे बाल पक गये थे, दाढ़ी सूत की तरह सफेद हो गई थी, फिर भी वे हजार काम छोड़कर कसरत नित्य करते। अपने व्यक्तित्व से जिस किसी को भी उनसे प्रभावित किया, उस पर वह छाप अवश्य डाली कि शरीर को बलवान् बनाने के लिये स्वास्थ्य के नियमों का बड़ी सावधानी से पालन करे।

महर्षि कर्वे की नम्रता और सौजन्यता

नारी पुनरुत्थान के पुनीत कर्म में लगे हुए महर्षि कर्वे ने अपने रिश्ते की एक बाल-विधवा से शादी करली। उन दिनों रूढ़िवाद की जड़ों पर किसी ने चोट भी नहीं की थी और वे हिली भी नहीं थीं।

पंचों ने कर्वे की जाति बहिष्कृत कर दिया। गांव के देव मन्दिर में जब उत्सव चल रहा था तो वे भी जा पहुँचे। बहिष्कृत को सामूहिक आयोजन में सम्मिलित क्यों होने दिया जाय? आवाजें उठीं और उन्हें वहाँ से हटा दिया गया। कर्वे ने कहा यह तो भगवान् का द्वार है, जब दूर से चान्डाल भी दर्शन कर लेता है तो मुझे क्यों रोकते हो?

इतनी नम्रता का भी तिरस्कार ही हुआ। महर्षि के तर्क उन पाषाण हृदयों को प्रभावित न कर सके। उन्हें प्रवेश न मिला। पर धैर्य और लगन का चमत्कार तो देखिये। उन्हीं महर्षि कर्वे के प्रयत्न से महाराष्ट्र आज नारी प्रगति में अग्रणी है। उनकी संस्था में सहस्रों नारियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज-सुधार के आन्दोलन को गतिवान बनाने में संलग्न हैं।

बिना क्लोरोफार्म सुँघाए आपरेशन

कम्पाउण्डर क्लोरोफार्म सुँघाने लाया कि अँगूठे की खाल कड़ी है और वहाँ जो आपरेशन करना है वह बड़ा है, तनिक से हिल जाने से नस कट सकती है और खतरा पैदा हो सकता है, इसलिये बेहोश करके आपरेशन करने की ही डाक्टर की राय है।

रोगी ने कहा इसकी कुछ भी जरूरत नहीं है। डाक्टर बिना

डरे अपना काम करे, हिलने के कारण कोई खतरा होने की नौबत न आवेगी। अन्त में आपरेशन बिना सुँघाये ही हुआ। रोगी शान्त भाव से बैठा रहा, उसने उफ तक न की। डाक्टर चकित थे कि इतने बड़े आपरेशन में भी रोगी कैसे इतना धैर्य रख सका ?

इस धैर्यवान रोगी का नाम था—चक्रवर्ती राजचोपालाचार्य, जो आगे चलकर भारत के प्रथम वगनर जनरल बने।

भीष्म पितामह की शरशैया

शिखण्डी को आगे करके अर्जुन ने पितामह भीष्म के ऊपर बाणों की वर्षा करना शुरू कर दिया। उनका सारा शरीर छलनी की तरह बाणों से छिद्र गया और वे युद्ध-भूमि में अपने रथ पर से गिर पड़े। उनका शरीर बाणों पर इस तरह अधर रह गया कि धरती पर टिका नहीं। उस समय सूर्य दक्षिणायण था। भीष्म उत्तरायण की स्थिति में अपना जीवन छोड़ना चाहते थे। एक लम्बे समय तक पितामह उसी स्थिति में पड़े रहे और उन्होंने अपने संकल्प बल से प्राणों को बनाये रखा। कालान्तर में सूर्य उत्तरायण हुआ और उन्होंने प्राण त्यागे। इस बीच में पितामह शान्त, गम्भीर मुद्रा में शरशैय्या पर पड़े रहे। वेदना, दुःख का तनिक भी हाव-भाव उन्होंने प्रकट नहीं किया। वे अन्त तक आने-जाने वालों से मिलते-जुलते रहे, उन्हें उपदेश भी देते रहे।

सन्त ज्ञानेश्वर की सहिष्णुता

सन्त ज्ञानेश्वर के पिता संन्यासी हो गये थे। काफी समय तक संन्यास जीवन बिताकर वे पुनः ग्रहस्थ बन गये और पारिवारिक जीवन बिताने लगे। इससे ज्ञानेश्वर जी सहित उनके भाइयों, बहन आदि को जाति वालों ने बहिष्कृत कर दिया और उनका तरह-तरह से अपमान विरोध करने लगे। ज्ञानेश्वरजी ने इसकी तनिक भी परवाह नहीं की और अपने भाई-बहन के साथ ज्ञान-चर्चा, तीर्थाटन, भगवत्-आराधना में

लगे रहे। लोगों ने इन्हें कई कष्ट दिये, तरह-तरह से तज्ञ किया लेकिन वे कभी उत्तेजित नहीं हुए और न दुःखी हुये। कालान्तर में लोगों ने उनकी साधुता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर उनसे क्षमा मांगी और उनके अनुयायी बने। इस समय भी ज्ञानेश्वर को कोई भारी प्रसन्नता न थी वे सहज रूप में अपना जीवन बिताते रहे, अपने मार्ग पर चलते रहे।

फाँसी के दिन भी कसरत करने वाले बिस्मिल

फाँसी की तिथि आ चुकी थी। अब मौत के फन्दे में झूलने का अवसर एकाध-घण्टे के पश्चात् आने वाला था लेकिन रामप्रसाद बिस्मिल जेलखाने की कुठरिया में दण्ड-बैठक की कसरत करने में लगे हुए थे। जेलर आया और पूछने लगा—“रामप्रसाद कुछ देर बाद तो तुम्हें फाँसी लगने वाली है अब भी कसरत क्यों कर रहे हो?” “जब मौत अपने समय पर आयेगी तो मैं अपने कार्यक्रमों को असमय में ही क्यों छोड़ दूँ?” और वे कसरत करते रहे। नित्य नियमानुसार स्नानादि अपने नियमित कृत्य फाँसी के समय तक भली प्रकार करते रहे। मौत इस तरह आई जैसे वह भी उनके जीवन-क्रम का एक सहज कार्यक्रम हो।

कवि गङ्ग की निर्भयता

कवि गङ्ग की प्रसिद्धि दूर दूर तक फैली हुई थी। वे काफी लोक-प्रिय भी थे। एक बार बादशाह अकबर ने उन्हें अपने पास बुलाया और कुछ कविता सुनाने के लिए कहा। लेकिन उनकी इच्छा नहीं थी। कवि स्वभाव से ही स्वतन्त्रता प्रिय और विद्रोही होता है। गङ्ग को बादशाह का तानाशाही आदेश अच्छा न लगा और उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर अकबर ने उन्हें मदोन्मत्त हाथी से कुचलवा देने की आज्ञा दे दी। लेकिन कवि की स्वतन्त्रता और स्वाभिमानता शक्ति बल से नहीं कुचली जा सकती। बड़ी मस्ती में कवि गङ्ग ने उस हाथी को आता हुआ देखकर कहा—

“चाह भई परमेश्वर को कवि गंग को लेन गणेश पठायो ।”

और वे उस हाथी द्वारा कुचलवा दिए गये लेकिन उन्हें मरने और जीने के विषय में तनिक भी सुख-दुःख नहीं था ।

सेवक के उपयुक्त वस्त्र

महात्मा गाँधी के सावरमती आश्रम में एक प्रसिद्ध साधु आये और उन्होंने देश सेवा कार्य करने की इच्छा प्रकट की ।

बापू ने उनकी भावना का आदर करते हुए कहा—इसके लिए यह आवश्यक है कि आप गेरुए कपड़े छोड़कर सादा कपड़े पहनें । क्योंकि इस वेष के कारण लोग आपसे सेवा लेने के बजाय उलटी सेवा करने लगेंगे । सेवक का वेष तो स्वामी से घटिया ही होना चाहिए ।

आवेश अविवेक से अनर्थ

देवशर्मा के घर पुत्र ने जन्म लिया । उसी दिन एक नवुली ने नेबले को भी जन्म दिया । दयावश ब्राह्मणी ने उस बच्चे को भी पाल लिया । दोनों बच्चों में बड़ा प्रेम था । एक दिन ब्राह्मणी पानी भरने चली गई । बच्चा सो रहा था । नेबला भी पास ही बैठा था । दैवयोग से उधर एक सर्प निकला और बच्चे को काटने लपका । नेबले ने यह देखा तो साँप के टुकड़े-टुकड़े कर डाले । उसके मुँह में खून लग गया । वह इसी अवस्था में मालकिन को देखने कुँए की ओर दौड़ा । द्वार पर ही ब्राह्मणी मिल गई । नेबले के मुँह में खून लगा देखकर उसने सोचा यह बच्चे को काटकर आया है । यह विचार आते ही उसने भरा हुआ घड़ा नेबले के ऊपर दे मारा, नेबला मर गया । घर जाकर ब्राह्मणी ने सारी बात समझी तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ । इसलिये बिना विचारे कोई काम न करना चाहिये ।

“हमसे भी छोटे जीवित है”

खरगोशों ने अपनी जातीय सभा बुलाई और अपनी मुसीबतों पर विचार करना शुरू किया । कष्ट गिनाये गये—गर्मी, चोर का अभाव,



जानवरों, शिकारियों का भय, सब एक से एक बढ़-चढ़कर थे। अपनी अशक्तता पर ब्रह्माजी को भी कोसा और अन्त में आत्म-हत्या करने का सर्व सम्मति से निश्चय किया। सब एक तालाब की ओर चल पड़े। मेढ़कों ने देखा तो डरकर पानी में छिप गये। यह देखकर एक समझदार खरगोश आगे आया और बोला, अब हमें आत्म-हत्या करने की आवश्यकता नहीं है। जब हमसे भी अधिक डरपोक प्राणी मौजूद हैं तो हम ही क्यों प्राण त्याग करें? अपनी छोटों से तुलना की तो खरगोशों को बड़ा सन्तोष मिला और वापिस घरों को लौट गये।

संन्यास बाह्य स्वरूप नहीं, आन्तरिक स्थिति

एक सन्त को एक राजा अपने राजमहल में ले आया और वैसे ही सुख-सुविधाओं में रहने की व्यवस्था कर दी। कुछ दिन बाद राजा ने पूछा—महात्मन् ! हम आप तो अब एक ही स्थिति में हो गये। साधु ने उस समय तो कुछ उत्तर न दिया पर दूसरे दिन प्रातः जब टहलने के समय कुछ मील दोनों चले गये तो साधु ने कहा—राजन् ! हम आप एक ही स्थिति में हैं, चलें अब कुछ वर्ष वन में तप करें, घर न लौटें।

राजा ने कहा—मेरा सारा काम-धाम बिगड़ जायेगा। मैं तो वन नहीं जा सकता। मुझे तो घर ही लौटना पड़ेगा। अब आप भले ही वन चले जायें।

साधु ने कहा—राजन् ! मनुष्यों का स्तर उनकी बाह्य स्थिति से नहीं वरन् आन्तरिक स्थिति से लगाया जाता है। वन में रहकर भी लोभ, मोह में फँसा हुआ व्यक्ति अनुरक्त है और अनेक सांसारिक कार्यों को लोक-हित की दृष्टि से करने वाला विरक्त। आप मोह और स्वार्थ छोड़कर राज-काज चलावें तो गृहस्थ में रहकर भी विरक्त हो सकते हैं। तब आपको लोभ नहीं कर्तव्य ही प्रधान दृष्टिगोचर होगा।

सन्त और बिच्छू के स्वभाव

एक सन्त नदी में स्नान कर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक बिच्छू



पानी में बहता हुआ आ रहा है। उन्होंने उसे बचाने की दृष्टि से अपने हाथ में उठाया। दुष्ट स्वभाव के कारण उसने महात्मा के हाथ में डङ्कु मार दिया। वेदना के कारण हाथ हिलने से बिच्छू गिर पड़ा। सन्त ने फिर से उसे उठाया और पूर्ववत् अब भी बिच्छू ने डङ्कु मार दिया। वह फिर हाथ से छूट गया। तीसरी बार डङ्कु का बार सहते हुए भी सन्त ने उसे गिरने नहीं दिया और बाहर निकाल दिया। किनारे पर खड़े व्यक्ति ने पूछा—“महाराज ! इस दुष्ट को तो पानी में मरने के लिए ही छोड़ देना चाहिए था।” सन्त बोले—“भाई जिस तरह यह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता फिर भला मैं अपनी भलाई क्यों छोड़ूँगा।” वह मनुष्य महात्मा जी के हृदय की विशालता, सहनशीलता सन्तुलन को देखकर उनके चरणों में नत-मस्तक हो गया।

समर्थ की गम्भीरता

बादल बहुत गड़ गड़ाये। गुस्से में समुद्र को डाँटने लगे कि हम तुम्हें पी जायेंगे, तुम्हारा शोषण कर लेंगे। बेचारा समुद्र कुछ नहीं बोला और उल्टे शीतल हवा से बादलों की थकान दूर करने लगा। नमी पाकर बादल वरसने लगे और देखते-ही-देखते उसी समुद्र में विलीन हो गये। यह देखकर चन्द्रमा बोला—सच है अपकारी का भी उपकार करने वाले व्यक्ति समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं।

नम्रता और एँठ

नदी के उस पार अहङ्कार में अकड़ा शमी वृक्ष खड़ा था, इस पार बेंतों की बेल खड़ी थी। रात में जोर की बाढ़ आई। शमी अकड़ा रहा, पानी की तेज धारों ने उसकी जड़ काट दी—पेड़ उखड़कर गिर गया। बेंतों की बेल पानी में झुक गई। प्रवाह आया और चला गया। बेल जैसे कल थी आज भी उसी तरह लह-लहा रही थी।

‘ऊपर देख नीचे उतर’ मल्लाह की सीख

समुद्र में जोर का तूफान आया। नाव डगमगाने लगी। पाल

को मजबूती से बाँधने के लिये मल्लाहों का एक बालक ऊपर चढ़ गया। पर नीचे गरजते, उफान भरते समुद्र को देखा तो मारे भय के चिल्लाने लगा। बूढ़े मल्लाह ने कड़ककर कहा, नीचे मत देख, आकाश की ओर देखता हुआ नीचे उतर आ। बालक ने वैसा ही किया और नीचे आ गया। अनुभवी बूढ़े ने बताया जो डरता है, वही मरता है। मुसीबत में सदैव धैर्य से काम लेना चाहिए।

संसार को देखने के साथ अपने आपको भी देखें

एक बार दस युवक मेला देखने के लिए गये। उन्होंने दिनभर साथ रहकर मेला देखा और शाम को घर चलने की तैयारी करने लगे। जब साथियों की गिनती की गई तो वे नौ ही निकले। एक-एक करके सबने गिना किन्तु संख्या नौ ही रह जाती। सभी बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि हम में से एक साथी रह गया। वस्तुतः बात ऐसी थी कि नौ साथियों को गिनने वाला असने आपको भूल जाता था। इसी बीच एक महात्मा उधर आ निकले। चिन्ताग्रस्त युवकों को देखकर उन्होंने उनसे पूछ-ताछ की। इस पर उन्होंने सबको एक सीध में खड़ा करके गिना और दस की संख्या पूरी करके उन्हें सन्तोष दिया।

मनुष्य स्वयं भूलकर दुनियाँ का हिसाब-किताब करने बैठ जाता है तो दुनियाँ उसे अधूरी, अपूर्ण जान पड़ती है। यदि वह अपने आप से गिनती शुरू करे तो संसार की अपूर्णता को न बखाने।

×

×

×

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।

कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

कौन-सा काल है, कौन-कौन मित्र हैं, कौन देश है, आय और व्यय क्या हैं, मैं कौन हूँ और मेरी क्या शक्ति है? इन बातों को बार-बार सोचना-विचारना चाहिए।

संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।

आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥

महान् पुरुषों का चित्त सम्पत्ति की दशा में कमल के समान कोमल होता है, पर आपत्तियों के आने पर महान् पर्वत की शिलाओं के समूह के समान कठिन हो जाता है ।

क्वचिद्रुष्टः क्वचित्तुष्टो रुष्टस्तुष्टः क्षणेक्षणे ।

अव्यवस्थित चित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः ॥

जो व्यक्ति कभी तो रुष्ट होता है और कभी प्रसन्न हो जाता है, इस प्रकार क्षण क्षण में रुष्ट और प्रसन्न होता रहता है, ऐसे चञ्चल चित्त वाले पुरुष की प्रसन्नता भी भयङ्कर होती है ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तपरिवर्जयेत् ॥

अधिक भोजन करना आयु, पुण्य, आरोग्य और स्वर्ग का नाशक होता है और लोक में निन्दित भी होता है । अतएव उसे त्याग देना चाहिये ।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।

आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥

चतुर मनुष्य जो दुर्लभ वस्तु है उसे चाहते नहीं हैं जो नष्ट हो गई, उसका सोच नहीं करते हैं, और आपत्ति काल में मोह नहीं करते हैं ।

उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

उदय होता हुआ भी सूर्य रक्त होता है और अस्त होते समय भी रक्त ही रहता है, उसी तरह बुद्धिमान् सज्जनों का रूप भी विपत्ति में और सम्पत्ति में एक समान रहता है, विकृति नहीं होता ।

इदमेव हि पाण्डित्यं चातुर्यमिदमेव हि ।

इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः ॥

यही पाण्डित्य है, यही चतुरता है, यही बुद्धिमत्ता है कि मनुष्य अपनी आय से व्यय बहुत कम करे ।

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते ।

गंगो हृद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डितउच्यते ॥

जो व्यक्ति आत्म-सम्मान से फूलता नहीं और तिरस्कार पाकर दुःखी नहीं होता है वह गङ्गा के अगाध जल की भाँति कभी क्षुब्ध नहीं होता है वह वास्तव में पण्डित है ।

न कश्चिदवमन्येत सर्वस्य शृणुयान्मतम् ।

बालस्याप्यर्थवद्वाक्यमुपयुज्जीत पण्डितः ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह किसी का अपमान न करे, सबके मत को सुने और एक बालक की भी अच्छी बात को सुनकर उसका उपयोग करे ।

धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चंचलाः ।

प्रभावोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥

जो धनवान् होने पर उन्मादी नहीं होते, युवा होते हुए भी चंचल नहीं होते, प्रभावशाली होते हुए भी प्रमत्त नहीं होते, वे ही सज्जन लोग महिमाशाली कहलाते हैं ।

कर्मणा मनसा वाचा नोपतापयये परम् ।

सर्वथा शुद्धभावो यः स याति त्रिदिब नरः ॥

जो मनुष्य मन, वचन तथा कर्म से भी कभी किसी को दुःख नहीं देता है, सर्वथा शुद्ध विचार करने वाला है वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ।

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।

नहि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोत्कयाः ॥

चाहे जैसे क्रोध में क्यों न हो सज्जन का स्वभाव कभी डावाडोल न होगा, जैसे (जलते हुए) तिनकों की आँच से समुद्र का जल कौन गरम कर सकता है ?

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।

एतान्वेगान्यो विषहे दुदीणास्तं मन्थऽहं ब्राह्मणवैमुनिच ॥

जो अपनी वाणी के आवेग को, मन के आवेग को, हृदयोत्पन्न क्रोध के आवेग को, काम करने की इच्छा के वेग को, उदर के वेग को और जननेन्द्रिय के वेग को रोकने की शक्ति रखता है उसी को मैं सच्चा ब्राह्मण एवं मुनि मानता हूँ ।

रहिमन अति नहि कीजिये, गहि रहिये निज कानि ।

सहजन अति फूसै तऊ, डार पात की हानि ॥

अति हो सरल न हूजिए, देखौ ज्यों बनराय ।

सीधे-सीधे काटिये, बाँके तरु बचि जायँ ॥

तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती साधु सुजान ।

जो विचार व्यवहरहि जग, खरच लाभ अनुमान ॥

जांचि किए बिन और की, बात साँच मति थर्प ।

होत अंधेरी रैन में, परी जेवरी सर्प ॥

भूलै सुख में भूलनों, दुःख जो काटें रोय ।

तुलसी ते संसार में, नहीं विवेकी दोय ॥

सुन्दर काण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्र जी विभीषण से कह रहे हैं—

समदरसी इच्छा कछु नाहीं ।

हरष सोक भय नहिं मन माहीं ।

अस सज्जन यम उर बस कैसें ।

लोभी हृदयें बसइ धनु जैसें ॥

तुम्ह सारिखे सन्त प्रिय मोरें ।

धरउं देह नहिं आन निहोरें ॥

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।

ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम ॥

सुन लंकेस सकल गुन तोरें ।

तातें तुम अतिसय प्रिय मोरें ॥

किष्किन्धा काण्ड के अन्तर्गत श्रीरामचन्द्रजी अपने भ्राता लक्ष्मण से कह रहे हैं—

देखिअत चक्रबाक खग नाहीं ।

कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥

ऊसर बरसइ तृन नहिं जामा ।

जिमि हरिजन हियें उपज न कामा ॥

त्रिविध जन्तु संकुल महि भ्राजा ।

प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥

जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना ।

जिमि इन्द्रिय गन उपजें ग्याना ॥

कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहि ।

जिमि कपूत के ऊपजें कुल सद्धर्म नसाहि ॥

कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग ।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ॥

बरषा बिगत सरद रितु आई ।
लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूल कास सकल महि छाई ।
जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई ॥
उदित अगस्ति पन्थ जल सोषा ।
जिमि लोभहिं सोषइ सन्तोषा ॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा ।
सन्त हृदय जस गत मद मोहा ॥
रस रस सूख सरित सर पानी ।
ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ॥
जानि सरद रितु खञ्जन आए ।
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ॥
पंक न रेनु सोह असि धरनी ।
नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥

अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत सूर्पनखा रावण के समीप जाकर उससे
कह रही है—

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा ।
हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥

विद्या बिनु बिबेक उपजाएँ ।
 श्रुति फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ ॥
 संग तें जाति कुमन्त्र तें राजा ।
 मान ते ग्यान पान तें लाजा ॥
 प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी ।
 नासहि बेगि नीति अस सुनी ॥

रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनअ न छोट करि ।
 अस कहि विविध बिलाप, करि लागी रोदन करन ॥

किष्किन्धा काण्ड के अन्तर्गत श्री रामचन्द्रजी अपने भाई से
 कह रहे हैं —

दामिनि दमक रही घन माहीं ।
 खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ॥
 बरषहि जलद भूमि निघराएँ ।
 जथा नवहि बुध विद्या पाएँ ॥
 बूँद अघात सहहि गिरि कैसे ।
 खल के बचन सन्त सह जैसैं ॥
 छुद्र नदी भरि चलीं तोराई ।
 जस थोरेहुँ धन खल वौराई ॥

॥ ग्यारहवाँ प्रवचन समाप्त ॥

— — —



बारहवां-प्रवचन

— — —

(ज्ञान और कर्म का समन्वय)

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

(अध्याय १८ श्लोक ७८)

जहां योगेश्वर कृष्ण और जहां धनुर्धारी अर्जुन हो
वहां लक्ष्मी, विजय, वृद्धि और अटल नीति है ऐसा
मेरा मत है ।

कृष्ण को ज्ञान का और अर्जुन को कर्म का प्रतीक माना गया है । भगवान् ने गीता का ज्ञान देकर उद्बोधन किया, अर्जुन ने गाण्डीव उठाकर युद्ध आरम्भ कर दिया । इस प्रकार दोनों का सम्मिश्रण होने पर महाभारत में धर्म की विजय सम्भव हो सकी ।

(केवल ज्ञान पंगु के समान है और केवल कर्म अन्धे के समान ।
अन्धा और पंगु मिलकर गहरी नदी पार कर सके थे, यह कथा प्रसिद्ध है । यदि अन्धे ने पंगे को अपने कंधे पर न बिठाया होता और पंगे ने अन्धे का मार्ग दर्शन न किया होता तो दोनों ही निकम्मे बने नदी के किनारे पर बैठे रहते और उन्हें नदी पार कर लेने के अभीष्ट उद्देश्य में सफलता न मिली होती ।)

(धर्म और अध्यात्म की उच्च दार्शनिक विचारधारा बहुत ही श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है, उसका जितना गुण गाया जाय और महत्त्व बताया जाय उतना ही कम है। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल उस तथाकथित ज्ञान तक सीमित रह जाने से भी काम नहीं चल सकता। यदि गीता, रामायण, भागवत आदि का पाठ करते रहा जाय, कथा, प्रवचन सुनते रहा जाय तो उससे समझदारी तो बढ़ती है, पर इतने मात्र से कोई कहने लायक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। कथा सुनने या अमुक पुस्तक का पाठ करने मात्र से जो लोग आत्मिक प्रगति की आशा लगाए बैठे हैं वे भ्रम में हैं। ज्ञान की सार्थकता तभी है जब वह कर्म रूप में परिणत हो सके। यदि वह सुनने समझने तक ही सीमित रह गया तो उस ज्ञान को नपुंसक, निष्प्राण कहा जायगा। जैसे मिट्टी की बनी खिलौना गौ का दूध नहीं दुहा जा सकता उसी प्रकार निष्प्राण ज्ञान से जीवन विकास की कोई समस्या हल नहीं हो सकती।)

(इसी प्रकार अविवेकपूर्वक, असङ्गत और अस्त-व्यस्त काम करने से घमा चौकड़ी मच सकती है, हा हा, हू हू हो सकती है पर उससे भी कोई प्रयोजन पूरा नहीं हो सकता। बालू में से तेल निकलने की क्रिया से क्या परिणाम निकलेगा ? पानी को मथने से घी किसने पाया है ? बेचारा कोल्हू का बैल दिन भर चलते रहने पर भी कितनी यात्रा पूरी कर पाता है ? नाव को रस्सों से बांध रखा जाय और फिर डांड चलाते रहें तो वह परिश्रम किस काम आवेगा ? किसी अच्छी कार्य-पद्धति के पीछे विवेकशीलता का समुचित सम्मिश्रण आवश्यक है।)

कुविचार जब कुकर्मों का रूप धारण कर लेते हैं तभी उनका दुष्परिणाम सामने आता है। जो कार्य रूप में परिणत न हो सके वैसे विचार आमतौर से लोगों के मनों में उठते रहते हैं। पर उनसे मनोभूमि को गन्दा करने जैसी थोड़ी ही हानि होती है। उसी प्रकार उत्तम विचार मस्तिष्क में बने रहें तो उनसे भी कुछ तो अच्छा ही है पर कोई कहने



लायक प्रतिफल तभी देखने को मिलेगा जब वे कार्य रूप में विकसित होने लगे। जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जो उत्तम ज्ञान सुना, समझा गया हो उसे कार्य-रूप में विकसित करने की तैयारी की जाय। उथले मन से सुना, समझा ज्ञान मनोरंजन मात्र रह सकता है, पर जिसे भावनापूर्वक हृदयंगम किया गया होगा वह कार्य-रूप में परिणित हुए बिना न रह सकेगा। अध्यात्म ज्ञान को मनोरंजन के लिए, या हलके मन से सुनने-समझने पर वह लाभ प्राप्त न हो सकेगा, जिसके लिए कि उस महान विचारधारा का निर्माण किया गया है।

गीता के प्रस्तुत बारह प्रवचनों में जीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर आवश्यक प्रकाश डाला गया है और जिन्दगी को कैसे जिया जाय इसका अभीष्ट मार्ग-दर्शन भली प्रकार हो चुका है। सुर दुर्लभ मानव जन्म एक अनुपम अवसर है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद, यदि एक योनि में एक वर्ष रहने का औसत मान लिया जाय तो ८४ लाख वर्ष बाद—यह अवसर मिलता है। उस अलभ्य सुअवसर को यदि कौड़ी मोल गँवा दिया जाय, वासनाओं और तृष्णाओं की मूर्खता में उसे बर्बाद कर दिया जाय तो इसे एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही कहा जायगा। जिन्दगी के दिन तो किसी प्रकार हँसते-रोते काटे जा सकते हैं पर जब यह शरीर छोड़ना पड़ता है तब जीव को अपनी भूलों के लिये कितना चीत्कार पूर्ण पश्चात्ताप करना पड़ता है? इसकी ठीक कस्यना तक कर सकना आज हमारे मोहग्रस्त मस्तिष्क के लिये सम्भव नहीं हो पा रही है। गीता का उद्बोधन इसीलिए है कि समय रहते हम चेतें और ईश्वर की इस अनन्य अनुकम्पा—मानव-जीवन की उपलब्धि का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने के लिये कटिबद्ध हों।

ज्ञान और कर्म का सम्मिलित स्वरूप ही अन्तःकरण में संस्कार का स्वरूप धारण करता है और उन परिपक्व संस्कारों के आधार पर ही आत्मिक उन्नति निर्भर रहती है। इमशान वैराग्य तो आवेश रूप में

यदाकदा उदय होता रहता है। उसका लाभ इतना ही है कि तत्काल उस आवेश में कोई सत्कर्म बन जाय, कोई शुभारम्भ चल पड़े तो अच्छा है अन्यथा उस आवेश के ठण्डा होते ही वही पुराना ढर्रा फिर लुढ़कने लगता है। इन आवेशों के ज्वार-भाटे संस्कारवान परिपक्व मनोभूमि का निर्माण नहीं कर सकते और उसके बिना चिरस्थायी आत्मिक प्रगति की सम्भावना कहाँ रहती है ? अस्तु श्रेयार्थी के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह उपलब्ध सदज्ञान को व्यावहारिक जीवन में उतारे, उन्हें सत्कर्मों के रूप में परिणित करे। ईश्वर भक्ति का यही स्वरूप है। अर्जुन को भगवान् ने कर्मरत किया था। चाहते तो उसे पूजा-पाठ तक सीमित रहने वाला तथाकथित 'भागवन' बन जाने की बात भी सुझा सकते थे जैसा कि वह संघर्ष में पड़ने से इन्कार कर रहा था उसकी इच्छा का समर्थन कर सकते थे, पर उन्होंने वैसा किया नहीं। क्योंकि वे जानते थे कि ज्ञान को केवल विचारते रहने, पढ़ते रहने, सुनते रहने, कल्पना क्षेत्र में उड़ाते रहने मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इतने मात्र से ज्ञान का संस्कार रूप में परिणत होना सम्भव नहीं और इसके बिना आत्म-विकास का तारतम्य भी कहाँ बैठता है ? कल्पना की उड़ानें लक्ष्य तक पहुँचाने में कहाँ समर्थ होती हैं।)

(सदज्ञान की सार्थकता तभी है जब वह सत्कर्मों का रूप धारण करे। ज्ञान उपलब्ध हुआ या नहीं, इसकी परख इसी प्रकार की जा सकती है कि उसे उतनी गहराई तक हृदयंगम किया गया या नहीं कि वे वह मान्यताएँ व्यवहार में उतर सकें ? यों जानकारी के रूप में तो न जाने कितनी पुस्तकें, पत्रिकाएँ, हम पढ़ते रहते हैं। मनोरंजन एवम् समयक्षेप करके उन्हें एक कोने में रख देते हैं। उनसे ज्ञानवान् बनने का लाभ किसे मिलता है ? ज्ञान की दृष्टि से जो कुछ जाना गया है वह इतना प्रबल भी होना चाहिए कि उसे कार्यविन्त किये बिना रहा ही न जा सके। जीवन संघर्ष में पग-पग पर चलते हुए जो बाधाएँ आती हैं

उनसे लड़ने के लिये जो काम आ सके, हथियारों का काम दे सके, उसी को सच्चा ज्ञान मानना चाहिये ।

भगवान् का अवतार उनकी प्रतिज्ञानुसार तब होता है जब परिस्थितियाँ विषम—विषमतर हो जाती हैं और उनको पलट डालने के लिये किसी प्रबल व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है । समय का परिवर्तन जन-सहयोग के बिना सम्भव नहीं । अवतार की प्रेरणा से जन-मानस में उथल-पुथल मचाती है और अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये अगणित व्यक्तित्व सहयोग देने को अग्रसर होने लगते हैं । युग पलटने की आवश्यकता को पूरा करने के लिये भगवान् ने महाभारत रचा था और उसमें जो कृष्ण के सच्चे भक्त थे उन्होंने आगे बढ़कर भाग लिया था । अर्जुन संघर्ष से बचकर पूजा-पाठ जैसा सरल अवलम्बन पकड़कर काम चलाना चाहते थे पर भगवान् ने उन्हें वैसा करने नहीं दिया । क्योंकि जब मुहल्ले में अग्निकाण्ड हो रहा हो, घर, छप्पर जलते चले आ रहे हों, तब कौन ऐसा होगा जो उसे बुझाने की अपेक्षा एकान्त में जाकर आसन, प्राणायाम की बात सोचे ? कोई समय ऐसे भी होते हैं जब मनुष्य को कठिन कर्तव्यों में संलग्न होना योग समाधि से भी अधिक श्रेयस्कर होता है । जिन दिनों गीता कही गई थी ? उन दिनों इसी प्रकार की परिस्थिति थी । भगवान् के सभी भक्तों को युग परिवर्तन का उद्देश्य पूरा करने के लिए किसी न किसी रूप में महाभारत में संलग्न होना पड़ा था ।

आज ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ हैं । आज गीता-प्रवचन की बिल्कुल वैसी ही आवश्यकता है जैसी उन दिनों थी । मोहग्रस्त अर्जुन की स्थिति में भारतीय समाज अगणित कुण्ठाओं से ग्रस्त निष्प्राण जैसा बना पड़ है । उसमें नवीन शक्ति अनुप्राणित करने की आवश्यकता है । गीता में इस प्रकार की क्षमता परिपूर्ण रूप से विद्यमान है । गीता को हाथ में लेकर क्रान्तिकारी आन्दोलन के कार्यकर्त्ता फाँसी के तख्तों पर चढ़ते थे । गीता रहस्य का उद्घाटन कर लोकमान्य तिलक ने भारतीय

राष्ट्र को अपना जन्म सिद्ध अधिकार प्राप्त करने की प्रेरणा दी थी। गीता के अनासक्त योग की व्याख्या करते हुए महात्मा गाँधी ने अपना सत्याग्रह रूपी सुदर्शन चक्र चलाया था। राजनैतिक क्रान्ति में—स्वतन्त्रता संग्राम में गीता जो भूमिका अदा कर रही थी उससे अंग्रेज घबरा गये थे और एक बार तो गीता को पकड़ने के लिये बारंट तक जारी कर दिये थे ! वह भूल तब सुधरी जब उन्हें मालूम हुआ कि गीता कोई व्यक्ति नहीं वरन् एक धर्म पुस्तक है। यांगी अरविन्द की राष्ट्र उत्पादक तपश्चर्या के पीछे गीता की प्रेरणा विद्यमान थी। गीता प्रवचनकर्त्ता बिनोबा वावन की अवतार की तरह भूमि माँगते हुए सर्वोदय का प्रकाश उत्पन्न कर रहे हैं। युग परिवर्तन की इस संधिबेला में हजारों, लाखों व्यक्ति मिलकर जो कार्य नहीं कर सकते वह अकेली गीता कर रही है। नये समाज का निर्माण इसी गीता भगवती के नेतृत्व में किया जा रहा है इसे हर कोई खुली आँखों से देख सकता है।

युग-निर्माण आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में जिन शत-सूत्री कार्यक्रमों का विधान है उनका प्रयोजन एक ही है कि अध्यात्म ज्ञान का कोई भी प्रकाश जिन तक पहुँचे वे अपनी परिस्थितियों के अनुसार उसे कार्य रूप में परिणित करना आरम्भ कर दें। व्यक्तियों की परिस्थितियाँ और योग्यताएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। हर व्यक्ति एक से काम नहीं कर सकता, इसलिये इस योजना में इसी पूरी पूरी गुंजायश है कि न्यूनतम प्रतिभा एवं हीनतम परिस्थितियों का व्यक्ति भी अपने सद्भाव को सत्कार्य में परिणित करते हुए युग निर्माण की भूमिका में किसी न किसी प्रकार भाग ले सके। महाभारत युद्ध में शस्त्र चलाना ही एक मात्र काम न था। सेना के लिये भोजन बनाने से लेकर घायलों की चिकित्सा करने तक, घोड़ों को घास डालने से लेकर, दैनिक गन्दगी साफ करने तक, अगणित कार्य थे और विभिन्न परिस्थितियों के सैनिक अपने-अपने ढङ्ग से उन कार्यों को करते हुए योद्धाओं का कर्त्तव्य ही

पालन कर रहे थे। वर्तमान महाभारत में भी हममें से प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कार्य कर सके उस दृष्टि से युग-निर्माण योजना इस प्रकार बनाई गई है जिसमें गिलहरी से लेकर गिद्ध, बानरों तक के लिये समुचित कार्यक्रम मौजूद है।

असंयम और अनियमितताओं के कारण हमारा सार्वजनिक स्वास्थ्य बुरी तरह गिरता जा रहा है। व्यक्तिवादी स्वार्थ और संकीर्णताओं से भरी लालची दृष्टि हमारे राष्ट्रीय चरित्र में धुन की तरह लगी हुई है, जनहित के कार्यों में किसी को रुचि नहीं। चोर से लेकर सन्त तक हर कोई अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि में ही सब कुछ मानकर उसी में निमग्न हो रहा है। आलस्य से शारीरिक क्षमता और प्रमाद से मानसिक योग्यताओं का सत्यानाश होता रहता है। यदि हम आलस्य और प्रमाद के दुर्गुणों को छोड़कर शारीरिक और मानसिक शक्ति का रचनात्मक कार्यों में तत्परता पूर्वक प्रयोग करने लगे तो हमारी प्रगति एवं समृद्धि का पाराबार न रहे।

हमारे दैनिक अभ्यास में सफाई मधुरता, शिष्टाचार, सहिष्णुता, सज्जनता, नागरिकता जैसे मनोवांछित गुणों की कितनी कमी हो रही है यह किसी से छिपा नहीं। विलासिता, आडम्बर, फैशन, परस्ती, व्यसन, नशेबाजी आदि भोड़े कार्यों में कितना धन और समय बर्बाद होता है उसे कौन नहीं जानता? नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन करने की उच्छृङ्खलता एवं अपराध करने की प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते सार्वजनिक जीवन के लिये सङ्कट का रूप धारण कर रही है। चोरी, डकैती, ठगी, रिश्वत, जुआ आदि अर्थ-प्रयोजनों के लिये होने वाले दुष्कर्मों की तो बाढ़-सी ही आ रही है। कामुकता की अभिवृद्धि गन्दे साहित्य, चित्र, गन्दे गीत और मनोरंजनों के रूप में देखी जा सकती है। पत्नीव्रत धर्म और पतिव्रत धर्म की कड़ियाँ जिस प्रकार शिथिल होती जा रही हैं यह हमारे भविष्य को अन्धकारमय बनाने के लिये कम भयावह नहीं है।

सामाजिक कुरीतियों का बीभत्स ताण्डव नृत्य अलग ही चल रहा है। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, कन्या-विक्रय वर-विक्रय, मृत्यु-भोज, पशु-बलि, भूत-पलीत, ऊँच-नीच स्त्रियों पर अर्वाँछनीय प्रतिबन्ध जैसी कुरीतियों के कारण हमारा सामाजिक ढाँचा ही चरमराने लगा है और उसके टूटकर गिर जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। धर्म के नाम पर साधु, ब्राह्मणों ने लूट-खसोट मचा रखी है और भिक्षुओं की बाढ़ जिस आँधी और तूफान की तरह बढ़ी है उसका भार-बहन करने में जनता के कंधे टूटने लगे हैं। जन साधारण में उन सद्भावों की उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की दिन-दिन कमी होती चली जा रही है जिनके कारण कि मनुष्य को महापुरुष बनने का और समाज को गौरवान्वित होने का अवसर मिलता है।

अपनी विपन्नताओं से हम सब भली प्रकार परिचित हैं। इसके दुष्परिणाम जन-साधारण को दुःख-दारिद्र्य द्वारा वैयक्तिक रूप में तथा अगणित समस्याओं के रूप में सारे समाज को भुगतने पड़ रहे हैं। स्थिति ऐसी है कि जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भगवान् कृष्ण के सामने भी ऐसी ही विषम परिस्थितियाँ थीं। उन्होंने युद्ध के रूप में महाभारत खड़ा किया था। आज की परिस्थितियों में मनुष्य के बीच शस्त्रों द्वारा होने वाले युद्ध की आवश्यकता नहीं, पर यह अनिवार्य हो गया है वर्तमान विपन्नताओं और विकृतियों से जूझा जाय और इन्हें परास्त कर उनके स्थान पर सतयुगी मान्यताओं की प्रतिष्ठापना की जाय। युग-निर्माण योजना के शत-मूत्री कार्यक्रम इसी भावना को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं।

धर्म राज्य की रामराज्य की स्थापना हमारा उद्देश्य है। इसके लिए धर्म और असुरता से जूझना ही पड़ेगा। गीता यही सिखाती है। समय की यही पुकार है। अर्जुन को जो करना पड़ा था वही हमें भी करना होगा। राजनैतिक क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी हमें बौद्धिक एवं नैतिक

क्रान्ति करनी है। उसके बिना हमारा नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान हो नहीं सकेगा। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण तो स्वयं ही करना होगा और उसके लिए रचनात्मक संघर्ष में उसी त्याग, बलिदान की भावना से संलग्न होना होगा जिसमें कि युद्ध में संलग्न होने वाले अपने तन-मन का मोह त्यागकर संलग्न होते हैं।

गीता-प्रवचन का लाभ अर्जुन ने उठाया था। उसने भगवान् द्वारा दिये गये ज्ञान को अपने कार्य रूप में परिणत करना तत्काल आरम्भ कर दिया था। उसने विश्वासपूर्वक कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

‘हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति भी मैंने प्राप्त करली है। अब मैं सन्देहों से मुक्त होकर स्थित हूँ। अब मैं आपका कहना करूँगा।’

यदि हमने भी गीता का प्रवचन सत्य मन से सुना है, तो भगवान् के वचनों को कार्य रूप में परिणत करने के लिये कटिबद्ध होना चाहिए। आत्म-निर्माण के लिये, परिवार-निर्माण के लिये और समाज-निर्माण के लिये अपनी क्षमता का अधिकाधिक अंश प्रयुक्त करना चाहिये। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन एवं सभ्य समाज की रचना के लिये कुछ करने का निश्चय करना चाहिए। भगवान् ने गीता का ज्ञान अर्जुन को कर्म में परिणत कराने के लिये दिया था अर्जुन ने उसे उसी रूप में शिरोधार्य भी किया था। अब हमारी बारी है कि गीता सप्ताह में सुने गये प्रवचनों को अपने जीवन में उतारने की योजना बनावें और वर्तमान युग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण महाभारत युग-निर्माण में अपना समुचित योगदान देते हुए मानव-जीवन को सार्थक बनावें।



ज्ञान और कर्म के समन्वय की आवश्यकता

महाभारत का विशाल ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा जाना था । महर्षि व्यास उसके लिए सोच सकते थे, उसकी रूप-रेखा बना सकते थे लेकिन लेखन कार्य के लिये एक कुशल शीघ्र लेखक की आवश्यकता हुई और इस कार्य के लिये गणेशजी को नियुक्त किया गया । व्यासजी बोलते जाते थे । इस तरह दोनों के प्रयत्नों से महाभारत लिखा गया ।

महर्षि बाल्मीकि के संरक्षण में रहकर लव-कुश ने वह सामर्थ्य प्राप्त की कि वीर हनुमान, राम, लक्ष्मण को भी उनसे पराजित होना पड़ा । बाल्मीकि के ज्ञान और अपने क्षत्रिय संस्कारों के समन्वय से ही बालक लव-कुश को यह विजय सम्भव हुई थी ।

हिन्दू मान्यताओं के अनुसार श्रीराम ब्रह्म के अवतार थे और लक्ष्मण शेष नाग के शक्ति अवतार । इस तरह असुरों के नाश करने का महान् कार्यक्रम ब्रह्म और शक्ति के सम्मिलित प्रयत्नों से सम्भव हो सका ।

अर्जुन ने निशस्त्र श्रीकृष्ण को अपने लिए चुना और दुर्योधन ने श्रीकृष्ण की सेना को । लेकिन अपार सेनाबल होते हुए भी कौरवों को पराजय का सामना करना पड़ा उधर श्रीकृष्ण के ज्ञान, बल का सहारा पाकर अर्जुन ने अपने रण कौशल और शक्ति के बल पर महाभारत में विजय प्राप्त की ।

चाणक्य एक दूरदर्शी विचारक, राजनीतिज्ञ और विद्वान् व्यक्ति था । नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् । चन्द्रगुप्त एक कुशल प्रशासक और सैनिक था । दोनों के सम्मिलित प्रयासों के बल पर ही विशाल मौर्य साम्राज्य की नींव पड़ी ।

राजा भोज की सभा में नवरत्न (नौ विद्वान्) प्रसिद्ध थे जिनकी सलाह के अनुसार वे राज्य कार्य चलाते थे । इन नौ रत्नों में कालिदास प्रमुख थे । राजा भोज के कुशल प्रशासन के आधार में ब्राह्म और क्षात्र शक्तियों का संयम ही मुख्य था ।

भारत में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का श्रीगणेश शङ्कराचार्य ने किया। बौद्धिक, दार्शनिक और ज्ञानबल के आधार पर शङ्कराचार्य ने कार्य किया। लेकिन सुधन्वा की राज शक्ति का बल पाकर इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा। शङ्कराचार्य का ज्ञान और सुधन्वा का सक्रिय राजकीय सहयोग हिन्दू धर्म के प्रसार के मूल आधार रहे हैं।

देश मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित था। हिन्दू धर्म और संस्कृति को खुले आम नष्ट किया जा रहा था। स्वामी रामदास ने इसे देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और इस सम्बन्ध में गहन चिन्तन-मनन के द्वारा कार्यक्रम निर्धारित किया। पर्याप्त ज्ञान बल के द्वारा एक व्यवस्थित योजना बनाई जिसे शिवाजी ने कार्यान्वित किया। शिवाजी शस्त्र बल, युद्ध कौशल और साहस के साथ गुलामी के अन्त करने लिये लड़ते रहे। इस तरह समर्थ रामदास और शिवाजी के सहयोग से एक महान् कार्य हुआ।

दण्डी स्वामी विरजानन्द आँखों से ग्रन्थे थे। उन्होंने सारा जीवन ज्ञान-विज्ञान की शोध में लगा दिया। उन्होंने उस समय की परिस्थितियों, धर्म, दर्शन, ज्ञान के क्षेत्र में मौलिक तथ्य निश्चित किए जिन्हें समाज में प्रसारित करने के लिये एक कर्मठ व्यक्ति की आवश्यकता थी। महर्षि दयानन्द ने अपने गुरु के इस कार्य को पूरा किया। इस तरह विरजानन्द और दयानन्द के रूप में ज्ञान और कर्म की सम्मिलित शक्ति से एक युगान्तरकारी कार्य पूर्ण हुआ। वर्तमान भारत का शुभारम्भ उन्हीं के प्रयत्नों से हुआ था।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने लम्बी उपासना, आराधना के पश्चात् मानव-कल्याण, जन-सेवा के लिए जो विचार किया, उन्हें कार्यान्वित किया स्वामी विवेकानन्द ने। देश-विदेशों में रामकृष्ण मिशन का जो सेवा कार्य चल रहा है उसके लिए ज्ञान, दर्शन, आत्मिक शान्ति को जुटाने वाले स्वामी रामकृष्ण परमहंस थे तो उन्हें कार्य रूप में परिणित करने वाले स्वामी विवेकानन्द।

महात्मा गाँधी ने अपने ज्ञान, विवेक और आत्म शक्ति के बल पर भारत को आजादी के लिए तैयार किया, लेकिन पण्डित जवाहरलाल, पटेल आदि कर्मवीरों ने उसे अपने कठोर श्रम और कर्तव्य-निष्ठा से व्यावहारिक रूप दिया। गाँधी जी ने स्वतन्त्र भारत का जो कल्पना-दर्शन दिया जवाहरलाल जी ने उसे कर्म की खराद में ढालकर साकार किया।

कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद का एक परिपूर्ण दर्शन और विचार किया। जिसके लिए मार्क्स जीवन भर संघर्षों, कठिनाइयों, परेशानियों में भी लगे रहे। साम्यवाद के उस परिपूर्ण और व्यावहारिक सिद्धांतों को कार्य-रूप में परिणित किया लेनिन ने। इस तरह मार्क्स और लेनिन साम्यवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।

मैत्रेयी द्वारा महान् जीवनोद्देश्य वरण

याज्ञवल्क्य सन्यास लेने की दृष्टि से अपनी दोनों स्त्रियों को बुलाकर घर का सामान, धन बराबर बाँटने लगे। इसी बीच मैत्रेयी ने पूछा—“भगवन् ! आप इतना भरा-पूरा सुख-सुविधा सम्पन्न घर क्यों त्याग कर रहे हैं ?” याज्ञवल्क्य बोले—“मैत्रेयी मैंने जीवन के तीन आश्रम भली प्रकार विता दिये। अब शेष जीवन मैं आत्म साधनों और जनसेवा के महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगाऊँगा। हे मैत्रेयी—संसार के सभी कार्य व्यापारों के उपरान्त मनुष्य को जीवन के इन परमार्थिक कार्यक्रमों को नहीं भूलना चाहिए। ये सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।” याज्ञवल्क्य की बातें सुनकर मैत्रेयी ने कहा—“भगवन् जिस महान् ध्येय के लिए आप इन सुख-साधनों को महत्त्वपूर्ण नहीं समझते उन्हें मैं लेकर क्या करूँगी ?” “मैं भी आपके साथ रहकर इनके लिए प्रयत्न करूँगी।” और मैत्रेयी अपने पति के साथ रहकर आत्म-साधना के कार्यक्रमों में लग गई।

कर्म-साधना से ज्ञान प्राप्ति

हाथ में समिधाएँ लेकर शिष्य आचार्य के पास ज्ञान प्राप्त करने

के लिए गया। आचार्य ने उसका शिष्यत्व स्वीकार किया और उसको सौ गाय सौंप दी गई। उनकी संख्या जब पाँच सौ हो जाय तब ज्ञान की दीक्षा देने का समय तय हुआ। एक लम्बे समय का कार्यक्रम शिष्य को सौंप दिया गया। शिष्य बड़े सबेरे उठता, गायों की देख-भाल करता, उन्हें लेकर जङ्गल में जाता। दिनभर वहाँ चराता, शाम को आकर गुरु की सेवा में उपस्थित होता। समय पूरा होने को आया। योजना-नुसार गायों की संख्या पूरी हुई। एक दिन आचार्य ने शिष्य से कहा— 'वत्स ! तुम्हारे चेहरे पर अपूर्व तेज दिखाई दे रहा है, तुम्हें तो ज्ञान प्राप्त हुआ मालूम पड़ता है।' "ज्ञान तो गुरु से ही प्राप्त होता है वह तो आपकी कृपा से मिलेगा ही।" शिष्य ने कहा। गुरु ने पूछा—वत्स तुम्हारे चेहरे पर ज्ञान का तेज अभी दिखाई दे रहा है, वह तुम्हें किसने दिया ? इस पर शिष्य ने अपने गौ-सेवा साधना काल के अनुभव सुनाये जिसके अनुसार उसे अग्नि, बैल, पक्षियों से महत्वपूर्ण ज्ञान मिला। शिष्य के अनुभवों को सुनकर आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और उसे ज्ञान की दीक्षा दी। धरती के खुले वातावरण में, सक्रिय जीवन की सेवामयी साधना स्वतः ज्ञान के जिस पाठ को सिखा देती है, वस्तुतः वही व्यवहारवादी ज्ञान ही सार्थक होता है। केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही काम नहीं चल सकता।

शुभ कर्म में विलम्ब पर भीम का व्यंग

एक बार एक ब्राह्मण नं युधिष्ठिर के पास जाकर दान की याचना की। युधिष्ठिर राज्य-कार्यों में व्यस्त थे, इसलिये ब्राह्मण को दूसरे दिन आने को कह दिया। भीमसेन को यह बात अच्छी न लगी। उन्होंने सेवकों को बुलाकर सभी मङ्गलवाद्य बजाने की आज्ञा दी और स्वयम् भी दुन्दुभि बजाने लगे। वाद्यों की आवाज सुनकर युधिष्ठिर दौड़े आए, उन्होंने भीम से इसका कारण पूछा। भीमसेन ने कहा—“महाराज ! आपने काल जीत लिया है इस खुशी में यह कर रहे हैं। कल

ब्राह्मण को बुलाने का तात्पर्य यही है कि कल तक समय आपके वश में है ।” युधिष्ठिर ने अभिप्राय समझा और कहने लगे—सचमुच भीम ! अच्छे कार्यों में देर नहीं करनी चाहिये ।

त्रिशूल से पेट फाड़ा

हिरणाक्ष्य का बध हो गया पर वाराह भगवान् स्वर्ग न लौटे । चिन्तित देवताओं ने कारण जानने के लिये भगवान् शङ्कर को भेजा । वाराह भगवान् क्रीड़ा-विनोद में लगे थे, जाने कों तैयार न हुए । तब शङ्कर भगवान् ने त्रिशूल से उनका पेट फाड़ दिया । भगवान् जब स्वर्ग पहुँचे तो देवताओं ने देरी का कारण पूछा । भगवान् शङ्कर बोले—भौतिक देह के सुखों में ध्यासक्ति हो जाने के कारण भगवान् यहाँ आने को तैयार न थे । जीवात्मा सुखों में ध्यासक्ति के कारण ही अपना जीवन लक्ष्य भूल जाता है इसीलिए ज्ञानरूपी त्रिशूल द्वारा उसका मोह उदर विदारना पड़ता है । तब कहीं जीव-कल्याण रथ पर चलने को अग्रसर होता है ।

राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण का कार्य

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ शुरू होने को था । सबके लिये अपने-अपने काम बाँटे जा रहे थे । श्रीकृष्ण ने भी अपने लिये काम माँगा—लेकिन पाण्डवों ने कहा—“भगवन् ! आपके लिए तो हमारे पास कोई भी काम नहीं है ।” बहुत ज्यादा जोर देने पर उनसे कह दिया गया कि वे अपनी पसन्द का काम स्वयम् ढूँढ़ लें । सभी ने देखा कि श्रीकृष्ण यज्ञ में आदि से अन्त तक अतिथियों के चरण धोने, झूठी पत्तलें उठाने तथा सफाई रखने का काम स्वयं करते रहे । भगवान् ने कहा—यों कोई काम छोटा नहीं । पर बड़ों को छोटे काम भी करने चाहिए ताकि उनमें अहंकार की और छोटों में हीनता की भावना उत्पन्न न होने पावे ।

हताश उद्दालक कोशुक का उपदेश

निर्विकल्प समाधि की साधना में सफलता न मिली तो महर्षि

उद्दालक बड़े निराश हुए। असफल हो जाने की अपेक्षा मरना अच्छा है यह विचार कर वे निराहार रहकर शरीर सुखाने लगे। वृक्ष पर एक बोरुध नाम का तोता रहता था, उसने संतप्त और सजल नेत्रों से ऋषि की ओर देखकर कहा—भगवन् यह शरीर तो मरणधर्मा है ही, इसे यों सुखाने में पुरुषार्थ क्या हुआ? अमृतत्व की प्राप्ति का प्रयास ही तो मनुष्य का सच्चा पुरुषार्थ है। बार-बार प्रयत्न करने वाले और असफलताओं से खिन्न न होने वाले ही लक्ष्य प्राप्त करते हैं, क्या आपको यह विदित नहीं? शुक की बात महर्षि के हृदय में प्रवेश कर गई। अपने प्रयत्न फिर से प्रारम्भ कर दिये जिससे उन्हें निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त हो गई।

देवों को ऐश्वर्य रक्षार्थ समय की सीख

इन्द्र को अमुरों से अनेक बार परास्त होना पड़ा। भगवान् की विशेष सहायता से ही वे बड़ी कठिनाई के साथ अपना इन्द्रासन लोटाने में सफल हो सके। इस बार-बार की पराजय का कारण एक दिन प्रजापति से पूछा—तो उन्होंने कहा कि ऐश्वर्य की रक्षा संयम से होती है। जो वैभव पाकर प्रमाद में फँस जाते हैं उन्हें पराभव का मुख देखना पड़ता है और वे तुम विलासी देवताओं की तरह ठोकरें खाते रहते हैं। यह मानव शरीर अपरिमित ऐश्वर्य है जो इसका संयम पूर्वक सदुपयोग कर लेते हैं वे ही पराभव का मुँह देखने से बच पाते हैं।

कर्म साधना से ज्ञान, तापस का गवं खंडन

नरोत्तम पेड़ के नीचे बैठा आराम कर रहा था कि ऊपर से पक्षी ने उस पर बीट कर दी। क्रोध से उसने ऊपर देखा तो चिड़िया जलकर भस्म हो गई। युवक को अपने तपबल का अहंकार हो गया। अपनी भूल को मिटाने के लिये उसने एक ग्रामीण के दरवाजे पर जाकर भोजन की याचना की। गृहस्वामिनी अपने पति की सेवा कर रही थी। थोड़ी देर रुकने को कहा तो नरोत्तम को बड़ा क्रोध आया। स्त्री बात

समझ गई और बोली—महात्मा जी, में चिड़िया नहीं हूँ जो जलकर भस्म हो जाऊँगी। मैंने भी तुलाधार से योग विद्या सीखी है। नरोत्तम तुलाधार के पास पहुँचा। तुलाधार ने जाते ही उसका अभिप्राय और पिछली घटनायें सुना दीं। आश्चर्य करने पर नरोत्तम को शिवाक चाण्डाल के पास जाने को कहा। नरोत्तम चाण्डाल के पास गया तो उसने भी पहले की सारी बातें बिना पूछे बता दीं। महात्मा जी ने पूछा आप लोगों ने किस साधना विधि से यह योग विद्या पाई है? चाण्डाल बोला—अपने कर्त्तव्य को भगवान् की आज्ञा मानकर पूरा करना यही सबसे बड़ी साधना इसी का फल मुझे मिला है।

भावी जीवन की पूर्व तैयारी

एक देश में ऐसी प्रथा थी कि जिस व्यक्ति को राजा बनाया जाता था उसे ५ वर्ष शासन करने के बाद निर्जन द्वीप में अकेला छोड़ दिया जाता था। बहुत से शासक इस नियम के अनुसार अपना अन्तिम जीवन कष्ट के साथ नष्ट कर चुके थे। इस बार सिंहासन खाली पड़ा हुआ था। भावी कष्टों की कल्पना करके कोई राजा बनने के लिये तय्यार नहीं था। एक बुद्धिमान मनुष्य ने इस पर विचार किया और शासक बनने के लिये अपना नाम घोषित किया। राजा बनने के तुरन्त बाद ही उसने शासन चलाने के साथ-साथ उक्त निर्जन द्वीप को आबाद करना शुरू किया। वहाँ महल, मन्दिर, खाने-पीने आदि की सभी सुविधायें जुटा दीं। पाँच साल में उस द्वीप को अपनी राजधानी के समान बना लिया। जब निर्वासित होने का समय आया तो राजधानी जैसे द्वीप में जाकर पहले की तरह सुखी जीवन बिताने लगा।

कथा का लाभ श्रोता वक्ता को उत्कृष्ट भावना से

सेठजी ने पूरी भागवत की कथा सुन ली पर मोक्ष के कोई लक्षण दिखाई न दिये। पण्डित जी से शङ्का व्यक्त की। पण्डित जी को लोभ आ गया। बोले कलियुग में चौथाई फल मिलता है, इसलिये चार बार

कथा सुनो तो पूरा फल मिलेगा। सेठ जी ने वैसा ही किया, फिर भी कोई अच्छेपरिणाम नजर न आये, फलस्वरूप पण्डित जी से झगड़ा करने लगे। समझौते के लिये एक उच्चकोटि के महात्मा बुलाये गये। महात्मा जी ने बताया शुकदेव ने परमार्थ भाव से कथा कही थी और परीक्षित ने उसे आत्म-कल्याण के लिये वीतराग होकर सुना था, इसलिये उन्हें मोक्ष मिला। पर यहाँ पण्डित जी ने लोभ के वशीभूत होकर कथा कही और थोड़े खर्च में मुक्ति खरीदने के लोभ से सेठ जी ने सुनी, अतः उद्देश्य कैसे पूरा होता? आत्म-कल्याण के लिए बाह्य कर्मदण्ड ही नहीं भावनायें भी होना चाहिए, यह कहकर महात्मा जी विदा हो गये।

“अज्ञानी ! चन्दन का कोयला मत बना !”

एक राजा वन भ्रमण करते समय रास्ता भूल गया। रात हो गई तो एक ग्रामीण ने उदारपूर्वक उनका आतिथ्य किया। चलते समय प्रसन्न होकर वे उसे एक चन्दन का बाग दे गये। ग्रामीण को चन्दन की उपयोगिता ज्ञात न थी निदान चन्दन की लकड़ियाँ काट-काटकर और उनका कोयला बना-बनाकर बेचने लगा। एक पेड़ बचा। उस दिन वर्षा के कारण कोयला नहीं बन सका तो वह लकड़ी लेकर ही शहर पहुँचा। आज उसे काफी दाम मिले तो चन्दन की उपयोगिता का उसे पता चला। इस पर वह बड़ा रोया और पछताया। पर अब क्या हो सकता था? वन तो कट चुका था मनुष्य जीवन का भी जो दुरुपयोग करते हैं उन्हें भी इसी प्रकार अन्त में पछताना ही पड़ता है।

मूर्ख और अच्छे के मोह में संवंधा वञ्चित

दो मित्र एक आम के बगीचे के पास से गुजरे। पके हुए सुन्दर आम देखकर उनका जी ललचाने लगा। माली उधर से निकला तो उसने बताया कि मालिक के आदेशानुसार तुम शाम तक जितने आम चाहों, खा सकते हो। रात में यहाँ कोई नहीं ठहर सकता। दोनों प्रसन्नतापूर्वक बाग में घुस गये। एक पेड़ पर चढ़ गया और शाम तक खूब

पेट भर आम खाये । दूसरा केवल मीठों की ही खोज करने में लगा रहा और शाम हो गई । दोनों बाहर निकल गये । माली बोला—भाई, यह संसार ऐसा ही है । इसमें जो सत्कर्मों का लाभ लेले वही बुद्धिमान है । जो मोह, ममता के प्रपंच में पड़ा रहता है वह खाली हाथ ही विदा होता है ।

लक्षाधीश गरीब

एक आदमी प्रतिदिन एक महात्माजी के पास जाकर कहता—भगवन् ! मुझे परमात्मा ने धन नहीं दिया आपकी कृपा हो जाय तो मैं भी अपनी निर्धनता-दूर कर लूँ । महात्मा जी बोले—अपनी एक आँख बेच दे मैं दस हजार रुपया दूँगा । पर वह मनुष्य इसके लिये तैयार न हुआ । महात्मा ने क्रमशः हाथ, पाँव, नाक, कान आदि के भी दस-दस हजार रुपये लगाये पर मनुष्य राजी न हुआ । महात्मा बोला—भाई ! एक लाख से अधिक का तो तुम्हारा शरीर ही है, इसी पूँजी को लगा दे । अर्थात् परिश्रम करो तो तुम्हारी निर्धनता जरूर दूर हो सकती है ।

अधिक लोभ से अधिक हानि

पारस तो मिल गया । अब वह व्यक्ति लोहे की तलाश में शहर पहुँचा । पर वह था बड़ा कंजूस, सस्ते लोहे की दुकान तलाश करने लगा । उस शहर में नहीं मिला तो दूसरे शहर दौड़ा । इसी दौड़ धूप में सारा समय गुजर गया और वह रत्ती भर भी सोना न बना सका । सातवें दिन महात्मा ने मणि वापस ले ली । अधिक लालसा और लिप्सा में समय लगाते रहने वाला अधिक घाटे में रहता है और जो प्रस्तुत साधनों का सदुपयोग करता है वह लाभान्वित होता है ।

ऋतधन अपङ्गो को अनुदान व्यर्थ

एक बार पाँच असमर्थ और अपङ्ग इकट्ठे हुए । अन्धा बोला—मेरी आँखें होतीं तो जो कुछ अनुपयुक्त दिखाई देता उसे ठीक करता । लँगड़ा बोला—मैं तो दौड़-दौड़कर लोगों की भलाई करता । निबल

बोले— मेरे पास बल होता तो दीन दुःखियों की सेवा करता । निर्धन ने कहा—मैं धनी होता तो किसी को भूखा न रहने देता । मूर्ख बोला— मैं पण्डित होता तो लोगों को सच्चा ज्ञान देता । वरुणदेव ने उनकी बातें सुनीं तो दया आ गई । उनकी इच्छायें उन्होंने पूरी कर दीं । पर अंबे तो अन्धा सौन्दर्य दर्शन में ही लीन रहने लगा । लँगड़ा सैर-सपाटे के लिए निकल पड़ा । निर्धन धन के नशे में डूब गया । निर्बल दूसरों को सताने लगा और मूर्ख अपनी ही शेखी वधारने लगा । वरुणदेव ने यह देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ । अपनी शक्तियाँ छीन लीं । इस पर पाँचों फिर पछताने लगे कि प्राप्त अवसर को यों ही खो दिया । माता के उदर में पड़ा जीव एक प्रकार से अन्धा, अपाहिज ही होता है, ईश्वर उसे कृपा पूर्वक सब अवसर देते हैं । पर वह अभागा उनका दुरुपयोग करते हुए ही सारा जीवन बिता देता है और अन्त में फिर अन्धतामिष में लाखों वर्षों तक पड़ा रहने के लिए विवश होता है ।

मनुष्य श्रेष्ठ या निकृष्ट, अपने कर्मों से

एक सभा में वाद-विवाद चल रहा था । एक पक्ष कहता था कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है क्योंकि वह सभी जीवधारियों को वश में कर लेता है । दूसरा पक्ष कहता था कि मनुष्य कुत्ते से भी गया बीता है क्योंकि इसमें असंयम की प्रवृत्ति है । निर्णय न निकल रहा था । विवाद बढ़ता ही जाता था । एक ज्ञानी उधर से जा रहे थे, सर्व सम्मति से उनकी सम्मति लेना तय हुआ । ज्ञानी ने दोनों पक्षों की बात सुनीं और बोले— भाई, मनुष्य जब तक सत्कर्म करता है तब तक वह सर्वश्रेष्ठ है किन्तु जब दह दुष्कर्म करने लगता है तभी वह नीच बन जाता है । उनके उत्तर से दोनों पक्ष सन्तुष्ट हो गये ।

अन्धे की लापरवाही

एक अन्धे व्यक्ति को किसी अपराध में आजीवन कारावास का दण्ड मिला । वह जेल में बन्द रहने लगा । एक दिन राजा जेल का



निरीक्षण करने गया। अन्धे ने अपनी व्यथा सुनाई और प्रार्थना की कि जेल से छुटकारे का यदि कोई मार्ग निकल सके तो बड़ा अनुग्रह हो।

न्याय और कानून की मर्यादाओं को राजा तोड़ना न चाहता था। इसलिये उसे छोड़ा तो नहीं गया पर इतना इशारा जेल कर्मचारियों को कर दिया कि यह अन्धा यदि फाटक से निकलना चाहे तो रोक-थाम न करें। अन्धे को इस सुविधा से बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जेल की दीवार टटोलते हुए दरवाजे पर पहुँचने का प्रयत्न करने लगा।

दुर्भाग्य से अन्धे के सिर में गंज का रोग था। जैसे ही फाटक के समीप वह पहुँचा वैसे ही वहाँ की ठण्डी हवा के स्पर्श से सिर की गंज खुजाने लगी। उसने दीवार छोड़ दी और दोनों हाथों से सिर खुजलाने लगा। साथ ही पैरों से चलता भी रहा। इसी बीच फाटक निकल गया और उस लम्बे जेलखाने की दीवारों का एक घेरा फिर लगाने के लिए विवश होना पड़ा। उस अन्धे की तरह ही हम जीवन मुक्ति के उस अवसर को खो देते हैं और मनुष्य जन्म शरीरयात्रा के निर्वाह मात्र में बर्बाद हो जाता है।

आत्मा को न भूलें

एक बार एक सेठ के घर आग लग गई। सेठ के कहने से लोग कीमती सामान, धन आदि तो निकालने लगे पर सेठ के बच्चे की ओर किसी का ध्यान न गया। जब सारा सामान निकल आया तब सेठ ने बच्चे की याद की पर तब तक तो वह जल चुका था। सेठ छाती पीठ-पीटकर रोने लगा कि धन का अधिकारी तो मर ही गया। इस घटना का उल्लेख करते हुए सन्त ने कहा कि—शिष्य ! इसी तरह संसार के लोग दुनियावी सुखों के फेर में आत्मा को भूल जाते हैं।

जीवन को सूर्यकान्त मणि जैसा मानें

महाप्राज्ञ का जब अन्तकाल निकट आया तो उसने अत्यन्त प्रयत्न के द्वारा प्राप्त 'सूर्यकान्त मणि' अपने पुत्र सौमनस को दी और

कहा—यह कामधेनु के समान मनोवाँछा प्रदान करने वाली है। इसको सँभाल कर रखना। इससे तुम्हारी सब आवश्यकताएँ सहज में ही पूर्ण हो सकेंगी और तुम्हें कभी किसी चीज का अभाव नहीं हो सकेगा।

सौमनस ने मणि तो ले ली पर पिता के उपदेशों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। रात्रि के समय दीपक के स्थान पर वह उसका उपयोग करने लगा। एक दिन उसकी प्रेयसी वेश्या ने उपहार में वह मणि माँगी और सौमनस ने उसे बिना किसी संकोच के दे डाला।

वेश्या ने कुछ समय बाद एक जौहरी के हाथ उसे बेच दिया और उस धन से शृङ्गार की सामग्री खरीद ली। जौहरी ने मणि की परीक्षा की और रासायनिक प्रयोगों द्वारा उसकी सहायता से बहुत-सा सोना बना लिया। इससे वह बड़ा वैभवशाली बन गया और अपना जीवन राजा-महाराजाओं की तरह व्यतीत करने लगा। अनेक दीन-दुःखियों की भी उसने उस स्वर्ण राशि से बहुत सहायता की।

आनन्द ने अपने शिष्य विद्रुथ को यह कथा सुनाते हुए कहा—वत्स ! यह जीवन सूर्यकान्त मणि के समान है। इसका सदुपयोग करना कोई-कोई पारखी जौहरी ही जानते हैं, अन्यथा सौमनस और गणिका की तरह उसे कौड़ी मोल गंवा देने वाले ही अधिक होते हैं।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानन्द ने देखा कि भारत में साधुओं का काम केवल उपदेश देना और अकर्मण्य जीवन बिताना है इससे न उनका भला होता है न देश का। उल्टे इससे अकर्मण्य और आलसियों की संख्या बढ़ती है। किसी उपयोगी काम में साधुओं को लगाने का स्वामी जी ने विचार किया रामकृष्ण मिशन के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द ने साधुओं के समक्ष एक कार्यक्रम रखा जन-सेवा का। उक्त संस्था के अन्तर्गत आज बहुत बड़ी संख्या में साधु जन-सेवा के कार्य में लगे हुए हैं। बिना किसी व्यावहारिक कार्यक्रम के उपदेश, व्याख्यान मात्र से देश का भला नहीं

हो सकता। सेवा के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। भजन का पूरा लाभ उन्हें ही मिलता है जो जीवन-शोधन एवं परमार्थ का पुण्य प्रयत्न भी साथ-साथ जारी रखें। एकांगी भजन लक्ष्य तक पहुँचाने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। यह सोचकर स्वामी विवेकानन्द ने कर्मठ, लोक सेवी साधुओं की परम्परा स्थापित की और इसका सफल प्रयोग आज राम-कृष्ण परमहंस मिशन में सर्वत्र देख सकते हैं।

आदर्श सन्त विनोबा

अब तक साधु-सन्तों का अधिकतर कार्य एकान्तवास या भजन ही था। असामाजिक, निरुद्योगी जीवन बिताकर जनता पर भारभूत बने रहना और अपना समय बरबाद करना यही उनका क्रम रहा है। विनोबा भावे ने इस समाज विरोधी और अकर्मण्य जीवन की बुनियाद को मिटाया स्वयम् अपने आचरण द्वारा। वे एक दृष्टा, विचारक और सन्त भी हैं, लेकिन अपनी पदयात्रा, भूदान, सर्वोदय, शान्ति-सेना आदि विविध जन-सेवा के कार्यक्रमों को सम्मिलित कर सन्त कर्त्तव्यों का एक सराहनीय आदर्श उपस्थित किया है।

न्यायाधीश द्वारा पेशवा को दण्ड का निर्णय

पेशवाओं के जमाने में एक न्यायाधीश थे—रामशास्त्री प्रभुण। राघोवा ने अपने भतीजे का खून किया, जो पेशवा था। रामशास्त्री पेशवाओं के न्यायाधीश थे। उनकी तनख्वाह पाते थे। राघोवा पेशवा ने उन्हें अपने दरबार में बुलाया। पेशवा की पत्नी ने उससे पूछा कि पेशवा ने प्रत्यक्ष खून किया है, अब तुम क्या कहना चाहते हो? रामशास्त्री ने कहा कि न्यायासन पर बैठकर मैं एक ही चीज सीखा हूँ कि इस राज्य में जो कोई दूसरे का खून करेगा, उसे देहान्त प्रायश्चित्त करना चाहिए। रानी ने दुबारा, तिबारा वही सवाल पूछा और उन्होंने हर बार देहान्त प्रायश्चित्त की ही बात कही। रानी ने कहा कि क्या तुम जानते हो कि हम तुम्हारी जीभ काट सकते हैं, तुम्हारे शरीर की

बोटी-बोटी काट सकते हैं, तुम्हें काल-कोठरी में बन्द कर सकते हैं ? रामशास्त्री ने जवाब दिया कि प्राणों के मोह के कारण मेरे मुँह से न्याय विरुद्ध कोई कमजोरी का शब्द निकलने से पहले अच्छा होगा कि आप इस जीभ को कटवा लें ।

नानक की जीवन खेती

मेहता कालूराम अपने पुत्र नानक को खेती करने का आदेश देते हैं । नानक कहते हैं मैंने अपने लिए एक नई खेती बोई है और वह अच्छी उगी है । इस पर उनके पिता पूछते हैं-वह खेती कहां है, हमें दिखाओ । नानक उत्तर देते हैं इस शरीर रूपी खेत में सत्कर्मों का हल चलाकर परमात्मा के भजन रूपी बीज को मैंने बोया है । साधु सङ्गति का इसमें पानी देता रहता हूँ और सन्तोषरूपी खाद लगाता हूँ । बुराइयों रूपी झाड़-झंखाड़ को उखाड़ता हूँ । वह घर धन्य है जहाँ ऐसी खेती होती है ।

कबीर की गुरु दीक्षा

कबीरदासजी ने रामानन्दजी को अपना गुरु बनाने का निश्चय किया और वे उनके पास गये । लेकिन कबीर जुलाहे के पुत्र थे, अछूत जाति के थे । रामानन्द ने उन्हें दीक्षा देने से मना कर दिया । कबीर को एक तरकीब सूझी । वे आधी रात में जाकर गङ्गा के उस घाट की सीढ़ियों पर लेट गये जहाँ रामानन्द स्नान करने जाया करते थे । ब्रह्म मुहूर्त में नित्य की तरह रामानन्द स्नान कर साँढ़ियों पर चढ़ रहे थे कि उनका पैर मनुष्य देह पर पड़ा और वह कह उठे राम ! राम ! कबीरदासजी ने उठकर उन्हें प्रणाम किया और कहने लगे बस गुरुदेव ! मुझे आपसे दीक्षा मिल गई और उसी दिन से वे राम-नाम का स्मरण करने लगे ।

रामानन्दजी द्वारा दीक्षा देने से इनकार करने पर भी कबीर ने अपनी श्रद्धा के आधार पर उन्हें गुरु माना और अपनी साधना पूर्ण की । श्रद्धा की शक्ति का कोई पारावार नहीं ।

ईमानदारी और अनीति की कमाई

गुरु नानक के भोजन के लिए एक धनी के यहाँ से षट्स व्यंजनों का थाल आया। एक गरीब ने भी सूखी रोटी भेजी। गुरु अमीर का भोजन न खाकर गरीब का खाने लगे। शिष्यों ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने दोनों थालों की रोटियों को निचोड़कर दिखाया। एक में से दूध जैसी और एक में से खून जैसी धार निकली। गुरुदेव ने कहा— ईमानदारी और परिश्रम से कमाई गई रोटी अमृत तुल्य है और जिसे अनीति पूर्वक कमाया गया हो वह विष तुल्य है।

दुर्जन से सद्ब्यवहार अनिवार्य नहीं

एक दिन पण्डितजी की कथा सुनने एक डाकू भी आया। पण्डित जी समझा रहे थे “क्षमा और अहिंसा मनुष्य के भूषण हैं” इसका परित्याग न करना चाहिए। कथा समाप्त हुई। पण्डितजी दक्षिणा आदि लेकर गाँव की ओर चल पड़े। बीच में जंगल पड़ता था। वहाँ डाकू आ घमका और पण्डित जी को सारा धन रख देने के लिये कहा। पण्डितजी थे निडर, पास में लाठी थी सो प्रहार करने के लिये डाकू की ओर दौड़े। डाकू घबरा गया और विनयपूर्वक बोला—महाराज आप तो कह रहे थे कि क्षमा और अहिंसा मनुष्य के भूषण हैं इन्हें नहीं त्यागना चाहिए। पण्डितजी बोले वह तो सज्जनों के लिये था, तेरे जैसे दुष्टों के लिये तो यह लाठी ही उपयुक्त है। पण्डित जी का रौद्ररूप देखकर डाकू वहाँ से भाग गया।

लकड़हारे मन्त्री का धन

एक लकड़हारा अपनी योग्यता के कारण राजा का दोस्त बना और एक दिन वह राजमन्त्री पद तक जा पहुँचा। रिश्वत लेने वाले भ्रष्ट कर्मचारी उससे जला करते थे और तरह-तरह की शिकायतें राजा से किया करते थे। किसी ने यहाँ तक कहा कि उसके पास बहुत-सा धन

कोठरी वाली सन्दूक में रखा है। राजा को भी सन्देह होने लगा। एक दिन उसने उस सन्दूक को दिखाने के लिये कह दिया। पहले तो मन्त्री ने आपत्ति की पर राजा के हठ के आगे वह विवश हो गया। सन्दूक खोला गया उसमें थोड़े से मैले कुचैले वस्त्र रखे थे। राजा ने पूछा यह क्या है? मन्त्री ने बताया महाराज ये वह कपड़े हैं, जिन्हें मैं आपकी मित्रता के पहले पहना करता था। इन्हें सुरक्षित इसलिये रखा है कि मुझे अपनी पूर्व स्थिति की याद बनी रहे ताकि किसी तरह का अन्याय मुझसे न हो। पूर्व जन्मों में ८४ लाख योनियों में भ्रमण करते हुए हमें कितनी कठिन परिस्थितियों और कटु अनुभवों का सामना करना पड़ा था, इसका ध्यान रहे तो मनुष्य जन्म में इतराने की नौबत न आवे।

मनोबल का कल्पवृक्ष दुधारी तलवार

एक मनुष्य किसी गाँव को जा रहा था। धूप-ध्यास का मारा वह एक पेड़ के नीचे विश्राम करने को लेट गया। पेड़ की ठण्डी छाया में उसका मन बड़ा प्रसन्न हुआ। वह कल्पना करने लगा “काश ! यहाँ पीने के लिये पानी होता।” इतने में ही उसने देखा कि एक ठण्डे पानी का झरना फूट पड़ा। उसने पानी पिया ध्यास बुझाई। फिर उसने सोचा कुछ खाने को होता तो कैसा रहता। इतने में ही एक स्वादिष्ट पदार्थों से भरा हुआ थाल आ गया। उसने भोजन करके सोने के लिये शैया की कल्पना की तो एक पलङ्ग वस्त्र बिछा हुआ दिखाई दिया। इन सब घटना क्रमों से उसे भय हुआ कि कहीं यहाँ कोई मायावी राक्षस तो नहीं है। इतने में ही एक राक्षस सामने आ खड़ा हुआ। ‘यह मुझे खाने जाय’ इस विचार के साथ ही वह राक्षस उस यात्री को खा गया। वस्तुतः वह वृक्ष कल्पवृक्ष था जो मन की इच्छा के अनुसार फल देता था। मनुष्य का सङ्कल्प एवं मनोबल एक प्रकार से कल्पवृक्ष ही है। उसका सदुपयोग करने वाला जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का अभीष्ट उद्देश्य पूर्ण कर सकता है।

ज्ञान का व्यवहार में समावेश

“भाई क्या पढ़ रहे हो ?” एक आदमी ने दुकानदार से पूछा । वह बड़ा झुंझलाया, बोला—तुम्हारे जैसे मूर्ख भला इस ग्रन्थ को क्या समझेंगे ? वह आदमी बोला—लगता है ज्योतिष पढ़ रहे हो तभी तो यह जान गये कि मैं मूर्ख हूँ । “नहीं, मैं व्यवहार शास्त्र पढ़ रहा हूँ ।” दुकानदार बोला । उस आदमी ने व्यंग किया—तभी तुम्हारा व्यवहार इतना सुन्दर है । पास खड़े एक बुढ़े ने कहा—सच है बेटा, पढ़ने का लाभ तभी है जब उसे व्यवहार में भी लाया जाय ।

पूर्णता हेतु ज्ञान कर्म का सहयोग

“कर्म और भावना में कौन बड़ा है ?” इसके लिये झगड़ा हो गया । निपटारे के लिये दोनों ब्रह्माजी के पास गये । ब्रह्माजी बोले—जो आकाश को छूले वही बड़ा है । भावना ने छलाँग लगाई तो आकाश में पहुँच गई पर नीचे न उतर पाई वहीं लटकी रह गई । कर्म ने सीढ़ियाँ बनानी शुरू कीं, पर दोमहर तक ही थक गया । ब्रह्मा ने दोनों को दुबारा बुलाकर समझाया कि तुम्हारी पूर्णता साथ-साथ रहने में ही है, अकेले दोनों अधूरे हैं ।

सन्तुलित विकास ही अभिनन्दनीय है

सम्राट अशोक ने अपने जन्म दिवस के उत्सव के दिन घोषणा की कि “आज उस प्रान्तीय शासक को पुरस्कृत किया जायगा, जिसका गत वर्ष का शासन कार्य सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगा ।”

उत्तरीय प्रान्त के शासक ने कहा—“मैंने अपने प्रदेश की आय को पूर्वपेक्षा तिगुना कर दिया है ।” दक्षिण विभाग के शासनकर्त्ता ने बतलाया—“पहले वर्षों की अपेक्षा मैंने दुगुना सुवर्ण राज्यकोष में जमा करने को भेजा है ।” पूर्व वाले अधिकारी ने निवेदन किया—“मैंने अपने प्रदेश के उपद्रवकारियों का भली प्रकार से दमन करके वहाँ के शासन को सुदृढ़ बना दिया है ।” पश्चिम वाले कहने लगे—“मैं प्रजा से प्राप्त

होने वाले कर में वृद्धि की है, शासन व्यय को घटाया है और राजस्व को बढ़ाने की सब प्रकार से चेष्टा की है।”

अन्त में मध्य देश के अधिकारी ने उठकर कहा—“महाराज ! मैं तो राजस्व को बिलकुल नहीं बढ़ा सका, वरन् गत वर्ष पहले की अपेक्षा बचत कम रही है। पर इस बीच में प्रजा की सुविधा के लिये अनेक चिकित्सालय, धर्मशालायें, विद्यालय, जलाशय आदि का निर्माण कराया गया है और कुछ कष्टदायक करों को भी कम कर दिया गया है।”

अशोक ने अन्तिम शासनाधिकारी के वक्तव्य से प्रसन्न होकर उसे पुरस्कृत किया और अन्य लोगों को समझाया कि केवल आय को बढ़ाने का ध्यान रखना ही पर्याप्त नहीं है। प्रजा के सुख-समृद्धि की वृद्धि करना शासनकर्ता का सर्व प्रथम कर्त्तव्य है। इसी मार्ग का अनुसरण करने से हमारा राज स्थायी हो सकता है।

“ज्ञानी जी तैराकी भी सीखो”

अकेले पण्डितजी को लेकर मल्लाह नाव छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ। पण्डितजी बोले अतिरिक्त मजदूरी में तुम्हें दो सुन्दर उपदेश दूँगा। मल्लाह राजी हो गया। नाव चलने लगी तो ब्राह्मण ने पूछा—“कुछ उपासना भी करते हो?” नाविक ने उत्तर दिया नहीं महाराज?” फिर पूछा—“कुछ पढ़े-लिखे हो।” नहीं महाराज, मल्लाह ने वैसा ही जवाब दिया। पण्डितजी बोले, “फिर तो आपका दो तिहाई जीवन बेकार चला गया।” इसी बीच नाव एक चट्टान से टकराकर टूट गई। पण्डितजी डूबने लगे। मल्लाह बोला महाराज ! तैरना जानते हो? पण्डितजी बोले—नहीं। उन्हें बाहर निकालते हुए मल्लाह बोला तब तो आपका सारा जीवन बेकार चला गया होता। इसलिये दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ कुछ व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त कीजिये।

×

×

×

अग्रतः चतुरो वेदा पृष्ठतः सशरं धनु ।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रादपि शरादपि ॥

आगे चारों वेद अर्थात् ज्ञान और पीछे बाण सहित धनुष से सफलता प्राप्त होती है । एक ज्ञानबल दूसरा शस्त्रबल दोनों के समन्वय अर्थात् ज्ञान और कर्म के संयोग से सफलता सम्भव होती है ।

कर्मणा रहित ज्ञानं षड्गुना सदृशं भवेत् ।
न तेन प्राप्यते किञ्चित् न च किञ्चित्प्रसाध्यते ॥
एवं ज्ञानेन हीनं यत् कर्मान्धेन सम स्मृतम् ।
मार्गो वा मार्गलक्ष्यं वा नैव तस्य प्रतीयते ॥
कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं कर्म कुर्वतः ।
तस्मादेवेषुसंसिद्धिश्चतुरस्त्रा प्रजायते ।

कर्म से रहित ज्ञान एक पंगु के समान होता है । उससे न तो कोई वस्तु प्राप्त की जा सकती है, न कोई कार्य सिद्ध किया जा सकता है ।

इसी तरह ज्ञान से रहित कर्म को एक अन्धे के सदृश समझना चाहिए । उसको मार्ग अथवा मार्ग का लक्ष्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता ।

इसीलिये ठीक-ठीक इष्ट की प्राप्ति उसी मनुष्य को होती है जो मन, वाणी और कर्म से अपने कर्त्तव्य-कर्म को करता है । अर्थात् ज्ञान-पुरस्सर कर्म से ही इष्ट की सिद्ध होती है ।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सान्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

यह शरीर अनित्य है, नष्ट होने वाले हैं, और यह धन-दौलत,

ऐश्वर्य भी सदा रहने वाले नहीं हैं और मृत्यु अवश्यम्भावी है, सदा निकट रहती है, यह विचार कर धर्म का संग्रह करना चाहिए ।

अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियोऽपि न भविष्यति ।

अहं च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति ॥

इस संसार में अप्रिय लगने वाले मनुष्य एवं पदार्थ नहीं रहेंगे और जो परम प्रिय लगने वाले हैं वे भी कुछ समय के पश्चात् न रहेंगे । मैं भी एक दिन यहाँ नहीं रहूँगा । यहाँ यह जो सब कुछ दिखाई देता है वह कुछ भी न रहेगा । तात्पर्य यह है कि संसार की सभी वस्तु नश्वर हैं ।

शास्त्रात्संगाच्च महतां प्रेरणां लभते नरः ।

कुर्यात्तां तु कार्यरूपां लाभस्तदैव जीवने ॥

शास्त्र एवं सद्गुणों के अध्ययन करने से और महान् पुरुषों के साथ संगति करने से मनुष्य को सत्कर्म की प्रेरणा अवश्य प्राप्त होती है किन्तु उसको कार्य रूप में परिणित कर अमल में लाने से ही इस जीवन में सच्चा एवं वास्तविक लाभ होता है ।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तोह यमालयम् ।

शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

इस लोक में प्रतिदिन ही प्राणी यमालय को चले जाते हैं किन्तु शेष लोग स्थिरता चाहते हैं इससे बड़ा और क्या आश्चर्य हो सकता है ?

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा त्वे पक्षिणां गति ।

तथैव ज्ञान कर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥

जिस प्रकार पक्षी अपने दोनों परों की सहायता से आकाश में पहुँचता है । उसी प्रकार मनुष्य ज्ञान कर्म के संयोजन से परम-पद पर पहुँच सकता है ।

आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः ।

स चेन्निरर्थकं नीतः का नु हानिस्ततोऽधिका ॥

जीवन बड़ी अमूल्य वस्तु है, इसका एक क्षण भी करोड़ों स्वर्ण-मुद्रा देने पर भी नहीं मिल सकता । ऐसा जीवन का अमूल्य क्षण व्यर्थ ही नष्ट हो जाय तो इससे बड़ी और क्या हानि हो सकती है ?

जग-रूठे-डर कारने, उचित कहत सकुचात ।

ते नर कायर जगत में, करें आपु उर घात ॥

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लोय ।

कथनी तजि करनी करै, विष से अमृत होय ॥

बिना ज्ञान कौ करम कहूँ, तारि सकै संसार ।

कहा काट करिहौ जु कर, धार बिना तरबार ॥

भजन और उपकार कर, एक साथ चितलाय ।

नापित धरि धरि धार जिमि, बार बनावत जाय ॥

कबीर सो धन संचिये, जो आगे को होय ।

शीश चढ़ाये पोटली, जात न देखा कोय ॥

कालि करन्ता आज कर, आज करै सो हाल ।

पीछे कछु न होयगौ, जो सिर आबै काल ॥

कबीर धूलि समेट कर, पुड़ी जु बाँधी एह ।

दिवस चारि का पेखना, अन्त खेह ही खेह ॥

मानुष जन्म अमोल है, होय न दूजी बार ।

पक्का फल जो गिर पड़ा, लगे न दूजी बार ॥

दस द्वारे का पींजरा, ता में पंछी मोन ।
 रहे को अचरज होत है, गये अचम्भा कौन ॥
 तन मन धन दै कीजिये, निशदिन पर उपकार ।
 यही सार नर देह में, वाद विवाद विकार ॥
 तुलसी या जग आय कै, पांच रतन हैं सार ।
 संत मिलन अरु हरि भजन, दया दीन उपकार ॥
 सूरु के तो सिर नहीं, दाता के धन नाहि ।
 पतिवरता के तन नहीं, सुरति बसें पिय माँहि ॥
 कबिरा गर्व न कीजिये, अस जीवन की आस ।
 टेसू फूलै दिवस, दस, खंखर भया पलास ॥
 जब तुम जग में आये तब, जग हँसमुख तुम रोय ।
 ऐसी करनी कर चलो, तुम हँसमुख जग रोय ॥
 त्राण प्राण का ना हुआ, किया न निज कल्याण ।
 तुलसी सो या जगत में, जीवित ही म्रियमाण ॥

किष्किन्धाकाण्ड के अन्तर्गत भगवान् राम पति-विग्रोह में दुःखी तारा को समझाते हुए कहते हैं—

छिति जल पावक गगन समीरा ।
 पंच रहित अति अधम सरीरा ॥
 प्रगट सो तनु तब आगें सोवा ।
 जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥

उपजा ग्यान चरन तब लागी ।
लोन्हेसि परम भगति बर मांगी ॥

किष्किन्धाकाण्ड में बालि को मारने की प्रतिज्ञा करने पर सुग्रीव
श्री रामचन्द्रजी से कह रहे हैं—

उपजा ग्यान वचन तब बोला ।
नाथ कृपाँ मन भइउ अडोला ॥
सुख सम्पति परिवार बड़ाई ।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥
येह सब राम भगति के बाधक ।
कहहिं संत तव पद अवराधक ॥
शत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं ।
मायाकृत परमारथ नाहीं ॥

उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत राजा श्री रामचन्द्रजी ने अपनी प्रजा
को बुलाकर निम्न उपदेश दिए—

एक बार रघुनाथ बोलाए ।
गुरु द्विज पुरवासी सब आए ॥
बैठे गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन ।
बोले बचन भगत भव भंजन ॥
सुनहु सकल पुरजन मम वानी ।
कहउँ न कहु ममता उर आनी ॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई ।
सुनहु करहु जो तुमहि सोहाई ॥



सोइ सेवक प्रियतम सम सोई ।
 मम अनुसासन मानै जोई ॥
 जौं अनीति कहु भाषौं भाई ।
 तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥
 बड़ें भाग मानुष तन पावा ।
 सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
 साधन धाम मोच्छ कर द्वारा ।
 पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥

दोहा-सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताइ ।
 कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोस लगाई ॥

एहि तन कर फल विषय न भाई ।
 स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥
 नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं ।
 पलट सुधा ते सठ विष लेहीं ॥
 ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई ।
 गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई ॥
 आकर चारि लच्छ चौरासी ।
 जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥
 फिरत सदा माया कर प्रेरा ।
 काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥



कबहुँक करि करुना नर देही ।
 देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥
 • नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो ।
 सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
 करनधार सदगुर दृढ़ नावा ।
 दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥
 दोहा-जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाई ।
 सो कृत निदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत काकभुसुण्डिजी गरुड़ से कह रहे हैं—

नर तन सम नहि कवनिउ देही ।
 जीव चराचर जाचत तेही ॥
 नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी ।
 ग्यान बिराग भगति सुभ देनी ॥
 सो तनु धरि हरि भर्जहि न जे नर ।
 होहि बिषय रत मंद मंदतर ॥
 कांच किरिच बदलें ते लेहीं ।
 कर ते डारि परस मनि देहीं ॥
 नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं ।
 सन्त मिलन समसुख जग नाहीं ॥

लङ्काकाण्ड के अन्तर्गत जब विभीषण ने श्रीराम के रथ रहित होने पर चिन्ता प्रकट की तब श्रीराम विभीषण से कह रहे हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना ।
 जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ॥
 सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।
 सत्य सोल दृढ़ ध्वजा पताका ॥
 बल बिवेक दम परहित घोरे ।
 क्षमा कृपा समता रजु जोरे ॥
 ईस भजनु सारथी सुजाना ।
 बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
 दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा ।
 बर बिग्यान कठिन कोदण्डा ॥
 अमल अचल मन त्रोन समाना ।
 सम निज नियम सिलीमुख नाना ॥
 कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा ।
 एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥
 सखा धर्ममय अस रथ जाकें ।
 जीतनु क न कहूँ तहुँ रिपु ताकें ॥

दोहा-महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर ।

जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ॥

॥ वारहवां प्रवचन समाप्त ॥

—०२०४—

मुद्रक—बंसल प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा ।



: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :



ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें :
http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिसंस्कृत और ऊँचा उठाने में समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शुरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्होंने ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड् दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वीं प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।

- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्होंने ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरस्कृत है" ।
- **'२१ वीं सदी : उज्ज्वल भविष्य' के उद्घोषक** : जिन्होंने ने '२१ वीं सदी : उज्ज्वल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सेनानी** : जिन्होंने ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रूप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्होंने ने गायत्री और यज्ञ को रुढ़ियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षों में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्होंने ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोड़ों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्होंने ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढ़ियों की समाप्ति हेतु अद्भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरूप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्होंने ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने ने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोड़ों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार, समाज, राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।